पूर्वी उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान साम्प्रदायिकता का विकास

(1890–1947)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
की डी.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

पर्यवेक्षक
डॉ. ललित जोशी
रीडर, इतिहास विभाग

प्रस्तुतकर्ता
अनिल कुमार सिंह
शोध छात्र (एस आर एफ), इतिहास विभाग

मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
2001

पुरोवाक्

धर्मनिरपेक्षता के छद्म आवरण से आवेष्ठित, इतिहास एवं राष्ट्रवाद के अनगढ़ तथ्यों एवं तर्को से सपोषित, साम्प्रदायिकता एक ऐसी विचारधारा है, जिसके समर्थक भी साम्प्रदायिक संज्ञा से सम्बोधित होना पसन्द नहीं करते। यही कारण है कि साम्प्रदायिकता के स्रोतों तथा इसकी सामाजिक स्वीकारोक्ति के सन्दर्भ सूत्रो की खोज करना एक जटिल प्रक्रिया हो जाती है। सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान इसका अस्तित्व बना रहा तथा इससे राजनीतिक सूत्रो का संचालन होता रहा, किन्तु खुद इसका प्रयोग करने वाले परस्पर ऐसा न करने का दावा भी करते रहे क्योंकि उनके पास परम्परा एवं अतीत से जुटाये गये अपने तर्क थे। जिसके अनुसार वे अपनी समझ से स्थितियों का सही संचालन कर रहे थे। जो प्रवृत्ति आज भी दृष्टिगत होती है।

ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिकता जैसे विषय पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करना एक दुष्कर कार्य था, किन्तु इस विषय पर शोध करने की मेरी इच्छा ने इसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया। जबकि अभी समझ भी विकसित नहीं हुई थी, 1971 में मेरे गृह जनपद आजमगढ़ के फूलपुर कस्बे के समीपस्थ कुछ गॉवो में हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच शिव मन्दिर के जीर्णोद्धार के मुद्दे पर तनाव उत्पन्न हुआ, यद्यपि कि छिट–पुट लूट–पाट की घटनाओं के अलावा कोई हिंसक वारदात नही हुई और प्रशासनिक सक्षमता से अल्प समय में ही इस पर नियंत्रण स्थापित कर लिया गया, किन्तु बड़े लोगों द्वारा इस घटना का उल्लेख दंगे के रूप में किया जाता था। स्वाभाविक था जैसे–जैसे समझ विकसित होती गयी इस शब्द का अर्थ स्पष्ट होता गया और जब अकादमिक सोपानों की यात्रा परास्नातक पर समाप्त हुई और शोध विषय चुनने का प्रश्न आया तो बचपन की यह स्मृति विषय चुनने में मेरी सहायक बनी।

शोध विषय के निर्धारण के बाद परम्परागत स्रोतों के अध्ययन क्रम में यह धारणा बलवती होती गयी कि इसके लिये कुछ नये सन्दर्भ सूत्रों की तलाश की जाय। ऐसी स्थिति में साहित्य में रुचि होने के कारण झुकाव उधर भी बढ़ता गया तथा इसे स्रोत के रूप में स्वीकार करने की इच्छा भी बलवती होती गयी। मेरी समझ में साहित्य भी इतिहास को पुष्ट करने का साधन है, क्योंकि यह प्रबुद्ध समुदाय द्वारा समकालीन समाज को अपने तरीके से देखने तथा उसे समस्या मुक्त करने की कोशिश भी है। यह और बात है कि साहित्य

की अपनी धारणायें एवं मानदण्ड होते हैं तथा परिवेशगत दबाव रचना निर्माण मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

साहित्य इसलिये भी उपयोगी है कि इससे किसी समाज के विश्वास, विचार, परम्पराओं एवं लक्ष्यों का स्पष्ट निदर्शन भी होता है तथा यह सामाजिक दर्शन आधारभूत सांगठनिक प्रणाली, पद्धतियों एवं तथ्यों को घटनाओं एवं चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही देशकाल एवं परिवेश में विचार कर्म, और अनुभूति को नायकों, प्रतिनायकों एवं घटनाओं के माध्यम से प्रकट कर प्रामाणिक दस्तावेज के रूप में स्थापित होता है। इसलिए इतिहास केवल राजनीतिक घटनाओं का लेखा–जोखा न बन जाये, इससे बचाने के लिए साहित्य एक उपयोगी स्रोत हो जाता है जब कि उसकी तथ्यात्मक पुष्टि अन्य स्रोतों से कर ली जाय।

इसी दृष्टि से इसका उपयोग शोध प्रबन्ध में किया गया है। अब जबकि शोध प्रबन्ध पूर्णता प्राप्त कर चुका है यह मेरे लिये सपनों के पूरा होने जैसा है। शोध कार्य की पूर्णता में श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ. ललित जोशी ने हर दृष्टि से महती भूमिका निभायी। बिना उनके इस शोध-सिन्धु का संतरण मेरे लिये संभव नही था। परास्नातक छात्र के रूप में प्रथम साक्षात्कार के समय से ही उनका व्यक्तित्व मुझे प्रेरणा देता रहा। शोध अवधि के दौरान उन्होंने विषय के सन्दर्भ में मेरी अन्तर्दृष्टि विकसित की तथा बराबर उत्साहवर्द्धन करते रहे। श्रद्धेय गुरूजी के प्रति आभार प्रकट करना धृष्टता होगी। मैं अपने विभागाध्यक्ष प्रो. एन.आर. फारूकी के प्रति आभारी हूँ क्योंकि शोध अवधि के दौरान मुझे उनसे बार–बार कार्य करते रहने की प्रेरणा मिली। विभाग के अन्य गुरुओं प्रो. वी.सी.पाण्डेय, प्रो. सुशील श्रीवास्तव, डॉ. रीता जोशी, डॉ. पी.एल. विश्वकर्मा, डॉ. हेरम्ब चतुर्वेदी, श्रीमती रंजना कक्कड़, डॉ. कल्पना द्विवेदी, डॉ. वन्दिता वर्मा एवं डॉ. संजय श्रीवास्तव से मुझे जो सहयोग एवं मार्गदर्शन मिला मैं इसके लिए उनका आभारी हूँ।

मैं आदरणीय गुरुदेव श्री योगेश्वर तिवारी, जिन्होंने शोध कार्य के दौरान आये अवसाद के क्षणों से न केवल मुक्ति दिलायी बल्कि बार–बार कर्म के प्रति जूझने की प्रेरणा भी देते रहे, के प्रति आभार प्रकट करके ऋण–मुक्त नहीं हो सकता। डॉ. मोहम्मद असलम एवं डॉ. वी.के. राय के साथ मुस्लिम राजनीति एवं साम्प्रदायिकता पर हुई बहस का मैं सार्थक उपयोग कर सका हूँ। डॉ. राम मिलन सिंह, श्री सूर्य नारायण सिंह, एवं डॉ. शैलेश उपाध्याय से हिन्दी साहित्य एवं साहित्यकारों की भूमिका को लेकर हुई चर्चा से मैं लाभान्वित हुआ, इन सभी के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

ममतामयी माँ एवं परम पूज्य पिता श्री सत्य नारायण सिंह के आशीर्वाद से ही शोध कार्य पूर्ण हो सका है, उन्होंने मुझे सदैव आशावाद के मूलमन्त्र एव कर्तव्य पथ पर डटे रहने की प्रेरणा दी। मैं अपने पितृव्य श्री हरिनारायण सिह के सतत् संरक्षण एवं निर्देशन में अपने पथ, पाथेय और पथ की दिशा निश्चित कर सका, साथ ही उनके व्यक्तित्व से मुझे 'न दैन्यं न पलायनम्' की सीख मिली। पितृव्य श्री शिवमूर्ति सिंह की बार–बार की पूछ–ताछ मेरे लिये नयी ऊर्जा का संचार करता रहा। यह इन्ही लोगों के आशीर्वाद का सुफल है कि शोध-प्रबन्ध वर्तमान कलेवर प्राप्त कर सका। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधिसदस्य रहे अग्रज श्री धर्मराज सिंह एवं श्री अरुण कुमार सिंह से इस कार्य क्षेत्र में जाने की प्रेरणा मिली। अग्रज श्री अरविन्द नाथ सिंह, श्री ज्ञान प्रकाश सिंह एवं डॉ. अशोक कुमार सिंह ने शोध कार्य करने के दौरान घरेलू उत्तरदायित्वों से मुक्त कर शोध कार्य को सम्भव बनाया। अनुज अनूप कुमार सिंह एवं आनन्द कुमार सिंह तथा भ्रातृज्य प्रमोद, प्रवीण एवं राघवेन्द्र किसी न किसी रूप में मेरे इस कार्य में सहायक रहे।

मैं अपने शुभेच्छुओं डॉ. उमाशंकर सिंह, डॉ. मनोज मिश्र, डॉ. मनीष कुमार, श्री आनन्द प्रताप नारायण सिंह, श्री संजय कुमार राय, श्री विजय सिंह, श्री दीपक चौबे, श्री आशुतोष सिंह, श्री सत्येन्द्र सिंह एवं श्री विनय प्रकाश सिंह का आभारी हूँ जो किसी न किसी रूप में मेरे शोधकार्य से जुड़े रहे। मैं अपने अति निकटस्थ सम्बन्धियों श्री अजय कुमार सिंह एवं श्री भूपेन्द्र बीर सिंह का हृदय से आभारी हूँ क्योंकि शोध कार्य के दौरान बार–बार पूछ–ताछ करके मुझे प्रोत्साहित करते रहे। मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूँगा श्री अरविन्द उपाध्याय, श्री प्रशान्त कुमार सिंह, श्री प्रदीप कुमार सिंह एव श्री दिनेश कुमार सिंह का जिनके लिये मेरा स्वर हमेशा आदेशात्मक ही रहा, इन सभी के प्रति आभार प्रकट कर मै इनके सहयोग को न्यून नहीं करना चाहता। घर पर कार्य करने के दौरान मेरे आदेशात्मक स्वर से परिवार के छोटे सदस्य राहुल, रुद्र, प्रियम् एवं हर्ष भी बच नहीं सके और किताब लाओ ! कलम उठाओ ! जैसे आदेशों की पूर्ति करते रहे, उनका स्नेहाधिकार मेरे पास सदैव सुरक्षित है। इस सारस्वत साधना का एक तिहाई कार्य घर पर रह कर पूरा हुआ, स्वाभाविक है कि पूरा परिवार किसी न किसी रूप में मेरे इस कार्य से जुड़ा रहा। उन सभी के प्रति आभार प्रकट कर मैं उनका मूल्यांकन नहीं कर सकता।

स्रोत सामग्री के संचयन में मैने विभिन्न पुस्तकालयों एवं सरकारी संस्थानों का उपयोग किया। इनमे इलाहाबाद विश्वविद्यालय एव बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद म्यूजियम, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग एवं गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान सस्थान के पुस्तकालयों तथा क्षेत्रीय अभिलेखागार इलाहाबाद एवं राज्य अभिलेखागार लखनऊ में सुरक्षित दस्तावेजों का मैंने उपयोग किया। इनके अधिकारियों एवं कर्मचारियों के सहयोग के प्रति मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की आर्थिक मदद से ही यह कार्य सम्भव हो सका। इसके लिए मैं उसका आभारी हूँ।

गुरु–गृह में हमेशा मुझे पारिवारिक वातावरण मिला, मैं इसके लिए श्रीमती ममता जोशी जी का आभारी हूँ। परिणीता आराधना सिंह ने अपने दायित्वों का निर्वहन किया, इससे अधिक क्या अपेक्षा की जा सकती है।

मैं अपने टंककों आयडियल कम्प्यूटर के श्री विशाल बाजपेयी एवं उनके सहायकों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अल्प समय में शोध प्रबन्ध को टंकित किया।

अनिल कुमार सिंह

17.12.2001
इलाहाबाद

अनिल कुमार सिंह
शोध छात्र (एस.आर.एफ.)
मध्य. एवं आधु. इतिहास विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

प्रकृति द्वारा उद्भूत बाधाओं के निराकरण में मानव सदियों से अनवरत संघर्षरत रहा है। मनुष्य के इस प्रयास में धार्मिक विश्वास कर्मकाण्ड और रीति–रिवाजों का साधन के रूप में आविर्भाव एवं विकास हुआ। इसी प्रकार सामाजिक मुद्दों पर मनुष्य के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष में भी धर्म और कर्मकाण्ड उभरते और विकसित होते रहे हैं। यही कारण है कि जब भौतिक हितों की पूर्ति के लिये धर्म के नाम पर उसके अनुयाइयों को उभारा जाता है, तब साम्प्रदायिक भावना का उदय होता है। अपने सम्प्रदाय के हित एवं सुरक्षा के नाम पर दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को प्रताड़ित करना वस्तुतः साम्प्रदायिकता ही है।

आधुनिक भारतीय इतिहास की दो महत्वपूर्ण परिघटनायें राष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता सामाजिक परिवर्तन के इतिहास की समान प्रक्रिया का परिणाम है। साथ ही औपनिवेशिक शासन के प्रभाव से भारत के रूपान्तरित होते समाज में विकसित हो रहे यथार्थ का प्रतिबिम्ब भी हैं। जिसे दूसरे रूप में औपनिवेशिक शासन से पूर्व की सामाजिक सरचना के उत्पाद के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं। विभिन्न धर्मो एवं संस्कृतियों के देश भारत में अलग–अलग सम्प्रदायों द्वारा विस्तृत एकता और पहचान की खोज ने विभिन्न प्रकार की चेतनाओं का सृजन किया। इस प्रसार की प्रक्रिया में जाति, स्थानीयता, क्षेत्रीयता, धर्म एवं पंथ जैसी श्रेणियों का प्रयोग नयी विचारधारा एवं पहचान को विकसित करने में किया गया। इस तरह की चेतना से विचारधाराओं के परिष्करण के साथ ही राजनीतिक सगठनों के निर्माण की पृष्ठभूमि भी बनी।

अठारहवीं शताब्दी के पश्चात औपनिवेशिक शासन की परिस्थितियों में राष्ट्र की पहचान की चेतना उभरने लगी थी। यहाँ ध्यातव्य है कि वास्तविक जीवन में सामाजिक विविधता एवं अनेकता के रूप में धर्म की भूमिका विद्यमान थी और जब इसे ही राजनीतिक संगठन, आन्दोलन और अन्य क्रियाकलापों का आधार बनाया जाने लगा तो आन्तरिक अन्तर्विरोध विकसित होता गया। जब इस अन्तर्विरोध को व्यापक आयाम देते हुये सामाजिक–आर्थिक पहलू से जोड़ दिया गया तो धर्म इसके लिये मात्र उपादान रह गया। आर्थिक गतिरोध और

सामाजिक परिवर्तनो को अपने पक्ष में प्रयुक्त करने के लिये अतीत के आख्यानों के आधार पर नये मिथक गढे जाने लगे और इतिहास से उदाहरण जुटाकर मत–विभिन्नताओं का उपयोग साम्प्रदायिक भावनाओं को पुष्ट करने में किया जाने लगा।

इसी कारण इस (साम्प्रदायिकता) आधुनिक विचारधारा की खोज औपनिवेशिक शासन से पहले मध्ययुगीन अतीत में की जाने लगी। जैसा कि तुर्क सल्तनत की स्थापना के सन्दर्भ में रमेश चन्द्र मजूमदार का मत है – "अब तक के भारतीय इतिहास में पहली बार दो एकदम अलग–अलग लेकिन प्रमुख समुदाय एवं संस्कृतियाँ एक दूसरे से बिल्कुल रूबरू खड़ी थीं और भारत दो शक्तिशाली इकाइयों में स्थायी रूप से विभाजित हो गया था – जिनमें से प्रत्येक इकाई की अपनी विशिष्ट पहचान थी, जो दोनों के किसी भी प्रकार के विलयन या दोनों के बीच किसी भी तरह के घनिष्ठ स्थायी समन्वय के लिये उपयुक्त नहीं थी।"[1] इतना ही नहीं मजूमदार के अनुसार – "मुस्लिम हमलावरों एवं शासकों ने मन्दिरों एवं मठों का लगभग पूरी तरह विनाश किया। इस तरह उन्होने हिन्दू संस्कृति को पोषित और पल्लवित करने वाले स्रोतों को नष्ट करके उसका लगभग सफाया ही कर डाला।"[2] किन्तु यदि तथ्यो का सर्वेक्षण किया जाय तो स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक शासन से पहले भारत में साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक हिंसा कमोवेश अनुपस्थित ही थी।

सैद्धान्तिक रूप से इस्लाम एवं हिन्दुत्व की विविधताओं के बीच बन्धुत्व एवं एकता का विकास हो रहा था। इस्लाम मे कई ऐसे पंथ थे, जिनका हिन्दुओं से बहुत कम अन्तर था, जबकि खुद इस्लाम के भीतर गंभीर धार्मिक विभेद देखने को मिलता है, जैसे शिया एवं सुन्नी के बीच। मुसलमानों के बीच अशरफ एवं अजलफ के रूप में जाति विभेद भी दृष्टिगत होता है। अशरफ वे हैं जिनकी उच्च जातीय प्रास्थिति है जो अपने आपको सैयद, शेख, पठान व मुगल कहते हैं, जिनके पूर्वज भारत के बाहर के थे। जबकि अजलफ हिन्दू धर्म से परिवर्तित हैं और बड़े पैमाने पर व्यवसायिक जातियों में विभाजित हैं।[3]

हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच यह विभेद क्षेत्रीय स्तर पर भी विद्यमान था। यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दुओं एवं मुसलमानों में आपसी सहिष्णुता नहीं थी और वे वर्ग, क्षेत्र एवं पंथ के आधार पर एक दूसरे से अलग मानते थे, लेकिन यह स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी में 'दो राष्ट्र' नहीं था क्योंकि राष्ट्रवाद का विकास हुआ ही नहीं था। फिर भी 19वीं

शताब्दी के आते–आते आन्तरिक विभेद एवं धर्म के आधार पर अलग–अलग परिभाषित होने लगे थे। इस शताब्दी का उत्तरार्द्ध हिन्दू एवं इस्लाम दोनों ही धर्मो के लिये सामाजिक एवं धार्मिक सुधार एवं परिष्कार का समय था। इस धार्मिक–सामाजिक चेतना के साथ ही राजनीतिक–सांगठनिक चेतना का उदय हुआ जिससे दोनों सम्प्रदायों के बीच विभेद विकसित हुआ जिसने बाद में एक–दूसरे के बीच प्रतियोगात्मक दक्षता को बढ़ावा दिया।

आर्य समाज आन्दोलन एवं हिन्दू राष्ट्रवादी लेखन जैसे बंकिम चन्द्र द्वारा हिन्दुओं को मुसलमानों के आगमन के पूर्व के गौरवशाली अतीत की याद दिलायी गयी तो मुस्लिम सुधारवादियों द्वारा मुसलमानों के प्राचीन मूल्यो, धरोहर तथा अखिल इस्लामवाद की भावना को बढ़ावा दिया गया। प्रारम्भ मे हिन्दू एवं मुस्लिम पुनर्जागरणवादियों ने दोनों समुदायों के मध्य अन्तरों पर बल देने के लिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण का सहारा लिया जिससे दोनों के मध्य प्रतिद्वन्दिता का भाव पैदा हुआ, जो आगे चलकर अलगाववाद में परिणत हो गया। ध्यातव्य यंह है कि उससे अलग–अलग राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात नही हुआ बल्कि दोनों धाराओं का प्रवेश राष्ट्रीय आन्दोलन में हुआ और इससे धार्मिक पहचान भी उभरी। जैसे बंगाली बंकिम चन्द्र से प्रभावित हुये, लाजपत राय आर्य समाज से होते हुये कांग्रेस में आये, तिलक ने हिन्दू उत्सवों का सहारा लिया, गाँधी ने गीता, रामराज्य एवं अहिंसा का समावेश किया तो दूसरी ओर अखिल इस्लामवाद एवं तुर्की खिलाफत की रक्षा का प्रश्न मुस्लिम नेतृत्व द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन में जोड़ा गया।

औपनिवेशिक इतिहासकारों द्वारा भी स्थिति को उलझाने का प्रयास किया गया। 1880 के दशक के पूर्व साम्प्रदायिक दंगे नहीं के बराबर हुये किन्तु साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के इतिहासकार कूपलैण्ड बनारस में घटित हिंसक घटनाओं का उल्लेख इसी दृष्टि से करते हैं।[4] इसी तरह की घटनायें 1813 एवं 1877 में आजमगढ़ के मुबारकपुर में भी घटीं। ये हिंसक घटनायें इस बात का प्रमाण हैं कि लोगों के भीतर धार्मिक उद्वेलन विद्यमान था।

जहॉ तक साम्प्रदायिक विचारधारा का प्रश्न है तो इसे आधुनिक सन्दर्भों में ही देखा जा सकता है। बिपन चन्द्र के अनुसार – साम्प्रदायिकता के एक आधुनिक विचारधारा के रूप में देखना चाहिये न कि औपनिवेशिक अतीत से पहले के अवशेष के रूप में जिसकी जड़ें मध्यकाल में हैं। औपनिवेशिक शासन से पहले भारत में साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक हिंसा कमोवेश

नदारद थे। निःसन्देह धर्म उस समय के लोगो के जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग था। लोग धर्म के नाम पर लडते भी थे, धार्मिक उत्पीडन भी होता था, परन्तु शासक वर्ग की राजनीति का आधार साम्प्रदायिकता अथवा हिन्दू बनाम मुस्लिम नही था। जैसा कि राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में कहा जा सकता है, साम्प्रदायिकता भी औपनिवेशिक प्रभाव के तहत भारत के परिवर्तन का एक उत्पाद थी। यह आधुनिक राजनीति को एक नये दृष्टिकोण से देखने के कारण उत्पन्न हुई। यह धर्म की पुरानी पहचान का प्रयोग करके तथा नयी राजनीति में भागीदारी करने के लिये लोगों को संगठित करने का व्यापक प्रयास था।"[5]

वर्तमान परिवेश पर दृष्टि डालने पर साम्प्रदायिक जटिलता का एहसास होता है और इस जटिल स्थिति के लिये मुख्यतः हमारी असावधानी ही जिम्मेदार है। इसे रोकने के लिये न तो संवैधानिक स्तर पर कोई कोशिश की गयी और न ही सामाजिक स्तर पर किसी नये विकल्प की तलाश की गयी। राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिये साम्प्रदायिकता का उपयोग होता रहा। सामान्य आदमी की समझ की परिधि में साम्प्रदायिकता का रूप यह है कि अगर वह हिन्दू है तो मुसलमान को साम्प्रदायिक मानता है और इसके पीछे क्या, क्यों, कैसे को समझने की कोई कोशिश नहीं करता है। यही स्थिति कमोवेश मुसलमानों के साथ भी है। असगर अली इंजीनियर का मानना है — "बदलता हुआ समाज बहुत ही जटिल समस्यायें उत्पन्न करता है, जिनमें एक है जातीय समस्या। भारत में साम्प्रदायिकता एक आधुनिक घटना है, इस अर्थ में कि ब्रिटिश शासन के उदय के साथ सामाजिक—आर्थिक संरचना और परिणामस्वरूप विभिन्न समुदायों के बीच और खासतौर से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच राजनीतिक सम्बन्धों में बदलाव आने लगा। परिवर्तनशील बहुलतावादी समाज मुश्किल से साम्प्रदायिक या जातीय तनाव से मुक्त रह पाते हैं।"[6]

इस शोध प्रबन्ध में मैंने साम्प्रदायिकता जैसी आधुनिक सामाजिक परिघटना को उसकी सम्पूर्ण जटिलताओं के साथ समझने की कोशिश की है, क्योंकि किसी भी विचारधारा को तभी ठीक से समझा जा सकता है जबकि उससे जुड़े समस्त अवयवों पर दृष्टि डाली जाय। इसके लिये मैं शोध प्रबन्ध से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का उल्लेख/स्पष्टीकरण आवश्यक समझता हूँ। शोध प्रबन्ध के शीर्षक में प्रयुक्त 'उत्तर प्रदेश' शब्द के बारे में स्पष्ट करना चाहूँगा कि इसका आशय वर्तमान उत्तर प्रदेश से है, जिसका यह नाम स्वतंत्रता

प्राप्ति के बाद 1947 में रखा गया। 1902 से 1947 तक इसे 'संयुक्त प्रान्त आगरा एवं अवध' तथा 1902 से पहले 'उत्तर पश्चिम प्रान्त एवं अवध' के रूप में जाना जाता था।

शोध विषय का क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश से सम्बन्धित है। यहाँ मैं स्पष्ट करना चाहूँगा कि विचारधाराओं के सन्दर्भ में भौगोलिक परिधि निर्धारित करना प्रायः दुष्कर होता है, क्योंकि घट रही घटनाओं के कारण एवं प्रभाव को चिह्नित सीमाओं के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता है। ऐसी घटनाओं की व्यापकता भौगोलिक सीमाओं से कम मानवीय भावनाओं एवं संवेदनाओं से अधिक जुड़ी होती है ऐसी स्थिति में घटना विशेष के प्रभाव को सीमित करना मानवीय क्षमता के अन्तर्गत नहीं आता है। लेकिन सीमा की मर्यादा का पालन भी आवश्यक होता है नहीं तो तारतम्यता एवं सातत्यता टूटने का खतरा हमेशा उपस्थित रहता है। ऐसी स्थिति में इसे उत्तर प्रदेश के पूर्वी हिस्से तक सीमित करने की कोशिश की गयी है।

यही बात समय सीमा के साथ भी लागू होती है क्योंकि सामाजिक —सांस्कृतिक मुद्दों से जुड़ी घटनाओं को कालावधि में सीमित करना सम्भव नहीं होता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि समाज एवं संस्कृति निर्बन्ध होते हैं। इसलिये सही विश्लेषण, तथ्यपरकता एवं तार्किकता के साथ निष्कर्ष तक पहुँचने के लिये कहीं न कहीं सीमा रेखा खींचनी ही होती है। इसलिये यह जानते हुये भी कि इतिहास की कोई काल सीमा नहीं हैं तथा यह खण्डित नहीं बल्कि सतत गतिमान प्रक्रिया है, फिर भी सुविधा के लिए एक समय सीमा निर्धारित की गयी है। यह ऐसा समय था जब राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रवाद एवं सम्प्रदायवाद जैसी संवृत्तियाँ दस्तक दे चुकी थीं। इसी परिप्रेक्ष्य मे मैंने यह समय चिह्न चुना है।

मैं यह भी स्पष्ट करना चाहूँगा कि स्रोत के रूप में साहित्यिक रचनाओं का व्यापक उपयोग किया गया है। साम्प्रदायिकता के अध्ययन की जो परम्परा रही है प्रायः राष्ट्रीय स्तर पर ही अधिक रही है। साथ ही इसमें नेतृत्व करने वाले उच्च वर्ग एवं सहभागी उच्च मध्यम वर्ग की भूमिकाओं का उल्लेख अधिक रहा है। ऐसी स्थिति में जन सामान्य का एक बड़ा हिस्सा जो इस विचारधारा एवं इसके परिणामों का शिकार होता रहा है, उसका जिक्र नहीं के बराबर या कुछ शब्दों तक सीमित रहा है। इस सीमा का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि इतिहास की तलाश सरकारी आँकड़ो एवं अभिलेखों में होती रही है।

निश्चित रूप से इतिहास की पुष्टि का यह एक महत्वपूर्ण साधन है, लेकिन मेरी दृष्टि में अन्तिम साधन नहीं है और जैसा कि प्रायः देखने में आता है कि अभिलेखों में दर्ज घटनाओं के तथ्य एवं परिणाम सामान्य लोगों की स्मृति एवं धारणाओ से प्रायः काफी भिन्न होते हैं। यह सरकारी परम्परा आज भी बदस्तूर जारी है।

इसलिये मैंने अपने शोध प्रबन्ध में उन साहित्यिक स्रोतों का अधिकाधिक प्रयोग करने की कोशिश की है, जिनमें तत्कालीन जनमानस की स्वाभाविक अभिव्यक्ति अन्तर्निहित थी। प्रायः रचनाकार/साहित्यकार जनता से सीधे जुड़े हुये थे, उनकी भावनाओं से न केवल सम्बन्ध रखते थे अपितु उनके द्वारा किया गया वर्णन अधिक सहज था। यह इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि जहाँ सरकारी अभिलेख घटनाओं का ब्यौरेवार प्रस्तुतीकरण एवं गणितीय ऑकडों का संग्रह होता है तथा कारण एवं परिणाम तक सीमित होता है, वहीं साहित्यिक स्रोतों से वैचारिकता के साथ ही घटना विशेष के पीछे छिपी भावना का पूरा ज्ञान हो जाता है तथा सामान्य जन की भागीदारी का सही आकलन भी होता है।

यहॉ मैं स्पष्ट करना चाहूँगा कि इसके पीछे मेरी यह धारणा कत्तई नहीं है कि मात्र साहित्य ही इतिहास का सही निदर्शन है, यद्यपि कि यह अति यथार्थवाद की ओर संकेत अवश्य करता है, किन्तु तमाम ऐसी स्थितियाँ होती हैं जहाँ साहित्यिक जरूरतों की पूर्ति में साहित्यकार कल्पना एवं परिकल्पना का समावेश भी कर लेता है। अतः ऐसी स्थिति में इतिहासकार का यह दायित्व है कि साक्ष्यों से पुष्टि करके ही तथ्यों का समावेश करे। यहाँ यह दृष्टिगत रखना होगा कि साहित्य मानव समाज की गतिविधियों की संवेदनशील प्रस्तुति है। अतः इसके महत्व को खारिज नहीं किया जा सकता। कालिंगवुड इतिहासकार की तुलना उपन्यासकार से करते हैं। दोनों का सम्बन्ध कल्पना से है और दोनों ऐसे दृश्य की रचना करते हैं, जो घटनाओं के वृतान्त, परिस्थितियों की विवेचना उद्देश्यों की अभिव्यक्ति और पात्र विश्लेषण पर निर्भर करते हैं।[7]

आज यह भी स्वीकार किया जाने लगा है कि साहित्यिक स्रोतों के प्रयोग से इतिहासकार को अतीत में झाँकने के लिये एक ऐसी खिड़की उपलब्ध हो जाती है जिसे परम्परागत स्रोतों से प्राप्त नहीं किया जा सकता।[8] आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन में स्रोत सामग्री के रूप में साहित्य का प्रयोग करने की परम्परा नयी है। सामान्यतः किसी घटना/परिदृश्य पर परम्परागत

स्रोतों के मौन होने की स्थिति में साहित्यिक स्रोतों का प्रयोग किया जाता है। रिक्त स्थानों की पूर्ति या स्पष्टीकरण के रूप में पाद–टिप्पणियों में भी इसका उपयोग होता है। साहित्यिक स्रोतों को परम्परागत स्रोतों की दासता से मुक्ति दिलाने एवं प्रतिष्ठित करने की प्रथा नवीन है। सुधीर चन्द्र, पार्थ चटर्जी, सुमित सरकार तथा 'उपाश्रयी' अध्ययन से जुड़े शोध कर्ताओं ने अपनी रचनाओं में इसके लिए अलग–अलग विधाओं का प्रयोग किया है।[9]

इन नवीन अध्ययनों से विदित होता है कि वर्तमान परिवेश में परम्परागत स्रोतों (अर्थात शासक वर्ग द्वारा तैयार किये गये) के पुनर्पाठ की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि नयी स्रोत सामग्री (जो शासित वर्ग द्वारा रची गयी हो) के खोज एवं पुनर्व्याख्या की। औपनिवेशिक काल में शासकीय कर्मचारियों, धर्म प्रचारकों एवं लेखकों द्वारा भारत को अन्धकारमय प्रदेश के रूप में व्याख्यायित करते हुये औपनिवेशिक शासन काल को नवजागरण काल के रूप में स्थापित किया गया। इसी काल में नवजागरण के उपादानों के रूप में गजेटियरों, मानचित्रों, शासकीय इतिहासों एवं अन्य वृन्तातों का निर्माण हुआ। सुशासन, शान्ति एवं सुधार जैसे छद्म आदर्शों की आड़ में इन आधिकारिक सूचनाओं द्वारा सरकारी वर्चस्व एवं नियंत्रण में वृद्धि की गयी। इनमें भारतीय इतिहास के वही पहलू शामिल थे जिनसे ब्रिटिश सरकार का सरोकार था। बाद में उत्तर औपनिवेशिक काल में भी इन्ही वृन्तातों के आधार पर इतिहास की पाठ्य पुस्तकें लिखी गयीं। यही कारण है कि आज इतिहास के पुनर्लेखन पुनर्पाठ एवं पुनर्व्याख्या की बहस चल पड़ी है।

भारतीय साहित्य में राष्ट्रवादी भावनाओं से ओत–प्रोत कृतियों का सृजन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही मिलने लगता है। इसका प्रतिबिम्बन बँग्ला साहित्य में काफी प्रखरता के साथ हुआ है, लेकिन बंकिम चन्द्र की विचारधारा को लेकर विवाद अब भी है कि ये राष्ट्रवाद के प्रतीक थे या हिन्दू सम्प्रदायवाद के। उनके उपन्यासों के अन्तः साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने मुसलमानों एवं उनके शासन की आलोचना की। तुलनात्मक रूप से औपनिवेश्कि शासन की प्रशंसा की और हिन्दू धर्म के परिष्कृत रूप को सर्वोत्कृष्ट माना। यहाँ ध्यातव्य है कि 1857 के विद्रोह के बाद से ही मुस्लिम समाज में यह विश्वास घर कर गया था कि उनके समाज की सुरक्षा अंग्रेजों के साथ मिलने पर ही सम्भव है। अलीगढ़ आन्दोलन एवं सैयद अहमद के विचारों की पृष्ठभूमि में यही विश्वास अन्तर्निहित था। ऐसी स्थिति मे परवर्ती चरणों में यह भी स्पष्ट होता जा रहा था कि अंग्रेजों के चले जाने के

बाद जो लोकतत्र भारत मे बनेगा वह हिन्दू लोकतंत्र होगा। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आन्दोलन के मुख्य स्वर के विरोध मे मुसलमानों ने अपने इतिहास एवं परम्परा से प्रेरणा ली। यही कारण है कि बंकिम चन्द्र के राष्ट्रवादी साहित्य में हिन्दू सम्प्रदायवाद का प्रतिबिम्ब देखा गया।

रमेशचन्द्र दत्त के इतिहास एवं साहित्यिक ग्रन्थों, शरत चन्द्र के उपन्यासों एवं टैगोर—साहित्य में राजनीति का स्वर तो था ही व्यापक राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति भी मिलती है। उर्दू साहित्य में अल्लामा इकबाल (प्रारम्भ में) एवं जोश मलीहाबादी की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में अंग्रेजों का विरोध एवं राष्ट्रवादी चेतना दिखांयी पड़ती है। यह और बात है कि इकबाल ने 'सारे जहॉ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' लिखने के बाद आगे चलकर अलगाववादी राजनीति के प्रभाव में 'मिल्ली तराना' भी लिख डाला।

साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति के प्रयास के प्रारम्भिक दौर मे ही हिन्दी साहित्य क्षेत्रीय बोलियों से मुक्त हो मानक भाषा का निर्माण कर रहा था। साम्राज्यवादी वर्जनाओं के बावजूद हिन्दी साहित्यकारों की रचनाओं में प्रखर राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति प्रारम्भिक दौर से ही देखने को मिलती है। इसे भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगीन आरम्भिक रचनाकारों में देखा जा सकता है। बाद में रचनाकारों के लिये यह अभिव्यक्ति क्षेत्र और व्यापक होता गया। धर्म एवं साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर भी हिन्दी साहित्यकारों ने संवाद कायम करते हुये धर्म में व्याप्त पाखण्ड, ढोंग और उसकी साम्प्रदायिक अभिव्यक्ति की आलोचना की। पुरोहितों की मध्यस्थता एवं मठाधीशों के शोषण को अनावृत्त करते हुये साम्प्रदायिक फूट को समाप्त करने एवं साम्प्रदायिक सौहार्द कायम करने की वकालत की, क्योंकि इन साहित्यकारों को औपनिवेशिक शासन के मन्तव्यों एवं साजिशों का अच्छी तरह से ज्ञान था।

शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में साम्प्रदायिकता के वैचारिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष को रखते हुये इसके लिये जिम्मेदार कारकों/तत्वों की खोज की गयी है। एक ऐसी विचारधारा जिसका कि अतीत में उल्लेख लगभग नहीं के बराबर है जबकि एक लम्बे समय तक मुस्लिम शासन यहाँ कायम था। जो कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के सर्वथा विपरीत था। लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में सौहार्द एवं सामंजस्य स्थापित करने की तमाम कोशिशें परिलक्षित होती हैं। वहीं औपनिवेशिक शासन के दबाव एवं स्वार्थों के चलते आपसी विभाजन की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती है, जिससे साम्प्रदायिकता

जैसी विचारधारा को पनपने का अवसर मिला। हिन्दू एव मुसलमान दोनो ही सम्प्रदाय के लोग अपने सामुदायिक हितो तक सिमटते गये तथा यह मानने लगे कि धर्म ही भौतिक हितो की एकता का भी आधार है।

एक बार जब ऐसी मनोवृत्ति का निर्माण हो गया तो अपने हितो एव लक्ष्यो की पूर्ति के लिये साम्प्रदायिक विचारधारा का हिसक प्रयोग भी शुरू हुआ और इसे विकसित एव प्रभावी बनाने के लिये इतिहास से उद्धरण जुटाये जाने लगे। साम्प्रदायिक नेताओ द्वारा अपने—अपने अतीत के पक्ष मे तमाम तर्क एव मिथक गढे जाने लगे जो सही न होते हुये भी बार—बार पुनरावृत्त होने पर जन सामान्य मे सही समझे जाने लगे। इस अध्याय मे इन्ही बिन्दुओ के परिप्रेक्ष्य मे साम्प्रदायिकता को समझने का प्रयास किया गया है।

शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय मे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान साम्प्रदायिकता के स्वरूप को विवेचित करने का प्रयास किया गया है। इसमे राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाली काग्रेस पार्टी एव मुस्लिम हितो का प्रतिनिधित्व करने वाली मुस्लिम लीग के बीच चल रहे वैचारिक सघर्ष को देखने का प्रयास होगा। यहॉ लीग की इस भूमिका को विवेचित करने का प्रयास होगा कि मुस्लिम हितो की पूर्ति के लिय वह औपनिवेशिक शासन से किस प्रकार समझौते कर रही थी। साथ ही समय—समय पर अपने वर्गीय स्वार्थों की पूर्ति हेतु काग्रेस का उपयोग भी कर रही थी। इसी क्रम मे यह देखने का प्रयास होगा कि काग्रेस का समझौतावादी रुख किस हद तक साम्प्रदायिकता को विकसित करने मे सहायक रहा और मुस्लिम लीग की मॉग क्रमश तीव्रतर होती हुई देश विभाजन तक पहुॅची।

शोध—प्रबन्ध के तृतीय अध्याय मे तत्कालीन हिन्दी साहित्य के कतिपय चयनित साहित्यकारो के साहित्य मे साम्प्रदायिकता का किस प्रकार निरूपण हो रहा था, इसे देखने का प्रयास किया गया है। इसके लिये मैने शोध विषय के क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश से सम्बन्धित प्रमुख हिन्दी साहित्यकारो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अयोध्या सिह उपाध्याय हरिऔध, प्रेमचन्द, जयशकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी — निराला एव श्याम नारायण पाण्डेय की साहित्यिक कृतियो को आधार बनाया है। इस चयन के पीछे मेरा मन्तव्य यह है कि शोध अवधि की पूरी सीमा इन साहित्यकारो द्वारा आच्छादित हो जाती है। साथ ही साहित्य की विभिन्न विधाओं का प्रतिनिधित्व भी इनके साहित्य द्वारा हो जाता है। यह चयन अध्ययन की सुविधा के लिये भी किया गया है। ऐसा करके शेष साहित्यकारो की महत्ता कम करने का उद्देश्य नहीं है बल्कि सन्दर्भ स्रोतो के अधिक्य से बचने की कोशिश है।

इन साहित्यकारो मे पृष्ठभूमि के रूप मे भारतेन्दु के उस स्वर को पहचानने की कोशिश होगी जिसमे वे राजभक्ति एव देशभक्ति के दो ध्रुवो पर लेखन कर्म करते हुये जातीय आग्रह के भाव से मुक्त नही हो पाते। इसी प्रकार हरिऔध का साहित्य आद्योपान्त जातीयता एव हिन्दुत्व के दायरे मे घूमता है। प्रेमचन्द जन साहित्य के पुरोधा थे। इसी दृष्टि से साम्प्रदायिकता एव उस पर उनके प्रहार को उनके साहित्य के माध्यम से देखने की कोशिश होगी। जयशकर प्रसाद प्राय ऐसा चित्रण करने से अपने साहित्य को बचाते रहे है लेकिन बच नही सके है। सम्भवत ऐसा उनकी शान्त एव अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण था। निराला इस सन्दर्भ मे अपने नाम के अनुरूप ही हैं, उनके साहित्य मे तमाम ऐसे उद्धरण हैं जहॉ उन्होने इस विषय पर पूरी बेबाकी के साथ अपनी बात कही है। श्याम नारायण पाण्डेय की रचनाये हिन्दू आख्यानो पर आधारित है और उस समय प्रकाशित हुई है जबकि राष्ट्रवादी भावनाओ के साथ–साथ साम्प्रदायिक राजनीति भी अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इन बिन्दुओ के परिप्रेक्ष्य मे ही इन साहित्यकारो के विचारो का विवेचन होगा। साथ ही उन बिन्दुओ पर भी दृष्टि डाली जायेगी जहॉ इन साहित्यकारो द्वारा साम्प्रदायिकता जैसी नकारात्मक मनोवृत्ति पर प्रहार किया गया है तथा सामजस्य स्थापित करने की कोशिश की गयी है।

शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय मे पूर्वी उत्तर प्रदेश की सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियो के विवेचन के साथ ही उन स्थितियो की चर्चा होगी जिनसे साम्प्रदायिकता का निर्माण एव विकास हुआ। हिन्दी–उर्दू विवाद एव गोरक्षा आन्दोलन ने कैसे साम्प्रदायिक स्थिति को जटिल बनाया साथ ही परवर्ती चरण मे काग्रेस मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा एव अन्य छोटे दलो एव उनके नेताओ की गतिविधियो एव क्रियाकलापो का लेखा–जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

पचम अध्याय मे विभाजन के तुरन्त बाद की स्थिति को विश्लेषित करने का प्रयास होगा। इसके लिये जनसख्या, विचारधारा, मन स्थिति, आर्थिक एव जन हानि–लाभ को दृष्टि मे रखने का प्रयास होगा। यहॉ मैने पुन तत्कालीन साहित्य के माध्यम से लोगो की मन· स्थिति एव उससे उठती प्रतिक्रिया को देखने का प्रयास किया है।

शोध प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में साम्प्रदायिकता के निर्माण उसके विकास के प्रमुख घटको एव उपादानो का जो विश्लेषण पिछले अध्यायो मे किया गया है, उनके सन्दर्भ मे एक सतुलित दृष्टिकोण के साथ निष्कर्ष पर

पहुँचने का प्रयास इस दृष्टि के साथ होगा कि क्या सचमुच किसी निष्कर्ष पर पहुँच सका हूँ। वस्तुत साम्प्रदायिकता तमाम किन्तु–परन्तुओ के बीच आज भी न केवल उलझी हुई है बल्कि दिन–प्रतिदिन नये आयाम ग्रहण करती जा रही है। ऐसी स्थिति मे साम्प्रदायिकता–विषयक बहस मे हस्तक्षेप कर उसकी जटिलता को समझने का मेरा यह प्रारम्भिक प्रयत्न इस दृष्टि से माना जाना चाहिये कि इस विषय मे कुछ नये पदचिह्न छोड सका हूँ।

सन्दर्भ

1 मजूमदार आर सी, हिस्ट्री एण्ड द कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल, खण्ड–5, भारतीय विद्या भवन, पृ 28

2 वही, पृ 31

3 अहमद इम्तियाज, द अशरफ–अजलफ डायकाटमी इन मुस्लिम सोशल स्ट्रक्चर इन इडिया, इण्डियन इकोनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, अक–3, 1966, पृ 268–78, एव ज्ञान पाण्डेय के कन्स्ट्रक्शन ऑफ कम्यूनलिज्म इन कालोनियल नार्थ इडिया, दिल्ली, 1990 मे, पृ 85–86, एव 139, पाण्डेय ने अजलफ के लिये राजिल (या मेहनतकश लोग) शब्द का प्रयोग किया है।

4 आर कूपलैण्ड अपनी पुस्तक कॉस्टीट्यूशनल प्राब्लम इन इडिया, (लदन 1944, पृ 29) पर बनारस के 1809 एव 1871–72 के दगो का उल्लेख करते हैं। उनका मानना है कि हिन्दू–मुस्लिम समस्या ही ब्रिटिश शासन के चलते रहने का महत्वपूर्ण कारण थी।

5 चन्द्र बिपन आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996, पृ 170

6 इजीनियर असगर अली, हिन्दू–मुस्लिम समस्या एक सहयोगात्मक प्रयास, असली भारत, फरवरी 1992, पृ 18

7 कालिगवुड आर जी, द आइडिया ऑफ हिस्ट्री, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1992, पृ 245

8 जोशी ललित, साहित्य और इतिहास लेख अन्तर्सम्बन्ध–सन्दर्भ गुमानी, इतिहास बोध, इलाहाबाद, 1996, पृ 48–52

9 सुधीर चन्द्र ने हिन्दी, बॅग्ला, गुजराती मे उपलब्ध साहित्य का अध्ययन किया है (लिटरेरी एण्ड सोशल कान्शसनेस इन कालोनियल इण्डिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1992) सुमित सरकार की नवीनतम रचना राइटिंग सोशल हिस्ट्री, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1997 मे छठवे, सातवे एव आठवे अध्याय मे इसके प्रमाण उपलब्ध है।

अध्याय—1

औपनिवेशिक भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या

साम्प्रदायिकता एक आधुनिक विचारधारा और अवधारणा है, जिसकी उत्पत्ति के लक्षण उन्नीसवी शताब्दी के द्वितीयार्द्ध से देखे जा सकते हैं। जहाँ एक ओर राष्ट्रवाद की अवधारणा 'अग्रदृष्टि, प्रगतिशील और आधुनिक' है, वही दूसरी ओर साम्प्रदायिकता पश्चगामी, प्रतिक्रियावादी और मध्यकालीन' है इस प्रकार साम्प्रदायिकता राष्ट्रवाद की प्रतिपक्ष है। मोइन शाकिर के अनुसार—"साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता के समानान्तर सत्ता स्थापित कर लेती है। भारतीय सन्दर्भ मे साम्प्रदायिकता का अभिप्राय भारतीय राष्ट्रीयता के विरोध का परिणाम भी हो सकता है। भारतीय समाज के बहुमत का चरित्र और इसकी अनेकता का प्रादुर्भाव समान राष्ट्रीयता की चेतना से हुआ है। भारतीय राष्ट्रवादियो के लिये साम्प्रदायिकता महत्वपूर्ण थी (और है) क्योकि यह राष्ट्रीयता नही थी। भारत मे राष्ट्रवादियो के लिये साम्प्रदायिकता शासन तन्त्र के अभिशाप के रूप मे है।'[2]

विचारणीय प्रश्न यह है कि मध्ययुग मे हिन्दू एव मुसलमानो के बीच समुदाय के आधार पर सम्प्रदायगत विभेद देखने को नही मिलता। हिन्दू एव मुसलमानो के त्योहारो मे दोनो समुदाय के लोगो की परस्पर भागीदारी का प्रमाण उस समय के दरबारी इतिहासकारो यूरोपीय यात्रियो के विवरणो और अन्य विद्वानो की रचनाओ मे देखने को मिलता है।

इस आधार पर एक सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि मध्यकाल मे, राजनैतिक विचारधारा के रूप मे, न तो साम्प्रदायिकता विद्यमान थी और न ही धर्म के आधार पर लोगो के बीच किसी तरह की हिसा थी। इसका एक कारण यह हो सकता है कि जिन लोगो ने उस समय का विवरण प्रस्तुत किया है प्राय तत्कालीन जन सामान्य की भावनाओ का जिक्र नही के बराबर किया है। फिर भी सामान्यत मान्य विचार यह है कि उस समय सामुदायिक भावना विद्यमान नही थी।

हिन्दुओ एव मुसलमानो के बीच समान सस्कृति के निर्माण के साथ—साथ पृथक सामाजिक अस्तित्व की प्रवृत्ति आधुनिक काल के आगमन से पूर्व ही शुरू हो गयी थी। अत आवश्यक हो जाता है कि अग्रेजो के आगमन के पश्चात जिस तथ्य को के एन पणिक्कर ने 'समुदाय केन्द्रित परिप्रेक्ष्य[3] के

रूप मे देखा है, उसे विवेचित किया जाय। यद्यपि यह माना जा सकता है कि हिन्दुओ और मुसलमानो (अभिजात) के बीच धार्मिक एव सास्कृतिक मतभेद पहले से विद्यमान थे, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इस तरह के अन्तर का विकास हो रहा था। विशेषत उस युग के सन्दर्भ मे यह कहा जा सकता है कि हिन्दू एव मुसलमानो के बीच जो मतभेद पिछली एक शताब्दी से चल रहा था, उसका कारण राजनीतिक सर्वोपरिता के लिये चल रहा द्वन्द था। मुस्लिम अलगाववाद की विचारधारा हिन्दुओ एव मुसलमानो के वस्तुनिष्ठ अन्तरो के कारण ही नही थी, बल्कि मुसलमानो एव हिन्दुओ के बीच कुछ ऐसे प्रतीक थे, जिनका उपयोग अभिजात वर्ग के लोगो ने अपने राजनीतिक स्वार्थ एव महत्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिये किया था।[4]

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध एव बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हिन्दुओ एव मुसलमानो मे अलगाववाद की जिस प्रवृत्ति की व्याख्या इतिहासकारो ने की है उससे दोनो के बीच मौलिक अन्तर की चार मान्यताये[5] स्पष्ट होती हैं।

1 मुसलमानो मे हिन्दुओ की अपेक्षा आधुनिक शिक्षा पद्धति के सन्दर्भ मे पिछडापन अधिक था। जिसका परिचय अग्रेजो ने अपने शासन के दौरान कराया। परिणामस्वरूप अपने इस पिछडेपन को दूर करने के लिये मुसलमानो ने शैक्षिक और राजनीतिक रूप से सगठित होकर प्रयास किया। इसके पीछे तर्क यह दिया जाता है कि ब्रिटिश शासन की स्थापना और उसके सुदृढीकरण (1857 के विद्रोह के बाद) ने मुस्लिम शासक वर्ग को उसकी स्थिति से विस्थापित कर दिया था, इसलिये वे लोग निराश थे और बाद मे पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के प्रति उदासीन होने के कारण वे लोग आधुनिक शिक्षा एव नौकरियो से वचित हो गये।

2 दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि साधारण मुस्लिम जनता अपनी गरीबी एव पिछडेपन के कारण नई शिक्षा और रोजगार के अवसर का लाभ उठाने मे असफल रही और ऐसा मुस्लिम उलेमाओ द्वारा आधुनिक धर्म निरपेक्ष शिक्षा के प्रबल विरोध के कारण हुआ।

3 हिन्दू जो कि इस तरह की भावनाओ से ग्रस्त नही थे, इसका भरपूर लाभ उठाते हुये मुसलमानो से आगे निकल गये।

4 अलीगढ आन्दोलन के उद्भव के पश्चात मुसलमानो ने राजनीतिक रूप से सगठित होते हुये, हिन्दुओ की अपेक्षा अपनी अलाभकारी स्थिति को दूर करने का प्रयास किया। इसके लिये मुसलमानों मे

शिक्षा, प्रशासन और राजनीति के क्षेत्रो मे विशेष सुविधा की मॉग की। मुसलमानो द्वारा हिन्दुओ एव काग्रेस के प्रबल विरोध ने दोनो के बीच तनाव पैदा किया और अन्तत जिसकी परिणति देश विभाजन के रूप मे हुई।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान मुसलमानो मे अलगाववाद की प्रवृत्ति के इतिहास पर दृष्टिपात करे तो यह पता चलेगा कि जनता राजनीतिक उद्देश्यो की प्राथमिकता की पूर्ति के लिये अपने प्रतीको का चुनाव करने की प्रक्रिया से किस प्रकार इतिहास को निश्चित दिशा देती है। कोई भी विद्वान जो राष्ट्रीय विचारधारा के विकास और इसकी सफलता का अध्ययन करना चाहता है, उसे समय की वस्तुनिष्ठ स्थिति और प्रतीक के परिचालन की प्रक्रिया को ध्यान मे रखकर एक मिथक का निर्माण करना होता है; जिससे कि राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति हो। यह सकेत करना कि ऐतिहासिक मिथक स्वय मे राष्ट्र के विकास मे एक तथ्य है, सही इतिहास नही है। ऐसा करने से न तो सही इतिहास की ओर जाया जा सकता है और न ही सामाजिक वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है।[6]

इस अध्याय मे इसी पृष्ठभूमि के आलोक मे औपनिवेशिक भारत मे साम्प्रदायिक समस्या के मोटे पहलुओ को रेखाकित किया जायेगा। साम्प्रदायिकता क्या है? साम्प्रदायिक दगो से इसका क्या सम्बन्ध है, इसके उदय के क्या कारण थे? सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एव सास्कृतिक पक्षो को कैसे प्रभावित किया? को विवेचित करने का प्रयास होगा, क्योकि सामाजिक घटनाये सामान्यत जटिल और परस्पर विरोधी होती है। उन्हे तभी समझा जा सकता है जबकि उनके सभी परस्पर विरोधी पहलुओ पर एक साथ दृष्टिपात किया जाय।

औपनिवेशिक भारत मे साम्प्रदायिक समस्या पर विचार करने से पहले यह आवश्यक है कि साम्प्रदायिकता की अवधारणा को विवेचित किया जाय। सामान्य रूप से साम्प्रदायिकता का अर्थ ऐसी स्थिति से है, जहॉ दो विभिन्न धार्मिक समुदायो के सदस्य परस्पर भय एव अविश्वास की स्थिति मे रहते है। यद्यपि विद्वानो ने इसे कई तरह से परिभाषित करने का प्रयास किया है। जैसे 'एक विचारधारा के रूप मे' 'एक झूठी चेतना के रूप मे' 'सीमित ससाधनो के लिये सघर्ष' 'नौकरी के लिये प्रतियोगिता' 'शासक वर्ग द्वारा एक राजनीतिक हथियार के रूप मे इसे अपनाया जाना' आदि।

डब्ल्यू सी स्मिथ ने इसे परिभाषित करते हुये लिखा है कि 'यह प्रत्येक धर्म के अनुयाइयो के सामाजिक राजनीतिक एव आर्थिक पहलुओ पर जोर देती है। साथ ही यह इनके बीच अन्तर और शत्रुता के भाव को भी रेखाकित करती है।"[7] इसी प्रकार बिपन चन्द्र का विचार है कि – 'साम्प्रदायिकता एक ऐसा विश्वास है जिससे यह लगता है कि जिन लोगो का एक ही धर्म है उनका सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हित भी समान है।"[8] सैन्ड्रिया फ्रितॉग ने कुछ हटकर इसे परिभाषित करते हुये लिखा है – "यह एक ऐसी स्थिति है, जिसमे धर्म का राजनीतिक स्वरूप प्राथमिक हो जाता है।"[9] शशि जोशी भगवान जोश ने साम्प्रदायिकता की व्याख्या करते हुये लिखा है कि "इसका स्वरूप मुख्यत सास्कृतिक सघर्ष के रूप मे देखा जा सकता है।"[10]

कई अवसरो पर जवाहर लाल नेहरू ने भी साम्प्रदायिकता पर अपनी विस्तृत राय दी है। 1937 मे साम्प्रदायिकता के सन्दर्भ मे उन्होने लिखा है कि 'साम्प्रदायिकता यह चाहती है कि "राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक मामलो मे हिन्दू और मुस्लिम अलग–अलग गुटो मे कार्य करे तथा परस्पर इस प्रकार का व्यवहार करे जैसा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ करता है और इसी प्रकार का व्यवहार श्रमिक सघो व्यापारिक सस्थानो तथा दूसरी गतिविधियो मे करे।"[11] इसी प्रकार 1944 मे साम्प्रदायिकता को परिभाषित करते हुये लिखा – "यह एक सकीर्ण मनोवृत्ति है, जो एक धर्म समुदाय को अपना आधार बनाती है, परन्तु वास्तव मे इसका सम्बन्ध उस वर्ग विशेष के लिये राजनीतिक सत्ता तथा राजनीतिक सरक्षण से है।"[12] बाद मे 1955 मे उन्होने लिखा कि – "साम्प्रदायिकता धार्मिक आवरण के पीछे की राजनीति है, जिसमे एक धार्मिक समुदाय को दूसरे समुदाय से घृणा करने के लिये उकसाया जाता है।"[13]

साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध मे थियोडोर मॉरिसन ने औपनिवेशिक मत को व्यक्त किया है कि "हिन्दू एव मुसलमानो के बीच अन्तरो की व्याख्या करना व्यर्थ है। केवल एक मात्र चीज जो वास्तविक है वह यह है कि दोनो स्वय को अलग मानते हैं। अगर इसे मानक माना जाय तो भारत के मुसलमान एक राष्ट्र हैं और साम्प्रदायिक विभेद वास्तव मे एक राष्ट्रीय ईर्ष्या है।"[14] साम्प्रदायिकता इस अर्थ मे राष्ट्रवाद है, लेकिन भारतीय राष्ट्रीय नेताओ के लिये साम्प्रदायिकता का महत्व यह था कि यह राष्ट्रवाद नहीं था क्योकि यह उससे भिन्न था, इसलिये मुख्य दुश्मन था। राष्ट्रीय नेताओ के लिये साम्प्रदायिकता भारतीय राष्ट्रवाद पर एक काला धब्बा था। ज्ञान पाण्डेय का विचार है कि "साम्प्रदायिकता एक तरह का औपनिवेशिक ज्ञान है। विडम्बना यह है कि साम्प्रदायिक लोगो

की तुलना मे राष्ट्रवादियो ने ही साम्प्रदायिकता का प्रचार—प्रसार अधिक किया।[15] साम्प्रदायिकता को परिभाषित करने मे समस्या होती है क्योकि बहुसख्यक सम्प्रदाय की साम्प्रदायिकता मे राष्ट्रीयता के रूप मे प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति होती है जबकि अल्पमत मे उपराष्ट्रीयता की।[16]

भारतीय सन्दर्भ मे सम्प्रदाय शब्द को परिभाषित करते हुये राबर्ट हार्डग्रेव जूनियर कहते है कि — "भारत मे सामान्यत समुदाय नस्ल, जाति, भाषायी, या धार्मिक समूह से सम्बन्धित है न कि सयुक्त राज्य की तरह स्थान से।"[17] बिपन चन्द्र की साम्प्रदायिकता की परिभाषा इसके यथासभव अनेक अर्थ निकालने का प्रयत्न करती है। उनका यह भी विश्वास है कि "सम्बन्धित धार्मिक सम्प्रदाय आधुनिक भारतीय राजनीति के सगठन का आधार बन चुके हैं। भारतीय समाज साम्प्रदायिक पहचान और बॅटवारे के लिये अडिग सघर्ष मे हमेशा से जलता रहा है। वह पुन एक सम्प्रदायवादी के मानसिक और वैचारिक गठन पर बल देने का प्रयास करके इसका विस्तार करते है। सम्प्रदायवादी मानता है कि भारतीय समाज का सामाजिक, सास्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विषयो पर सर्वाधिक सार्थक विभेद इन्ही धार्मिक सम्प्रदायो के आधार पर ही होता है। भारतीय समाज अपने अस्तित्व, सामाजिक व्यवहार, सामूहिक या गैर व्यक्तिगत हितो की रक्षा केवल इन धर्म आधारित सम्प्रदायो के सदस्य के रूप मे ही कर सकता है। वे उन समरूप सम्प्रदायो जिनका हित, दृष्टिकोण, जीवन शैली आदि समान होती है के सदस्य के अतिरिक्त किसी अन्य ढग से कभी व्यवहार नही करते और न सोचते एव महसूस करते हैं।"[18]

सम्प्रदाय शब्द जैसा कि भारत मे प्रयोग किया जाता है, उन सुविधाजनक अस्पष्ट शब्दो मे से एक है जो असमान सामाजिक इकाइयो के उल्लेख मे बहुत सहायक है। भारतीय राजनीतिक शब्दावली मे 'साम्प्रदायिक' विशेषण सर्वाधिक नकारात्मक प्रभाव वाला शब्द है। इसका प्रयोग उस सगठन के वर्णन मे किया जाता है जो जनसख्या के केवल एक भाग के हित चाहने की धारणा, धर्म एव परम्परा के नाम पर सामाजिक परिवर्तन के विरोध को बढाता है और यह धारणा सम्पूर्ण समाज के लिये हानिकारक होती है। अत यह एक विशेषण है जो समाज विरोधी लालच और प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण को प्रदर्शित करती है।[19]

जी डी मिचेल समुदाय शब्द की व्याख्या करते हुये कहते है कि — "वास्तव मे यह (समुदाय) ऐसे लोगो की ओर इशारा करता है जो एक भौगोलिक क्षेत्र मे एक साथ रहते हैं। एक साथ आर्थिक एव राजनीतिक

गतिविधियो मे भाग लेते है और अपने ऊपर स्वय शासन करते है तथा दूसरे के प्रति प्रेम एव सद्भावना रखते है।' [20] यद्यपि कि धर्मो की अधिकता और परम्पराओ मे अनेकता साम्प्रदायिकता की अभिव्यक्ति नही है और श्रद्धा के विभिन्न सोचो के बीच टकराव साम्प्रदायिक सोच का परिणाम नही है। मोइन शाकिर के अनुसार – "अपने धर्म के प्रति गर्व साम्प्रदायिकता नही है। यह अन्य के धर्म और सस्कृति के प्रति घृणा का भाव नही है। निष्कर्षत धर्म अलौकिक विचारो का स्वरूप नही है, परन्तु इस प्रकार धर्मो का सामाजिक पहलू अतार्किक एकात्मक समूहो को उत्पन्न कर सकता है।' [21]

हैंस क्रूज के अनुसार इन समूहो का दृष्टिकोण इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है – "साम्प्रदायिकता वहॉ होती है जब इसके सदस्य अपनी धार्मिक निष्ठा राजनीतिक प्रशासन चलाने वाली इकाई के विपरीत विकसित कर लेते है।"[22]

साम्प्रदायिकता अपनी महत्वपूर्ण विशेषताये उस विशेष समूह के इतिहासकारो के इतिहास लेखन से प्राप्त करती है जो औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त थे। यह शुरुआत इस शताब्दी (बीसवी) के प्रारम्भ मे हुई, क्योकि यह प्रारम्भ मे राष्ट्रीयता के उपमहाद्वीपीय सस्करण के रूप मे दिखायी पडी। लुइस ड्यूमॉट यह विचार व्यक्त करते है– "साम्प्रदायिकता अपना अर्थ समान्तर वस्तुओ के साथ अभिव्यक्त करती है। इससे पूर्व औपनिवेशिक लेखको एव शासको के द्वारा रुचिपूर्वक नस्ल, राष्ट्र, राष्ट्रीयता वर्ग जैसे बहुवाचक शब्दो का प्रयोग अधिकता के साथ किया गया, जिसका उद्देश्य उपमहाद्वीप को अलग–अलग राजपूतो, सिखो, मुसलमानो, और भीलो आदि के रूप मे व्यक्त करना था।"[23] तुलनात्मक रूप से सामान्य शब्द सम्प्रदाय इसी के बाद सामान्यतया प्रयुक्त होने लगा। इसका एक कारण तो यह था कि शब्द 'नस्ल' डार्विन युग मे एक जीव वैज्ञानिक व्यवहार के अर्थ मे प्रयुक्त होता था और राष्ट्र शब्द का सही प्रयोग यूरोप और अमेरिका के नये राष्ट्र राज्यो के अस्तित्व मे आने के बाद शुरू हुआ। अत यह जानबूझकर एशिया के लोगो के द्वारा इकार कर दिया गया।

डब्ल्यू सी स्मिथ कहते हैं कि – "भारतीय मुसलमान, मुसलमान और भारतीय दोनो हैं। इस द्वैतता मे से जब किसी एक को ही मानने का प्रयास होता है तब स्थिति को हम विस्फोटक कह सकते हैं। यहॉ इन दोनो ध्रुवो के रचनात्मक सश्लेषण मे बौद्धिक प्रयास असफल हुये हैं।"[24] भारतीय मुसलमानो

की इस द्वैतता मे भारतीयता तथा मुसलमानत्व दोनो तथ्य समान एव अन्योन्याश्रित है। भारतीयता पर अनावश्यक दबाव भारतीयता के सिद्धान्त की पूर्णता की कल्पना करता है, जबकि इसकी अनदेखी करना राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया की जडे खोदना है।

मोइन शाकिर का मत है कि – "पाकिस्तान का जन्म साम्प्रदायिकता का परिणाम था। यह समुदाय के भीतर और बाहर भारतीय और मुस्लिम वृत्त खण्डो के मध्य सन्तुलन स्थापित करने मे व्यवहारिक असफलता है।"[25]

डब्ल्यू सी स्मिथ इस बात को स्वीकार करते हैं कि – "यह इस्लाम ही है जिसने भारतीय मुसलमानो को साम्प्रदायिक बनाया। मुस्लिम जो कि अल्पसख्यक हैं, अपने को राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग रखा, अपना अलग अस्तित्व बनाये रखा। भारत की ही तरह मुस्लिम समस्या इथोपिया, थाईलैण्ड एव फिलीपीन्स मे भी है। भारत मे साम्प्रदायिकता को ऐतिहासिक तौर पर राष्ट्रीयता के प्रतिपक्ष के रूप मे निर्धारित किया गया, ऐसा दूसरे देशो मे शायद नही है जैसे कि मलेशिया, जबकि वहॉ पर भी साम्प्रदायिकता की समस्या है।"[26]

साधारणतया साम्प्रदायिकता उस स्थिति को इगित करती है जहॉ विभिन्न धर्मो के लोगो के बीच शक, डर तथा विरोध होता है। बौद्धिक स्तर पर साम्प्रदायिकता सोची–समझी राजनीति के कारण उत्पन्न होती है, जो कि धार्मिक समुदायो के बीच वास्तविक या काल्पनिक डर के कारण होती है। एल ड्यूमॉट ने अपने निबन्ध 'नेशनलिज्म एण्ड कम्यूनलिज्म' मे लिखा है कि – "साधारणतया धार्मिक समुदायो के बीच उत्पन्न विरोध को साम्प्रदायिकता कहा जाता है। साम्प्रदायिकता एक सकर, माध्यमिक तथा सक्रमित घटना के रूप मे दिखती है।"[27]

सामाजिक विज्ञान मे 'साम्प्रदायिकता' एक अवधारणा या सैद्धान्तिक गठन के रूप मे नवीन है। वह शायद इतिहास है जिसने प्रथमत इसका प्रयोग किया। राजनीति शास्त्र एव समाज शास्त्र ने इसका उपयोग किया। यह कहा जाता है कि साम्प्रदायिकता जैसा कि वर्तमान मे प्रयोग किया जाता है धार्मिक विचारधारा का राजनीतिक दोहन है, जो समाज मे समूहो को केवल धर्म के आधार पर परिभाषित करता है। यहॉ तक कि यह उपागम समूहो का सम्बन्ध, धन, स्तर, सम्मान और सामर्थ्य सभी खत्म कर देता है।"[28]

इतिहासविद् एव राजनीति विज्ञानी अक्सर तर्क देते हैं कि साम्प्रदायिकता की जड इतिहास मे ही वापस जाती है, परन्तु इस प्रवृत्ति को न्याय सगत सिद्ध करने के लिए लोगो द्वारा इतिहास का भी दुरुपयोग किया गया है। ब्रिटिश इतिहासकारो ने सभवत पहली बार साम्प्रदायिकता शब्द का प्रयोग हिन्दू बनाम मुस्लिम के लिये किया उन्होने हिन्दू काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल का सीमाकन करके इतिहास को कालो मे विभाजित किया जो बाद मे प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास के रूप मे हो गये।

बेवर और पारसन्स के द्वारा विकसित सामाजिक व्यवहार को सर्वाधिक व्यापक अभिव्यक्ति देने वाला विचार समष्टिक व्यवहार के साथ कार्य करने मे समर्थ है। सामूहिक घटनाओ के साथ व्यवहार के मामले मे सामाजिक विश्लेषण मे ऐसे प्रलाप की प्रवृत्ति होती है मानो यह अदृश्य शक्तियो का कार्य हो। स्मेल्सर कहते हैं कि छोटे समूहो के व्यवहार और सामूहिक व्यवहार की अन्योय क्रिया की प्रकृति मे अन्तर है। सामूहिक व्यवहार को परम्परागत व्यवहार की कोटियो की तरह विश्लेषित किया जा सकता है।[29]

सामूहिक व्यवहार की परिभाषा मे स्मेल्सर न केवल प्रतिकूल व्यवहार और प्रकोप (Outbrust) को सम्मिलित करते है, बल्कि मानदण्ड आधारित आन्दोलनो और मूल्य आधारित आन्दोलनो समेत अन्य आन्दोलनो पर भी विरोध प्रकट करते है। स्मेल्सर के लिए सामूहिक व्यवहार दबाव द्वारा उत्पन्न समस्याओ पर सघनित आक्रमण है। उनके अनुसार सामान्य सामाजिक व्यवहार परिभाषित करने योग्य घटको के मानचित्र और रेखाचित्र के साथ चलता है। हॉलाकि विरोध की स्थिति मे व्यवहार के स्थापित मार्ग असफल हो जाते है। इस प्रकार बिना ढॉचागत स्थिति मे प्रतिकूल प्रकोप से लेकर मानदण्ड विरोधी आन्दोलनो के विभिन्न प्रकार के सामूहिक व्यवहार, दबाव की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होते है।

प्रतिकूल प्रकोपो की विशिष्ट घटनाओ मे जिसके अन्तर्गत स्मेल्सर सावधानीपूर्वक नस्लीय दगो के साहित्य पर विचार करते हैं, यह विश्वास करते है कि दबाव की जिम्मेदारी भलीभॉति परिभाषित समूहो और लोगो के वर्ग को दी जाती है न कि गैर वैयक्तिक बल को। इस तरह के समूहो को हिसात्मक दण्ड देने और मिटा देने की इच्छा की जाती है। अतः हिसा का आन्दोलन सामान्यीकृत विश्वासों के विकास की पूर्वकल्पना कर लेता है जो बाद मे निशाना बनाये गये लक्ष्यो के प्रतिकूल होता है। स्मेल्सर का यह विचार कुछ

हद तक साम्प्रदायिक दगो पर बिपन चन्द्र के विचार से मिलता–जुलता है। वह तर्क देते है कि साम्प्रदायिक विचारधारा के विकास के कारण ही साम्प्रदायिक दगे होते है। साम्प्रदायिक विचारधारा समाज को एक विशेष नजरिये से देखने और गतिशील करने का मार्ग है, जिसको बढावा देना 19 वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे आरम्भ हुआ। भारत मे साम्प्रदायिक विचारधारा की कल्पना हुई जब समाज समरूप धार्मिक सम्प्रदायो मे विभाजित हुआ, जिसके धर्म निरपेक्ष हित समान थे अर्थात उनके आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक हित दूसरे धर्मों के हितो से अलग और विरुद्ध थे।

भारतीय लोगो मे यह धार्मिक पहचान ही थी, जिसने उनके सामाजिक अस्तित्व को प्रभावित किया। इस पहचान के अनुसार सगठित होने मे, अन्य पहचानो जैसे वर्ग, भाषायी, क्षेत्रीय, सास्कृतिक और राष्ट्रीय पहचानो को भी सम्मिलित किया गया भारतीय इस सन्दर्भ मे अद्वितीय है। अन्य समाजो की तरह विशेषत आधुनिक पाश्चात्य समाज मे इस ढग से सगठन कभी नही् दिखा।[30]

भारतीय समाज के इस विचार को उत्पन्न करने तथा आगे बढाने के लिए अग्रेज औपनिवेशिक शोषको ने बहुत कुछ किया। उनकी सफलता इस बात से सिद्ध होती है कि भारत की स्वतन्त्रता के दशको बाद तक बौद्धिक वर्ग से लेकर साधारण वर्ग तक अपने समाज को भूतकाल से लेकर वर्तमान तक वर्ग तथा राष्ट्र जैसी धर्म निरपेक्ष श्रेणियो का उपयोग करते हुये भी धर्म सम्प्रदाय तथा जातीय वर्ग मे विश्लेषित करने की धारणा है। कई सालो तक भारतीय इतिहास प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक काल मे विभक्त होने के बजाय हिन्दू काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल मे विभक्त था। डब्ल्यू.सी स्मिथ (1946) प्रथम व्यक्ति थे जिन्होने भारतीय समाज के पक्ष को बताने के लिये उपयोग मे लायी जाने वाली साम्प्रदायिक श्रेणियो को बडी खूबसूरती से पेश किया, लेकिन पश्चिम के उसी पक्ष को सामने लाने मे ये व्यर्थ सिद्ध हुईं।[31]

भारतीय सन्दर्भ मे साम्प्रदायिकता को व्यक्तिगत माना जा सकता है। पश्चिमी देश जो भारत के अधिक नजदीक है इस शब्द का सही ढग से अर्थ भी नही जानते, यद्यपि कि पूर्व मे की गयी तुलना जातीयता या युगीन घटनाओ पर आधारित थी। त्वचा के रंग को धर्म के लिये निर्धारित किया जाना महत्वपूर्ण था। बहुत पहले से भारतीय समाज धार्मिक–साम्प्रदायिक श्रेणियों में विभक्त नहीं था। ऐसा अब अधिक विश्वास के साथ कहा जा सकता है। परम्परागत भारतीय समाज मे विभिन्न धार्मिक समूह एक दूसरे की अलग–अलग सामाजिक

प्रथाओ एव धार्मिक कर्मकाण्डो से जुडे हुये थे। हॉलाकि वे आवश्यक रूप से साम्प्रदायिक विभाजन के लिये उत्तरदायी नही थे। भारत का इतिहास एव समाज इस बात का गवाह है कि हिन्दू एव मुसलमानो के तमाम कर्मकाण्डी विरोध होने के बावजूद कोई साम्प्रदायिक तनाव उत्पन्न नही हुआ, जब तक कि उसे उकसाया नही गया। फिर भी आज माना जाता है कि साम्प्रदायिकता की वर्तमान जड ब्रिटिश साम्राज्यवाद मे निहित है।

साम्प्रदायिक आदर्शवाद और राजनीति दोनो का ही उदय समानान्तर रूप से आज के राजनीतिक क्रिया कलाप मे निहित है जिसका आधार लोकमत सामूहिक भागीदारी एव गतिशीलता है। इस साम्प्रदायिक आदर्शवाद को परिभाषित करना कठिन है। किन्तु बिपन चन्द्र धर्म को साम्प्रदायिक स्तर पर विभक्त करते हैं। साम्प्रदायिक आदर्शवाद इस बात को प्रतिबिम्बित करता है कि कैसे धर्म एक निजी आस्था का विषय होते हुये आम जनता का विषय बन जाता है और आगे चलकर राजनीतिक एव आर्थिक हितो की पूर्ति के लिए सगठनात्मक आधार प्रदान करता है।[32]

एस मोहती साम्प्रदायिकता को इस रूप मे परिभाषित करते है – "जिसमे लोग एक धर्म के साथ–साथ समान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक हितो मे भी विश्वास करते है हम कह सकते है कि यह विश्वास दो वर्गों मे दुश्मनी उत्पन्न करता है।"[33]

असगर अली इजीनियर "साम्प्रदायिकता को समाज के उच्च वर्ग के लोगो एव उनके वर्गीय हितो के सघर्ष से जोडते है।[34] साम्प्रदायिकता वह हथियार है जो जनता को एक साम्प्रदायिक स्तर पर ला सकती है। इजीनियर के अनुसार – "उच्च वर्ग से सघर्ष को हम साम्प्रदायिक धारा से जोड सकते हैं। वे कहते हैं कि बॅटवारे के पहले उत्तर प्रदेश के सम्भ्रान्त मुस्लिम अपने आप को मुस्लिम लीग से इसलिये जोड़े हुये थे कि वे अपनी प्राप्त सुविधाओ की रक्षा कर सके। वे इसे हितो की 'आदर्शवादिता' के रूप मे प्रतिपादित करते है।[35] जातीय दगो के क्यों और कैसे को वे सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन का परिणाम मानते हैं।[36]

मोइन शाकिर साम्प्रदायिकता की समस्या को राष्ट्रीय एकता से जोडते हैं ओर इसकी जडो को सामाजिक आर्थिक कारणो मे निहित मानते हैं। उनके अनुसार यदि सामाजिक और आर्थिक नीतियॉ ऐसी नही बनायी गयी, जिससे कि समाज मे एकता आ सके तो साम्प्रदायिकता को रोकना मुश्किल होगा और ऐसी व्यवस्थाओ मे शासक वर्ग का व्यापक हित जनता के साम्प्रदायिक स्तर पर विभाजित होने में ही होता है।[37]

गुलाम रब्बानी तबन साम्प्रदायिकता को एक सामाजिक समस्या मानते है और इसका कारण वे सम्प्रदायवादी ताकतो पर थोपते है।[38] हुसैन शाहीन पूर्वाग्रह को साम्प्रदायिकता के 'साफ्टवेयर' के रूप मे व्याख्यायित करते हैं और इस साफ्टवेयर से दगो की उत्पत्ति को हार्डवेयर के रूप मे व्याख्यायित करते हैं। वे असगर अली के समरूप विचार रखते हुये तर्क देते हैं कि उच्च वर्ग द्वारा चलाया जाने वाला पूर्वाग्रह 'हार्डवेयर के अभ्यास के लिये होता है। जिससे कि साम्प्रदायिक हिसा की उत्पत्ति होती है। साम्प्रदायिकता पर टिप्पणी करते हुये हुसैन शाहीन लिखते है कि — "यदि किसी व्यक्ति को वर्ग के आधार पर उसके अधिकारो एव विशेष लाभो से वचित किया जाता है, तो इससे साम्प्रदायिकता का गठन होता है।[39]

अब्दुल अहमद साम्प्रदायिकता को समाज के दो भिन्न धर्मों /वर्गों के बीच तनाव के रूप मे परिभाषित करते हैं। किन्तु परोक्ष तौर पर साम्प्रदायिकता जातिगत आधार पर रोजगार, शिक्षा, वाणिज्य और राजनीति आदि मे विभेद का परिणाम होती है।[40]

प्रभा दीक्षित साम्प्रदायिकता की व्याख्या 'राजनीतिक सिद्धान्त' के रूप मे करती है। जो राजनीतिक लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये धार्मिक—सास्कृतिक विभेदो का उपयोग करता है। वह प्रतिपादित करती हैं कि 'हिन्दू एव मुसलमानो मे साम्प्रदायिकता धार्मिक प्रतिद्वन्दिता के कारण नही है बल्कि राजनैतिक सिद्धान्त के रूप मे उत्पन्न हुई और शक्ति प्राप्त करनेके साथ बॅधी थी।'[41] वह कहती है कि "जब सास्कृतिक पहचान की भिन्नता राजनीतिक मॉग का मुख्य आधार बनती है, तब सास्कृतिक भिन्नता राजनीतिक सिद्धान्त का रूप ले लेती है।"[42]

जैनाब बानू भी राजनैतिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से साम्प्रदायिकता को इसी भॉति देखती हैं। उनके अनुसार "भारत मे साम्प्रदायिकता अनिवार्य रूप से राजनीतिक घटना है। साम्प्रदायिकता का उद्भव सामूहिक पूर्वाग्रह, जातीय भिन्नता, कटुता, दगा और शक्ति स्रोतो पर नियत्रण स्थापित करने के सघर्ष के कारण होता है। राजनीतिक प्रभुत्व और आर्थिक शक्ति प्राप्त करना ही इसकी जड है।"[43] राजनैतिक वैज्ञानिक दस्तूर आलू भी इसको (साम्प्रदायिकता) इसी दृष्टि से देखती हैं बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे 1906 मे आगा खान के नेतृत्व मे लार्ड मिण्टो से मिलने वाले प्रतिनिधिमडल की मुस्लिमो के लिये अलग निर्वाचन क्षेत्र की मॉग को साम्प्रदायिकता के विस्तार का कारण मानती है।[44] पाडव नायक के अनुसार "साम्प्रदायिकता प्रथमत एक सैद्धान्तिक विचार है, जो

शासक एव शासित वर्ग द्वारा प्रतिक्रियावादी एव प्रगतिशील कारणो से औचित्य प्राप्त करती है। इस प्रकार साम्प्रदायिक वैभिन्नता राजनैतिक स्तर पर बनती है जो वर्गीय आधार पर सैद्धान्तिक रूप लेती है।"[45]

कुछ विद्वानो ने प्रजातन्त्रीय व्यवस्था मे साम्प्रदायिकता को अल्प वर्ग एव बहुसख्यक वर्ग की समस्या के रूप मे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हुमायूँ कबीर के अनुसार 'अल्पवर्ग की समस्या का उद्‌भव प्रजातन्त्र के लिये प्रथम शर्त है।"[46] वह स्पष्ट करते हैं कि प्रजातन्त्र के पहले अल्पवर्ग का अस्तित्व नही था। प्रजातन्त्रीय सस्थाओ के जन्म के बाद शक्ति के विकेन्द्री करण से भिन्न–भिन्न शक्ति स्रोतो का उदय हुआ, जिससे अल्प वर्ग और बाहुल्य वर्ग तथा उनके आपसी हित के लिये अलग–अलग समूह बने। कबीर आगे कहते है कि मनोवैज्ञानिक स्थितियॉ अल्पवर्ग एव बाहुल्य वर्ग के राजनीतिक हितो मे टकराव का कारण बनी। इसे वे और स्पष्ट करते है कि अल्पवर्ग की जागरूकता विशेषकर भारत मे हिन्दू–मुसलमान मे राजनैतिक दरार का कारण बनी।[48] उनके अनुसार यह एक तथ्य है जिसके द्वारा एक जाति का दूसरे जाति के प्रति भेदभाव करना या गुण–अवगुणो की अनदेखी जाति के आधार पर करना है।

राजनैतिक भेदभाव जनसख्या के ध्रुवीकरण से उत्पन्न होता है। जातीय भेदभाव, वर्ग भेदभाव की तरह ही मौलिक होता है। जनसख्या का समूह जातीय आधार पर दगा प्रभावित क्षेत्रो मे काफी महत्वपूर्ण होता है। अतएव इसे काल्पनिक या सैद्धान्तिक मानना वर्गभेद से जातीय समस्या से हटना है।

साम्प्रदायिकता मन की वृत्ति है। यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य की कौन सी वृत्ति जातीय सघर्ष के लिये उत्तरदायी है। अत साम्प्रदायिक मानसिकता को कौन से तत्व प्रभावित करते हैं इसका विश्लेषण आवश्यक है। जातीयता शब्द जाति समूह शब्द से बना है, जिसका अर्थ है साथ रहना या सामूहिक एकता मे हिस्सेदारी करना अर्थात यह अपने लोगो के बीच एकता की ओर सकेत करता है। साम्प्रदायिकता एक आदर्श है जिसका उद्देश्य सामूहिक हित एव खुशहाली है, लेकिन अब साम्प्रदायिक शब्द का अर्थ इस अर्थ तक ही सीमित नही है। समूह एव समूह के सदस्य का अर्थ है वे लोग जिनका एक ही विश्वास एव आस्था है। हम साम्प्रदायिक लोगो को उनके नेताओ द्वारा स्थापित सामूहिक विचारधारा पर विश्वास रखने वाले तत्वो के रूप मे परिभाषित कर सकते हैं। उनका विश्वास पक्का होता है। वे सम्पूर्ण समाज की अपेक्षा अपने समूह के हित मे ही सोचते हैं तथा मानवता एव समाज की अपेक्षा अपने समूह की जिम्मेदारी लेते है।

साम्प्रदायिकता एक सिद्धान्त के रूप मे निम्नलिखित चरित्रो मे व्यक्त होती है।[40]

1 उनका (साम्प्रदायिको का) पूर्ण समर्पण अपने विश्वास एव निष्ठा पर होता है, जिसमे विवेक का कोई स्थान नही होता है।

2 यह उस जाति से सम्बन्धित होता है, जिसके वे सदस्य होते है, जिसकी एकता पहचानी जाती है।

3 यह दूसरे प्रतिष्ठित नेताओ के विश्वास को परखने को अनिच्छुक होते हैं।

4 यह सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एव आर्थिक क्षेत्र मे इस विचार धारा द्वारा निर्देशित होते हैं तथा कभी कानून के दायरे से भी ऊपर उठ जाते हैं। अन्य स्थितियो की ओर से ऑखे बन्द कर लेते हैं और भावुक हो जाते है।

इसे रेखाचित्र के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है।

साम्प्रदायिकता एक विचारधारा

साम्प्रदायिको का कोई कार्य जो देश की अखण्डता राजनीति और क्षेत्रीयता का उल्लघन करता है एव जिसके परिणाम स्वरूप अलगाववादी आन्दोलनो को बल मिलता है, जिससे सामाजिक सिद्धान्तो एव अवसरो की समानता पर विपरीत प्रभाव पडता है। इस प्रकार यह अवाछित है तथा राष्ट्रविरोधी, धर्म निरपेक्षता विरोधी तथा समाज विरोधी है। वास्तव में साम्प्रदायिकता स्वय की सतुष्टि या विकास के लिये होती है। जब इसका विस्तार सामाजिक उन्नति के नाम पर व्यक्तिगत होता है तो इसे कानूनी दायरे मे रखना कठिन होता है और दूसरी जातियो मे विद्वेष का कारण होता है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

साम्प्रदायिकता की अवधारणा के विवेचन के पश्चात यह आवश्यक हो जाता है कि साम्प्रदायिकता एव साम्प्रदायिक दगो के बीच अन्तर को पहचाना जाय। वस्तुत इन दोनो शब्दो का अर्थ भिन्न है, यद्यपि कि आभास होता है कि साम्प्रदायिकता एव साम्प्रदायिक दगे एक ही शब्द के पर्याय है। सामान्यत साम्प्रदायिकता साम्प्रदायिक दगो के पहले की स्थिति है। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि यह (साम्प्रदायिकता) व्यक्ति विशेष या समुदाय विशेष की मन स्थिति है, जब कि दगे इसका बाह्य विस्फोटक स्वरूप हैं।

साम्प्रदायिक हिसा दगो, सामूहिक हत्याओ या आतकवाद के रूप मे नाटकीय ढग से लोगो का ध्यान आकृष्ट करती है। अपने विभिन्न रूपो मे भय तथा घृणा की भावनाओ पर आधारित साम्प्रदायिक हिसा एक विचारधारा के रूप मे पूर्व प्रचारित साम्प्रदायिकता के तार्किक विस्तार की विकृत तथा पाशविक अभिव्यक्ति है। यही साम्प्रदायिक वैचारिकता ही वह आधार है जिससे साम्प्रदायिक तनाव एव हिसा फैलती है। साम्प्रदायिक हिसा मे राजनैतिक शक्ति तथा सामाजिक एव धार्मिक मुद्दे भी सम्मिलित होते हैं, परन्तु साम्प्रदायिकता निश्चित रूप से एक ऐसी राजनीति का विकास है, जिसका सामाजिक मुद्दो से कोई सम्बन्ध नही होता।[50]

साम्प्रदायिक हिसा किसी क्षेत्र विशेष के सम्पूर्ण निवासियो को खतरे का आभास कराती है और उन्हे साम्प्रदायिक आधार पर आत्मरक्षा के लिये विवश करती है। धर्म निरपेक्ष व्यक्ति भी साम्प्रदायिक आधार पर आत्मरक्षा करने को विवश हो जाते हैं। साथ ही अपने जीवन एव भौतिक ससाधनो की रक्षा के लिये साम्प्रदायिक तत्वो पर आश्रित हो जाते है क्योकि अधिकाश साम्प्रदायिक

दगे कतिपय सामान्य धार्मिक मुद्दो जैसे—पीपल के पेड को काट देना, मस्जिद के आगे बाजा बजाना, होली पर किसी मुसलमान के ऊपर रग फेकना, एक गाय की हत्या या किसी पूजा स्थल के अनादर मात्र से ही भडक जाते है। इस प्रकार साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिसा कुल मिलाकर एक समाज की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति के उत्पाद है।

साम्प्रदायिकता का स्वरूप चाहे जो हो, यह निश्चित है कि यह सामाजिक राजनीतिक बुराई समाज के विभिन्न स्तरो पर विद्यमान है। इसे व्यक्तिगत सम्बन्ध और हित से लेकर स्थानीय, सस्थागत और राष्ट्रीय राजनीति मे भी किसी न किसी रूप मे देखा जा सकता है। सामान्यत साम्प्रदायिक दगो को साम्प्रदायिक राजनीति का परिणाम माना जाता है। प्राय साम्प्रदायिक दगे छिटपुट होते है जिसमे निम्न वर्ग के लोगो की भागीदारी अधिक होती है। जातीय दगो की स्थिति मे उच्चवर्ग का नियत्रण गरीबो पर नही होता बल्कि जातीय नेता, जो आवश्यक नही कि उच्चवर्ग से सम्बन्धित हो नेतृत्व करते हैं। वे जाति के सामूहिक हित से प्रभावित होते है न कि जाति के अमीर वर्ग के हितो से। नेतृत्व बाध्यकारी नही होता और न ही बदला जा सकता है। यह स्वेच्छा से उभरता है और सामूहिक हितो के बारे मे सोचता है। यह अनुमान कि जातीय सघर्ष उच्च वर्ग के आपसी हितो के कारण होता है, सही नही है क्योकि सघर्ष निम्न जातियो के आपसी मतभेदो से भी होता है। यद्यपि कि मध्य एव उच्चवर्गीय लोगो की प्रत्यक्ष एव सक्रिय भागीदारी दृष्टिगत नही होती, किन्तु वे सक्रिय लोगो की नैतिक एव भौतिक सहायता अवश्य करते हैं।

साम्प्रदायिक दगे विभिन्न धर्मावलम्बियो के बीच वैमनस्य एव तनाव मे वृद्धि करते हैं। इसे (वैमनस्य) ऐसे क्षेत्रो में भी देखा जा सकता है, जहॉ कि साम्प्रदायिक दगे नही होते। साम्प्रदायिक हिसा के फलस्वरूप उदारवादी व्यक्ति भी अस्थायी तौर पर साम्प्रदायिक विचारो का पोषण एव समर्थन करने लगता है। इस तरह एक विषाक्त चक्र अस्थायी रूप मे ही सही, लेकिन कार्यरत हो जाता है।

साम्प्रदायिक हिसा के मनोवैज्ञानिक प्रभावो के बारे मे नेहरू ने लिखा है कि 1946 के कलकत्ते के नर सहार ने उन लोगो को भी साम्प्रदायिक मस्तिष्क वाला बना दिया, जो कभी भी इस साम्प्रदायिकता के बारे मे सोचते भी नही थे।[51] इससे भी बढकर जो भावनात्मक अवशेष होता है, उसका दुरुपयोग साम्प्रदायिक विचारक अपना हित (साम्प्रदायिक हित) साधने मे करते हैं। इस

प्रकार साम्प्रदायिक हिसा परिवर्तनशील और ऐतिहासिक घटना होती है। यह लोगो की अवधारणाओ एव इच्छाओ को निर्धारित एव परिवर्तित करने मे प्रभावकारी होती है। लोग बदल जाते है, उनकी पारस्परिक मनोवृत्ति और सोचने का ढग बदल जाता है।[52]

साम्प्रदायिक हिसात्मक स्थिति का निर्माण कैसे होता है, इसे स्पष्ट करने के लिये अनेक सिद्धान्त हैं। प्रत्येक सिद्धान्त मानव क्रियाकलाप के किसी न किसी अग से सम्बन्धित होता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार सघर्ष आर्थिक कारणो से होता है। आर्थिक ससाधनो के नियन्त्रण से कुठा का निर्माण होता है। सघर्ष इनके पुनर्वितरण एव बँटवारे के लिये होता है।[53] सामाजिक डार्विन वादियो के अनुसार सघर्ष की विचारधारा जीव वैज्ञानिकता के साथ उत्पन्न होती है। हर्बर्ट स्पेन्सर एव समनर के अनुसार आधुनिक उद्योगो का नेतृत्व ही समाज का सही प्रतिनिधि है।[54]

आर्थिक सोच एव विरोधाभास ध्रुवीकरण मे भिन्नता का कारण होता है, जिससे कमियो को महसूस कर उत्पन्न कुठा कई पीढियो मे सघर्ष का आधार निर्मित करती है। दगाग्रस्त क्षेत्र मे असामाजिक तत्व भी इसके कारण होते है जो दगा की स्थिति पैदा करने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। विचारणीय यह है कि कुठा दगो के रूप मे कैसे परिवर्तित होती है।

सभी पहलुओ को दृष्टिगत रखते हुये इसका विवेचन आवश्यक है। विभिन्न शब्दो का प्रयोग भिन्न अर्थ सन्दर्भो मे किस प्रकार प्रयुक्त होता है, इसे निम्नलिखित ढग से समझा जा सकता है।

1 ध्रुवता (Polarity) - ध्रुवता वह स्थिति होती है, जो एकता, अपनत्व, एव साहचर्य का भाव लाती है जिसे लोग विशेष सन्दर्भो मे अपनाते हैं। यह आदर्शवादिता ऐतिहासिक धार्मिक या आर्थिक प्रकृति की हो सकती है।

2 विभाजन तथ्य (Cleavage Phenomenon) - इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि क्षेत्र विशेष मे आपसी मतभेदो के कारण जनता बँटी होती है।

3 ध्रुवीकरण—यह दो विपरीत विचार धारा के लोगो का आपसी हितो के लिये एकत्र होना है। इसमे व्यक्ति या व्यक्तियो के समूह मे अत्यन्त अपनत्व एव भावुकता पैदा होती है।

4 सामूहिक प्रभाव (Cluster Effect) - एक समय विशेष मे किसी क्षेत्र विशेष मे सामूहिक रहन—सहन के कारण उत्पन्न होता है।

5 अत्यधिक निकटता (Clise Proximity) - दो भिन्न समुदाय के लोगो मे अत्यधिक नजदीक रहने से आपसी एकता होती है।

यहाँ विभाजन अन्तर सामुदायिक और गैर सामुदायिक दोनो ही प्रकार की साम्प्रदायिकता का वर्णन करता है। यह आपसी वर्ग सघर्ष को महत्व नही देता है चाहे वह आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक सम्बन्धो के कारण हो। अतएव यह वास्तविकता की अनदेखी करता है। किसी समस्या के एक ही पहलू पर विचार अनुचित है क्योकि हिसा अनेक पहलुओ को एक साथ लेकर होती है। जैसे यह धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक या अन्य कुछ भी हो सकती है। यह कहना व्यर्थ है कि वे एक दूसरे से भिन्न हैं। वास्तव मे वे सभी एक दूसरे से सम्बन्धित है। मानवीय व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक स्वय से उत्पन्न होते हैं। स्व का अर्थ है महत्व और व्यक्तिगत व्यवहार। चूँकि मनुष्य समाज का हिस्सा होता है। अत इस सम्बन्ध मे व्यक्तिगत व्यवहार की विवेचना महत्वपूर्ण है।

साम्प्रदायिक दगे सामाजिक वास्तविकता जो एक दूसरे का विरोध करती है, को चित्रित करते है। इसीलिये यह आवश्यक है कि दगो के लिए वातावरण बनाने वाले तत्वो वैरभाव, सम्बन्ध, बनावट आदि की सावधानी पूर्वक विवेचना की जाय। इसके लिये व्यक्ति की मानसिक दशा एव दगो के समय की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण आवश्यक है। अत अपने अस्तित्व को बचाने के लिये व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक स्थिति को समझना होगा। प्रजातात्रिक व्यवस्था मे अपने अस्तित्व को बचाने मे व्यक्ति अपने को अकेला एव असुरक्षित पाता है। व्यक्ति कमजोर होता है जबकि मजबूती भीड एव समूह से प्राप्त होती है। अत शक्ति एव सुरक्षा प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सगठित होने की प्रेरणा प्राप्त होती है, जो अन्तत एक दूसरे समूह के प्रति हिसा के रूप मे प्रकट होती है।

'स्व' एव 'अन्य' की विवेचना से इसे समझा जा सकता है। हिसा किसी भी समाज में तभी सभव है जब इसे 'स्व' न समझा जाय। अत यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि 'स्व' या 'अन्य' क्या है? जो वातावरण है उसमे 'स्व' का मूल्य क्या है? 'स्व' को विभिन्न प्रकार से समझा जा सकता है। तुच्छ 'स्व' मनुष्य को एक दूसरे से अलग करता है। यह विचार जातिवाद, धर्म, पारिवारिक

व्यवसाय जन्म स्थान भाषा से सम्बन्धित है। विस्तारित 'स्व' मे भारतीय, एशियाई एव यूरोपीय का विचार आता है। यह विचार तब आता है जब व्यक्ति वैश्विक विचारधारा का हो जाता है।[55]

'स्व' का बढा हुआ रूप समाजीकरण है जो वातावरण से प्रतिबन्धित होता है। इस तरह व्यक्ति जाति, समूह, भाषा धर्म एव वर्ग से प्रभावित होता है। इन सम्बन्धो मे परिस्थितियॉ एव विचार भावनाओ को बढाते हैं और वाह्य स्रोतो द्वारा की गयी अपील वर्ग विशेष मे निम्न स्तरीय भावना उत्पन्न करती है। यह ध्रुवीकरण की चरम स्थिति होती है। इस प्रकार पागलपन की स्थिति तक साम्प्रदायिक विचारो का निर्माण व्यक्ति मे होता है। यही विचार सामूहिक रूप से सगठित प्रक्रिया का रूप होता है। जातीय नेता एव सगठन इसी विचार का ध्रुवीकरण करते हैं। इस प्रकार 'इस्लाम खतरे मे है' धर्म खतरे मे है' का नारा देकर अपील करते है।

सामाजिक समूहो का निर्माण समाज मे प्रभाव रखने वाले विशेष ध्रुवीकृत लोगो द्वारा किया जाता है। ध्रुवीकरण एक एहसास है, जो आपसी सम्बन्ध, पहचान एव आकर्षण से उत्पन्न होता है। विभिन्न प्रकार की ध्रुवीयता व्यक्ति के दिमाग मे बिखरे रूप मे हमेशा रहती है। रोजमर्रा की बातचीत मे यह प्रकट होती है। प्रत्येक व्यक्ति भिन्न–भिन्न परिस्थितियो मे अपने स्वार्थ खोजता है और इस प्रकार जनसख्या की सम्बद्धता ध्रुवीकरण से होती है।

यह ध्रुवीकरण दो प्रकार से होता है– स्थायी और अस्थायी। स्थायी ध्रुवीकरण विचारधारा, धर्म, भाषा, जाति, क्षेत्र, रग और लिग का होता है। इनका चरित्र ऐतिहासिक होता है। 'स्व' की भावना स्थायी ध्रुवीयता मे महत्वपूर्ण पहचान है, जो व्यक्ति मे अन्त तक रहती है। अस्थायी ध्रुवीयता, पेशा, अधिकार और कार्य के आधार पर निहित स्वार्थवश होती है। इसमे स्थायित्व नही है। यह ध्रुवीयता एकमात्र आपसी नही होती। यह तभी एकान्तिक होती है, जब समाज मे ध्रुवीकरण के कारण फूट पैदा होती है।

ध्रुवीकृत व्यक्ति/समूह स्वय से अलग व्यवहार पाते है। दूसरो के लिये ध्रुवीयता का कोई महत्व नही है क्योकि जो स्वय मे निहित हो जाता है वह तुच्छ 'स्व' के स्तर का होता है। समूह सामान्यतया उसी ध्रुवीयता के साथ हो जाता है और वही मुख्य कारक हो जाता है। वहॉ की जनता का नजरिया बन जाता है। उत्तर प्रदेश के दगा प्रभावित क्षेत्र मऊ, बनारस, फिरोजाबाद, मुरादाबाद, अलीगढ, सम्भल आदि मे हुये दगो के पीछे धर्म, जाति एव आर्थिक स्थिति मुख्य कारण थे।

एक विशेष समाज, स्थान एव समय मे लोगो द्वारा समान ध्रुवीकरण चिन्तन का निश्चय करने पर जनसख्या का समूह ध्रुवीयता के आधार पर बनता है। ऐसे समूहो का रहना अहितकर होता है क्योकि इससे दगा भडकाने की स्थितियो का खतरा होता है। जैसे–जैसे वैयक्तिक सम्बन्धो की धारा बिगडती जाती है तनाव की स्थितियॉ प्राय आक्रमण अपमान एव एक दूसरे का परित्याग करने मे परिणत हो जाती हैं। चूँकि लोग सामूहिक झुण्डो मे रहकर एक दूसरे के अधिक समीप हो जाते हैं। अत एक छोटी सी दुर्घटना का प्रभाव पूरे समुदाय पर पडता है। इससे एक समूह विशेष के लोगो मे नजदीकी बढ जाती है, जो सामूहिक अव्यवस्था फैलाने मे सहायक होती है। किसी भी प्रकार की वैयक्तिक उपेक्षा व्यक्ति विशेष को प्रभावित करती है। विपरीत बदतर परिस्थितियो मे ऐसे तनाव या दबाव जो समूहो के बीच पैदा होते है, दो दिशाओ मे कार्य करते है। प्रथम सामूहिक शत्रुता हेतु एकजुटता और द्वितीय बढते सम्पर्को एव सम्बन्धो के कारण ध्रुवीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। ऐसे तनाव सामूहिक मानसिकता एव मनोवृत्तियो को र्जन्म देते हैं। जैसे ही किसी समुदाय मे यह चेतना जागृत होती है तो विरोधी समुदाय प्रतिद्वन्दी बन जाता है और व्यक्ति अपना ध्रुवीय स्थान ग्रहण कर अपने–अपने समुदायो से जुड जाता है। नेतृत्व का विकास होने लगता है और ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तीव्रगति से प्रारम्भ हो जाती है।[57]

आबादी के इस ध्रुवीकरण को यो परिभाषित किया जा सकता है कि भावनात्मक पहचान जो सम्बन्धो की प्रगाढता से पैदा होती है किसी व्यक्ति या समूह को एक कर देती है। इसे हम इस तरह भी कह सकते है कि किसी व्यक्ति की महत्वाकाक्षा उसे समूह या सामूहिक व्यक्तित्व मे विकसित होने को प्रेरित करती है। एक समुदाय का ध्रुवीकरण प्रतिद्वन्दी समाज को ध्रुवीकरण हेतु प्रेरित करता है क्योकि इसे वह अपने लिये चुनौती समझता है। यही कारण है कि जब एक समुदाय द्वारा कोई साम्प्रदायिक आह्वान किया जाता है तो दूसरा समुदाय भी प्रतिक्रिया स्वरूप यही करता है। यह केवल अलगाव नही बल्कि पूरे समुदाय को विजातीय मानकर उससे अलग रहने की आत्मनिष्ठ भावना का प्रतीक है। इस अहम् तात्विक प्रवृत्ति की उत्पत्ति विभिन्न स्थितियों मे अर्जित अनुभवो के आधार पर परस्पर हितो में टकराव के कारण और वास्तविक हिस्सेदारी, सामाजिक स्तर, प्रतिष्ठा के प्रति दिखाये गये दूसरे समुदाय द्वारा अन्याय के कारण उत्पन्न होती है।

प्राय लोग उन समूहो मे रहना पसन्द करते है जिन्हे वे जानते और पहचानते है। किसी भी ध्रुवीकरण का आधिपत्य निम्नलिखित कारक तत्वो पर निर्भर करता है।[58]

1 समय एव क्षेत्र — इसका सम्बन्ध विशिष्ट काल, क्षेत्र, स्थिति और परिस्थिति अर्थात भौगोलिक सीमाओ से होता है।

2 सामाजिक संरचना — वर्तमान सामाजिक सरचना और इसका मिश्रितनिर्माण एव आपसी सम्बन्ध किसी प्रभावशाली ध्रुवीकरण को प्रभावित करता है। सरचना एक बहुजातीय, बहुधार्मिक प्रक्रिया है, जैसाकि भारत के उदारवादी प्रजातान्त्रिक ढॉचे से स्पष्ट है। लोग अपनी जाति, सम्प्रदाय वर्ग और सामाजिक समूहो को देखते है। इससे आबादी, समूह एव समूहो के प्रभाव की ध्रुवीकरण प्रक्रिया को गति मिलती है।

3 शिक्षा — शिक्षा जागृति पैदा करती है, अपने हितो को समझने मे सहायक होती है और अपनी रुचि के हितो के चयन को वरीयता प्रदान करती है, यद्यपि एक अनपढ आदमी भी अपनी हितकारी परिस्थितियो को समझ सकता है, किन्तु शिक्षा विश्लेषण और समझदारी की क्षमता के विकास मे सहायक होती है।

4 निहित आर्थिक तत्व — आर्थिक तत्व जैसे सुअवसर, असमानता और आर्थिक हितो के बीच टकराव ही लोगो मे ध्रुवीकरण की भावना जागृत करते है। इस प्रकार प्रभावशाली ध्रुवीकरण चयन एव वरीयता की सुविधा, मानक तथा जनता द्वारा प्रदर्शित रुझान से उत्पन्न होता है।

5 राजनैतिक नेतृत्व एव दल जनमत का ध्रुवीकरण सामुदायिक नारो, जातीय आकाक्षाओ, भावनात्मक भाषण, आश्वासन एव नीतियो के द्वारा करते हैं।

कुछ ध्रुवो पर जनता का निर्णय इसलिए सभव हो पाता है कि वे समझते हैं कि ऐसा करके वे अपने हितो की सुरक्षा कर सकेगे। स्कोस्टर का कहना है कि भय और झूठ की तनावपूर्ण स्थितियो मे लोगो मे एक—दूसरे के प्रति प्रगाढ इच्छा जग जाती है।

मानवीय ध्रुवीकरण का निरीक्षण एक संगठित ओर जुडे हुये समूह को प्रदर्शित करता है। जो निम्नलिखित बिन्दुओं पर आधारित है।[59]

1 एक बहुध्रुवीय समाज मे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अचलो मे व्यक्ति विरोधाभासी सहअस्तित्व मे कमजोर दिखायी देता है।

2 व्यक्ति समझता है कि सामूहिक हितो मे उसका भी हित सन्निहित है।

3 सामूहिक हित व्यक्ति के हितो मे तब समाहित होता है, जब वह पूर्ण का अविभाज्य अग होता है। यही कारण है कि स्क्रोमिस ने जिन दो विभिन्न समुदायो के व्यक्तियो की चर्चा की है, वह सामुदायिक कलह मे बदल जाता है।

4 देश का कानून समूह या ध्रुवीकरण की आज्ञा देता है। यही कारण है कि कुछ राजनीति विज्ञानी साम्प्रदायिकता को धर्मनिरपेक्ष भारतीय प्रजातन्त्र का मानस पुत्र कहते हैं।

5 जब समाज सामन्तवादी और बहुलवादी होता है, तब यह सभी सामाजिक समूहो के हितो को समान अवसर प्रदान करते हुये सरक्षण प्रदान करता है। जिससे प्रतिस्पर्धा, परस्पर हितो के बीच तनाव एव कलह उत्पन्न होती है, जो कुण्ठा की स्थितियो का निर्माण करती है।

6 एक व्यक्ति द्वारा दूसरे समुदाय के किसी व्यक्ति के प्रति की गयी चोट या नुकसान दूसरे समुदाय का नुकसान समझा जाता है। इसीलिये दगो के बीच निरपराध लोगो की हत्याये की जाती है।

7 वर्तमान घृणा, ऐतिहासिक अनुभवो और पूर्वानुमानित धारणाये सामाजिक समूहो के विरुद्ध व्यक्ति के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करती हैं, जिनके साथ अतीत के कडवे अनुभव जुडे होते है। ऐसा ध्रुवीकरण जो गहरी घृणा पर आधारित है, जनता को कानून विहीन, गन्दी, सामाजिक उठापटक मे झोक देता है।

सामुदायिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया सहभागिता के विचारो एव दृष्टिकोणो के आधार पर पैदा होती है, जो एक निश्चित लक्ष्य के पहचान के मुद्दे तक पहुँचती है। आम जनता इन मुद्दो को पहचान जाती है और एक सामूहिक चेतना विकसित करती है। सामूहिक चेतना अपने नये सवेगो का निर्माण करती है या नेताओ द्वारा निर्मित की जाती है। यदि ऐसे नेताओ का सम्बन्ध किन्ही साम्प्रदायिक सगठनों से होता है तो यह भावनात्मक सवेग बडी तीव्र गति से किसी योजना के तहत बढाये जाते है। इन मुद्दो से सम्बन्धित जनता की कुण्ठा की जड़ें बहुत पुरानी और गहराई तक सामूहिक चेतना मे फैली होती है और अपने मार्गों का निर्माण किया करती हैं। सामूहिक चेतना और जागरूकता

एक ध्रुवीकृत सामूहिक व्यक्तित्व का निर्माण करती है और इस सामूहिक चेतना से जिन नेताओ का अभ्युदय होता है उनका प्रभाव इतना अधिक होता है कि ध्रुवीकरण की प्रक्रिया बलवती होकर साम्प्रदायिक दगो के रूप मे प्रस्फुटित हो जाती है।

यह घटनात्मक सामूहिक व्यवहार अकारण ही नही पैदा होते, बल्कि इन्हे मूल्यो के तार्किक आधार पर सगठित किया जाता है। स्मेल्सर इसे इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि प्रत्येक घटना की एक सीमा होती है, जिसके पश्चात दूसरी घटना उसे कार्यान्वित करती है।[60] अर्थात पहले वाली घटना आने वाली घटना के क्रियाकलापो का आधार प्रस्तुत करती है।

वी वी सिह ने ध्रुवीकरण के कारक अवयवो को इस प्रकार विश्लेषित किया है—

	ध्रुवीकरण की प्रक्रिया	**अवयवीय क्रियात्मकता**
साम्प्रदायिक सगठन ध्रुवीकरण के विभिन्न स्तरो को निम्नलिखित आधारो पर गति प्रदान करते है — ◆ जनता को मुद्दो की पहचान करने मे सहायता प्रदान करना, ◆ जनसम्पर्क से वैचारिक आदान—प्रदान का अवसर मुहैया कराना और नेतृत्व प्रदान करना।	◆ सामाजिक सरचना मे समूहो पर आधारित झुण्ड, ◆ ध्रवो पर आधारित समूहो को प्रभावित करने वाले मुद्दो की पहचान, ◆ दूसरो से सम्पर्क स्थापित कर सामूहिक व्यक्तित्व और चेतना का विकास करना, ◆ नेतृत्व का विकास, सगठन और काल योजना के प्रति सगठित प्रयास।	◆ अविभाज्य अवयवीय तनाव एव दबाव, ◆ निष्कर्षो पर आधारित विश्वास, ◆ कारक तत्वो की खोज ◆ कार्य योजना के प्रति प्रेरणा, ◆ सामाजिक नियत्रण की क्रियान्विति।

घनघोर प्रतिस्पर्धा का यह भावनात्मक प्रदर्शन बहुत से अन्य कारक तत्वो द्वारा उत्पन्न होता है जिसे पुनर्स्थापित ध्रुवीकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ — आर्थिक हित मे टकराव के कारण लोग दो अलग ध्रुवों पर सगठित हो जाते हैं। इसे आगे चलकर राजनैतिक हितों में पुनर्स्थापित ध्रुवीकरण समझना चाहिये। अर्थात

1 आर्थिक आधारो पर ध्रुवीकरण 2 राजनैतिक कारको के कारण ध्रुवीकरण। इस प्रकार अलग–अलग दो ध्रुवो पर विघटित होकर सगठित होने के अवसर बढ जाते है। पुनर्स्थापित ध्रुवीकरण के अन्य अनेक कारण हो सकते है।

जैसे घृणा लोगो को सगठित करने मे अहम् भूमिका निभाती है। पूर्व अतीत के अनुभवो, खुलेपन के क्रिया कलाप और रिश्तो के आधार पर इस घृणा का निर्माण होता है। इस क्षेत्र मे इतिहास अहम् भूमिका निभाता है। ईर्ष्या किसी व्यक्ति मे द्वेष की भावना भरकर उसे अलग कर देती है और दृष्टिकोण निर्माण को प्रभावित करती है। समुदाय द्वारा अपनाया गया यह दृष्टिकोण व्यक्तियो के सगठित होने मे सहायक होकर एक सामूहिक व्यक्तित्व के निर्माण मे सहायता करता है। ईर्ष्या का आधार पूर्व या अतीत का इतिहास होता है। समाज को इस प्रकार शिक्षित करना चाहिये कि वह अप्रिय घटनाओ की स्थितियो को समझकर ईर्ष्या एव द्वेष पर विजय प्राप्त कर सके क्योकि पूर्व मे किया गया कोई कार्य वर्तमान के क्रियाकलाप से बदला नही जा सकता। दूसरे के सम्पर्क मे आने पर ही ईर्ष्या द्वेष को कम किया जा सकता है। खुले सम्पर्को का सिद्धान्त जैसे– उन्हे अपनाना, सुविधा प्रदान करना ओर खुलेपन के द्वारा कारक तात्विक प्रेरणा को कम किया जा सकता है। [61]

ध्रुवीकरण का एक पक्ष अन्तर सामुदायिक ध्रुवीकरण है। किसी भी धार्मिक एव ध्रुवीकृत समुदाय मे चाहे कितनी भी एकजुटता हो उसमे छोटे–छोटे वर्ग समुदाय या समूहो का अस्तित्व होता है। जब तक लोग किसी ध्रुवीकरण को अगीकार नही करते तब तक समुदाय एकजुटता के साथ एक रहता है, किन्तु जैसे ही उपध्रुवीकरण का प्रारम्भ होता है तो उपसमूह मतभेदो के साथ उभर कर पहचान मे आ जाते हैं। इसलिये उपध्रुवीकृत समूह को सम्पूर्ण समुदाय के समक्ष वरीयता देना एक अन्तर सामुदायिक सघर्ष का स्वरूप प्रदर्शित करता है। जब तक उपध्रुवीकृत समूहो को वरीयता नही मिलती तब तक ध्रुवीकृत आधारो की आबादी सगठित एकताबद्ध और एक जुट होती है।

इनके ध्रुवीकरण का आधार क्षेत्रीय, जातीय और भाषायी हो सकता है। मुसलमानो मे शिया, सुन्नी और अहमदिया उपध्रुवीकृत समूह हैं और हिन्दुओ मे शैव, वैष्णव, सनातनधर्मी और वेदान्ती आदि उपध्रुवीकृत समूह हैं। ईसाइयो मे प्रोटेस्टेंन्ट और कैथोलिक और सिखो मे मजहबी, निरकारी एव जाति आधारित जाट, भापे, घूदे आदि उपध्रुवीकृत समूह हैं। यद्यपि कि सिख और मुसलमान एक जुट समूह हैं, फिर भी इनमें छोटे–छोटे समूहो का अस्तित्व है।

उपसमूह की पहचान के कारक तत्व ही इनको पहचान प्रदान करते हैं। जैसे ही अलगाव एव अलग अस्तित्व की प्रवृत्ति पैदा होती है तो मतभेद और अलग रास्तो के कारण बहुलवाद पैदा होता है और यह अलगाव क्षेत्रीयता, जातीयता तथा भाषायी आधार पर बॅट जाता है। ऐतिहासिक उदाहरणो द्वारा इसे समझा जा सकता है। जैसे — पाकिस्तान का निर्माण धार्मिक ध्रुवीकरण के कारण और आगे पुन पाकिस्तान का बॅटवारा एव बॉग्लादेश का निर्माण भाषायी ध्रुवीकरण के आधार पर हुआ। इसके भी आगे पख्तून अपनी क्षेत्रीय एव सास्कृतिक स्वायत्तता के लिये पाकिस्तान के मुसलमानो से लडाई कर रहे हैं।

जैसे ही समूह से कोई छोटा समूह अलग होता है तो यह अपनी पहचान अलग छोटे ध्रुव के रूप मे करने लगता है और व्यक्ति दूसरे समूह के व्यक्तियो से अपने को भिन्न मानता है। उदाहरणार्थ जब कोई सिख अपने को निरकारी समझने लगता है या कोई मुसलमान अपने को अहमदिया समझने लगता है तो वह समुदाय के अन्य सदस्यो से भिन्न प्रतीत होता है और जब यह प्रक्रिया चल निकलती है तो बनने वाला समूह पहले के मूल समूह से बिल्कुल भिन्न होता है। अन्तर—समुदायो के मतभेद, द्वन्द और सघर्ष व्यक्तियो के विभिन्न व्यवहारो पर आधारित होते है।

एक जुटता की प्रक्रिया मतभेदो, वचित अवरोधो और हितो मे सघर्ष से प्रारम्भ होती है। ऐसी परिस्थिति मे छोटे ध्रुवो पर आधारित ध्रुवीकृत आबादी बाकी समुदाय को अपना शत्रु समझती है। एक सगठित पहचान वाले समूह का अभ्युदय होता है, जिसमे अलगाव की प्रवृत्तियॉ परिलक्षित होती हैं। यदि ऐसा समूह शक्ति प्राप्त कर लेता है तो किसी भी सघर्ष के दबाव का सामना कर लेता है और यदि ऐसी आबादी समुदाय की एक निश्चित पहचान वाले झुण्ड मे रहती है तो दगा उत्पन्न करने वाली परिस्थितियॉ बन जाती है। जैसा कि लखनऊ मे शिया और सुन्नियो के दगे मे देखा जा सकता है। इसी प्रकार सिखो एव निरकारी सिखो मे दिल्ली और पजाब मे तथा उत्तर प्रदेश बिहार एव मध्यप्रदेश मे सवर्ण हिन्दुओ द्वारा दलित हिन्दुओ पर आक्रमण को अन्तर सामुदायिक उपद्रव के रूप मे देखा जा सकता है।

साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की व्यवहारिक परिणति साम्प्रदायिक हिसा के रूप मे होती है। इसके प्रस्फुटन मे अफवाहों का महत्वपूर्ण हाथ होता है। इन अफवाहों के द्वारा दगा पैदा करने वाले तत्वों पर आधारित बहुध्रुवीय इलाकों में रहने वाले लोग सम्बन्धित समूह के पीड़ित लोगों के प्रति सहानुभूति के कारण

आन्दोलित हो जाते हैं। इन अफवाहो और सूचनाओ से तनाव और शत्रुता बढती है तथा दगे का खतरा पैदा हो जाता है। इन बस्तियो के क्षेत्रीय सामुदायिक सगठन और साम्प्रदायिक आधार पर आधारित राजनीतिक दल अपनी भावनात्मक सवेदनाओ की अभिव्यक्ति के द्वारा ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान कर देते हैं।

अफवाहे वह महत्वपूर्ण हथियार हैं जिससे समाज और लोगो मे तनाव ओर उत्तेजना फैलती है। अफवाह सदेह की भावना, असुरक्षा, धमकी और भय का वातावरण बनाती है। अफवाह गरम सामाजिक माहौल मे फैलती है और इसे लगातार गरम करती रहती है। ऐसी स्थिति मे अफवाहो पर विश्वास हो जाता है। लोग उन पर निर्भर करने लगते है और अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते हैं। यह एक बहुत ही गभीर एव प्रभावशाली हथियार है, जो लोगो को ऊँचे दर्जे तक अमानवीय बना देती है।

अफवाहों के निम्नलिखित अंग हैं :

1 यह अशत मिथ्या सन्दर्भों पर आधारित बयान है।

2 यह बढा—चढाकर बनाया गया चुम्बकीय बयान है।

3 यह सोद्देश्य होती है तथा किसी व्यक्ति, सगठन या समूह को भावनात्मक, मानसिक और भौतिक रूप से चोट पहुँचाती है।

4 एक सवेगात्मक लहर पैदा करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

अफवाहें यदि एक बार फैला दी जॉय, तो इन्हे नियत्रित करना बहुत ही कठिन है क्योकि हर नया आदमी इनमे नये सन्दर्भ जोडकर बढाता रहता है। इन्हे अधिक चुटीला ओर धारदार बनाने के लिए तथ्यो को तोड—मरोडकर प्रस्तुत किया जाता है। अभिव्यक्ति की ये श्रृखलाये कई गुना बढती जाती है और इन्हे गिन पाना बहुत ही कठिन है। इस प्रकार अफवाहे समाज के एक विस्तृत अचल मे फैल जाती हैं। आपत्ति और दर्द की घनीभूत पीडा इन फैलती हुई अफवाहो के द्वारा पैदा की जाती है।

यह अफवाह उन लोगो द्वारा फैलायी जाती है जो ध्रुवीकृत जनसख्या के बीच रहते हैं। हिसा के प्रति अधिक सवेदनशील लोग इन घटनाओ को सदेह की दृष्टि से देखकर असुरक्षा की अफवाह फैलाते हैं। अपने अनुभवो से इसे नये तरीके से गढकर उत्सुकतापूर्वक लोगों के बीच फैलाते हैं। वे अपने आपको ध्रुवीकृत समाज का जिम्मेदार सदस्य समझते हैं, लेकिन वास्तव मे गैर

जिम्मेदार ढग से अफवाहो को फैलाते हैं। चूँकि अफवाहो का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक सदेहो से होता है, अत वे इसे बेहिचक स्वीकार कर लेते है। इस प्रकार विस्फोटक स्थितियो का निर्माण होने लगता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जहॉ साम्प्रदायिकता व्यक्ति या समूह की मन स्थिति है वही साम्प्रदायिक हिसा इसका वाह्य विस्फोटक स्वरूप है जो कि ध्रुवीकृत समूहो द्वारा उत्पन्न किया जाता है। जिसके पीछे उनके निहित स्वार्थ काम करते है। ऐसी स्थिति मे राजनैतिक एव धार्मिक तत्वो द्वारा मच, सगठन, नेतृत्व एव कार्ययोजना प्रस्तुत की जाती है। साम्प्रदायिकता का राजनीतिकरण ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तेज कर समूहीकरण को प्रोत्साहन देता है। जजबातो को भडकाकर दगे करा दिये जाते है। आम आदमी की सहभागिता शुरू हो जाती है और तब तक चलती रहती है जब तक कि कठोर प्रशासनिक कार्यवाही द्वारा इसे नियत्रित नही किया जाता।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

साम्प्रदायिकता क्या है? तथा इसकी हिसात्मक अभिव्यक्ति कैसे होती है ? के विवेचन के पश्चात इसके उदय और विकास के कारणो पर राष्ट्रीय सन्दर्भ मे दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर इसके उदय एव विकास के लिये तमाम परिस्थितियॉ उत्तरदायी थी।

औपनिवेशिक काल मे जो सामाजिक—आर्थिक पृष्ठभूमि विकसित हुई, उसे सन्दर्भित किया जा सकता है। वास्तव मे साम्प्रदायिकता भारतीय अर्थव्यवस्था के औपनिवेशिक चरित्र के लक्षणों मे से एक और उपनिवेशवाद के फलस्वरूप अवरुद्ध विकास का परिणाम है। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था, अल्पविकास और आर्थिक ठहराव ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की, जिसने समाज के भीतर अत्यधिक विभाजन एव शत्रुता के साथ ही समाज के उग्र रूपान्तरण को विकसित किया। उपनिवेशवाद के प्रभाव के सम्बन्ध मे यह बात मध्यम वर्ग पर विशेषत सत्य थी, जो कि ईर्ष्या निराशा तथा आशकाओं से ग्रस्त था। विशेष रूप से निम्न एव मध्यम वर्ग के शिक्षित लोगों के बीच, जिनके बीच भूमि का सहारा भी नही था, सरकारी नौकरियॉ पाना कठिन होता जा रहा था। सुशिक्षित युवको के लिये आर्थिक उपलब्धियो एव सफलता के अवसर घट रहे थे।

आर्थिक मदी की अवधि (1921—31) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह स्थिति और उभरकर सामने आयी। इसके परिणामस्वरूप मध्यम वर्ग, निम्न

वर्ग और नवशिक्षित लोगो की सामाजिक, आर्थिक स्थिति और अवसरो मे विशेषत गिरावट आती गयी। वे निरन्तर बेरोजगारी के भय से आक्रान्त रहते थे। इतना ही नही निम्न मध्यम वर्ग का चौतरफा शोषण होता था, जिसमे देशी साहूकार, व्यापारी एव पूँजीपति सभी सम्मिलित थे।

आर्थिक गतिरोध के कारण अत्यल्प अवसरो एव ससाधनो के लिये मध्यमवर्गीय भारतीयो को एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करनी पडती थी। तत्कालीन परिस्थितियो मे मध्यमवर्गीय मुसलमानो का सोचना था कि सरकारी नौकरियो एव व्यवसायो मे मुसलमानो का हिस्सा बढा दिया जाय तो नौकरियो एव व्यवसायो के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा मे उनकी स्थिति मजबूत रहेगी। इसीलिये मध्यमवर्गीय हिन्दुओ का विचार था कि मुसलमानो के हिस्से मे वृद्धि होने से उनका हिस्सा मारा जायेगा। इस प्रकार हिन्दुओ एव मुसलमानो को एक दूसरे का प्रतिस्पर्धी बनाकर खडा किया जा सकता था, जो एक दूसरे का अवसर छीनने के लिये उद्यत थे। किसी क्षेत्र मे हिन्दुओ का अधिक अनुपात मे नौकरियो मे होना हिन्दुओ का आर्थिक प्रभुत्व कहा जा सकता था। वही उन्ही नौकरियो मे मुसलमानो का हिस्सा अधिक होने पर इसे हिन्दुओ के लिये 'मुसलमानो का खतरा' कहा जा सकता था।[62]

इसी पृष्ठभूमि मे भारत मे साम्प्रदायिकता के विकास मे ब्रिटिश शासन और उसकी नीतियो ने महती भूमिका निभाई। यद्यपि कि इस नीति की सफलता तभी सुनिश्चित हुई जब भारतीय समाज की आतरिक सास्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियो ने इसके लिये उर्वर जमीन तैयार की। इसका सभव होना केवल इस बात पर ही निर्भर नही था कि इससे उपनिवेशवाद की राजनीतिक आवश्यकताओ की पूर्ति हो रही थी अपितु भारतीय समाज के कुछ हिस्सो की सामाजिक आवश्यकताये भी पूरी हो रही थी।

ब्रिटिश प्रशासको ने किसी सम्प्रदाय विशेष या साम्प्रदायिकता का समर्थन इसलिये नही किया कि उन्हे सम्प्रदाय विशेष या साम्प्रदायिकता से लगाव था बल्कि ब्रिटिश नीति का लक्ष्य भारतीयो को विभाजित कर उनके राजनीतिकरण एवं राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया को रोकना था। हिन्दू एव मुसलमानों के बीच पनपने वाला तनाव अग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध अवरोध खडा करने वाली एकता को सतत कमजोर करता रहे। यह एक योजना थी जिसे अग्रेजो ने अपने शासन काल के दौरान सतत बनाये रखा। डी.ई स्मिथ के विचार से "अग्रेजों ने हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या पैदा नही की उन्होने इसे समय–समय पर उद्देश्यों की प्राप्ति' के निमित्त समर्थन दिया।"[63] 1857 के

विद्रोह के पहले 1843 मे लार्ड एलनबरो ने कहा था —"मै इस तथ्य को नजरअदाज नही कर सकता कि मुसलमान मूलत हमारे शत्रु है और हमे हिन्दुओ को मिलाकर रखने की नीति अपनानी चाहिए।"[64] विद्रोह के दमन के बाद लार्ड एलफिस्टन ने कहा —"लोगो मे फूट डालो और उन पर शासन करो' ऐसा पुराने रोमन लोगो का आदर्श (डिवीडेक्ट इम्प्रा) था और यही हमारा भी आदर्श है।"[65] बाद मे हिन्दू एव मुसलमानो के बीच मतभेद पैदा करने की नीति ही साम्राज्यवादी नीति बन गयी।

जवाहर लाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा मे इस पर विचार करते हुये लिखा है — "अपनी योजना के विफल होने पर दूसरो की आलोचना कर उन पर आरोप लगाना आसान है नि सन्देह ब्रिटिश सरकार ने अतीत और वर्तमान मे हममे फूट डालकर विभिन्न वर्ग पैदा करने की अपनी नीति को आधारित रखा इसकी उपेक्षा करना और इसके विरुद्ध कोई तर्क न प्रस्तुत करना, किसी के भी चिन्तन मे एक त्रुटि है।" इस सन्दर्भ मे 1936 के लखनऊ अधिवेशन मे दिये गये उनके वँक्तव्य को उद्धृत करना समीचीन है —"साम्प्रदायिक समस्या कतिपय विशिष्ट परिस्थितियो से उत्पन्न हुई है, जिन्होने तीसरे पक्ष को इस बात का मौका दिया है कि वह अन्य दो पक्षो से अनुचित लाभ उठा सके।"[67] इसी बात की पुष्टि लार्ड लोथियान को 1936 मे लिखे उनके पत्र से होती है— "स्पष्ट है कि कोई यह नही कह सकता कि भारत के विभाजन की प्रवृत्ति अन्तर्निहित नही थी और राजनीतिक सत्ता मिलने की सभावना को देखते हुये इसके बढने की आशका थी। इस प्रवृत्ति को दबाने वाली नीति को अपनाया जा सकता था। इसे उभारना भी सभव था। सरकार ने दूसरी नीति को अपनाया और इस प्रकार देश के भीतर प्रत्येक विभाजक प्रवृत्ति को बढावा मिला।"[68]

बिपिन चन्द्र भी इस बात का समर्थन करते है "भारतीय समाज मे विभाजक प्रवृत्तियॉ पहले ही विद्यमान थी और वे उत्पन्न भी की जा रही थी। लेकिन साथ ही, एकीकरण की शक्तियॉ भी सक्रिय थी। शासन अपनी विशाल शक्ति द्वारा या तो राष्ट्रीय एकता को बढावा दे सकता था अथवा विभिन्न प्रकार के विभाजनो को बनाये रखकर उन्हें प्रोत्साहन दे सकता था। औपनिवेशिक शासन होने के कारण राज्य ने दूसरा मार्ग ही चुना।"[69] इसी सन्दर्भ मे रवीन्द्र नाथ टैगोर के विचारो को उद्धृत किया जा सकता है, जब उन्होने 1907 मे राजनीतिक नेताओ को चेतावनी दी थी —"असल चिन्ता की बात तो यह है कि मुसलमानो को हिन्दुओ के खिलाफ इस्तेमाल किया जाता है। महत्त्वपूर्ण यह

नही है कि उनका इस्तेमाल कौन करता है। शैतान भीतर तभी घुस सकता है, जब उसके आने के लिये रास्ता हो।''[70] के0बी0 कृष्ण भी ब्रिटिश नीति की चर्चा साम्प्रदायिकता को विकसित करने मे करते हैं —''देश की सामाजिक अर्थव्यवस्था से उत्पन्न होने वाले ये सघर्ष (भारतीय साम्प्रदायिक वर्गो एव समूहो के भीतर) सामन्तवादी परिस्थितियो मे विकसित होते पूँजीवाद के युग में ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा उसकी एक के खिलाफ दूसरे को खडा करने की नीति द्वारा तेज होते है।''[71] ऐसी ही धारणा का समर्थन ए आर देसाई भी करते है।[72]

सामाजिक आर्थिक प्रतिस्पर्धा के चलते मध्यवर्ग भी इसमे प्रमुख भूमिका निभा रहा था। 'यही वह भूमि-भी थी, जिसके चलते सरकारी नीति प्रच्छन्न वैमनस्यपूर्ण भावनाओ के साथ आसानी से खिलवाड कर सकी और उसके आधार पर एक पूरी राजनीतिक व्यवस्था खडी कर सकी।[73] इसी सन्दर्भ मे बेनी प्रसाद ने प्रत्यक्षत यह तो नही कहा कि साम्प्रदायिक विचार धारा अग्रेजो द्वारा उद्भूत की गयी, किन्तु स्पष्टत उन्होने ब्रिटिश नीति की अर्न्तनिहित भावना को अवश्य लक्ष्य किया —''पिछले 80 वर्षो के दौरान विभिन्न घटको एव भारतीय परिस्थिति की गौड बातो के क्रमश समायोजन के रूप मे ब्रिटिश सरकार ने ऐसी नीतियॉ बनायी और ऐसे कार्य किये, जिनका लक्ष्य दोनो सम्प्रदायो के मतभेदो को बनाये रखना और उन पर बल देना था।'[74]

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त और उसके बाद बढते हुये राष्ट्रवाद की विफलता सुनिश्चित करने हेतु औपनिवेशिक शासन ने साम्प्रदायिको को समर्थन देने की नीति को हथियार के रूप मे प्रयुक्त किया। अल्पसख्यको की सुरक्षा को औपनिवेशिक शासको ने प्रमुख तर्क के रूप मे प्रस्तुत किया — ''उपनिवेशो का कल्याण, उन्हे सभ्य बनाने का लक्ष्य, श्वेतो का बोझ इत्यादि तर्क उत्तरोत्तर रूप से अपनी विश्वसनीयता खोते जा रहे थे। उस समय साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञो, अधिकारियो एव विचारको का कहना था कि अल्पसख्यको को बहुसख्यको के प्रभुत्व दमन और शोषण से बचाने के लिये आवश्यक है कि भारत पर अग्रेजो का राज बना रहे।[75]

भारतीय राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को बाधित करने एव भारतीयो के कुछ वर्गों के बीच से अपने लिये समर्थन जुटाने के लिये औपनिवेशिक शासको ने जो दीर्घकालिक नीति अख्तियार की, उसका लक्ष्य साम्प्रदायिक राजनीति और सगठनो को प्रमुखता देना था। यही कारण था कि मुसलमानो को मिलने वाला समर्थन उसकी हिन्दू विरोधी नीति का हिस्सा न होकर राष्ट्रीयता विरोधी नीति का अग था, क्योकि वे साम्प्रदायिकता से उद्भूत प्रशासनिक

कठिनाइयो की तुलना मे राष्ट्रवादी आन्दोलन के माध्यम से विकसित हो रही भारतीय एकीकरण की प्रक्रिया को अधिक खतरनाक मानते थे। इसकी पुष्टि 1897 मे सेक्रेटरी आफ स्टेट हेमिल्टन द्वारा वायसराय एल्गिन को लिखे पत्र से होती है — "समझ मे नही आता किसकी कामना करे। भारतीयो के बीच विचारो एव कर्म की एकता राजनीतिक रूप से बहुत खतरनाक होगी। वैमनस्य और टकराव प्रशासन के लिये कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं। दोनो मे दूसरा विकल्प ही कम खतरनाक है। यद्यपि इसमे टकराव वाले स्थान पर उपस्थित लोगो की चिन्ता और जिम्मेदारी बढ जाती है।"[76]

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जब साम्प्रदायिक घटनाये या आन्दोलन साम्राज्यवाद विरोधी रुख अख्तियार कर लेते थे, तो उन्हे नियत्रित किया जाता था। जैसे 1897 के कलकत्ता के दगे, 1913 का कानपुर की मस्जिद का मामला एव 1922 का मोपला विद्रोह। इसी प्रकार 1930 के दशक का खाकसार आन्दोलन काग्रेस विरोधी होने के साथ—साथ जब सरकार विरोधी भी होता गया तो कठोरता के साथ इसका दमन कर दिया गया। औपनिवेशिक शासन इस बात के लिये काफी सजग था कि साम्प्रदायिकता शक्तिशाली होकर सरकार विरोधी न बन जाय। इसीलिये मुस्लिम साम्प्रदायिकता को समर्थन देने की नीति अपनायी गयी, क्योकि यदि हिन्दू साम्प्रदायिकता को समर्थन दिया जाता तो विभिन्न जातियो एव सम्प्रदायो मे विभाजित हिन्दुओ को सगठित होने का अवसर मिल जाता जो कि औपनिवेशिक शासन के प्रतिकूल होता। इससे स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिकता का समर्थन उसी स्थिति मे किया जा रहा था कि आवश्यकता पडने पर उसे नियत्रित किया जा सके।

औपनिवेशिक शासन मुसलमानो मे आधुनिक राजनीति एव राजनीतिक आन्दोलन का प्रादुर्भाव नही चाहता था। अत बीसवी शताब्दी के चौथे दशक के उत्तरार्द्ध तक नियन्त्रित साम्प्रदायिकता की यह नीति चलती रही। स्पष्टत इस नीति का पालन वे 1857 के विद्रोह के बाद से ही कर रहे थे, क्योकि उन्होने हमेशा सर सैय्यद अहमद खान को समर्थन दिया। बिपनचन्द्र ने इसके पीछे के मन्तव्य को स्पष्ट किया है — "उन्होने (सैय्यद अहमद खान) उच्चवर्गीय मुसलमानों को किसी भी प्रकार की आधुनिक राजनीति और राजनीतिक आन्दोलन से अलग रखा और सरकारी सरक्षण का सहारा लेने की नीति अपनायी।"[77]

सैयद अहमद खान ने जब 1893 मे "मोहम्मडन ऍग्लों ओरियन्टल डिफेन्स एसोसिएशन" की स्थापना की तो इसमें यह निश्चित किया गया कि

यह मुसलमानो के बीच राजनीतिक जन आन्दोलन को प्रोत्साहित नही करेगी। साथ ही काग्रेस का विरोध और मुस्लिम हितो की रक्षा करेगी। यह न तो कोई राजनीतिक सभाये करेगी और न ही अन्य मुस्लिम सगठनो से सम्बद्ध होगी। इसका एक लक्ष्य युवा मुस्लिम बुद्धिजीवियो मे राजनीतिकरण की प्रवृत्ति को नियमित भी करना था।[78] इसी सन्दर्भ मे फ्रासिस राबिन्सन इस निष्कर्ष पर बल देते है– "सरकारी नीति के जरिये सैयद अहमद खान को उनके समुदाय के हिमायती के दर्जे तक उठाया गया और अलीगढ कालेज को वित्तीय एव राजनीतिक समर्थन दिया गया, क्योकि वह सरकार की राजनीतिक नियत्रण की योजना मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था।"[79] इसी प्रकार बगाल मे सर सलीमुल्लाह को नवाब बहादुर का वशानुगत खिताब दिया गया। जिससे कि वे पारम्परिक शासक के प्रभामडल से मडित होकर बगाली मुसलमानो के नेता के रूप मे उभर सके।

इसी प्रकार अग्रेजी शिक्षा के द्वारा भी ब्रिटिश शासन ने मुसलमानो को अलग करने की नीति अपनायी, जब उसने सैयद अहमद द्वारा स्थापित ऐंग्लो ओरियन्टल कालेज अलीगढ के प्रिन्सीपल के रूप मे अग्रेज प्रोफेसर थियोडोर बेक की नियुक्ति की। यह सस्था आगे चलकर मुसलमानो के सबसे बडे दार्शनिक एव राजनैतिक केन्द्र के रूप मे प्रतिष्ठित हुई। प्रो बेक को हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच गहरी खाई खोदने मे सफलता मिली। सर जॉन स्ट्रेची द्वारा बेक का मूल्याकन उन अग्रेजो मे किया गया जो दूर देश मे अग्रेजी साम्राज्य निर्माण की प्रक्रिया मे सलग्न रहे।[80] स्ट्रेची के मूल्याकन की पुष्टि इस बात से होती है कि कालेज से निकले बौद्धिको मे ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी की भावना थी– "अलीगढ कालेज मे आधुनिक मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग तैयार हुआ। इस बुद्धिजीवी वर्ग मे पाश्चात्य सस्कृति के लिये उत्साह और ब्रिटिश सरकार के प्रति राजनीतिक भक्ति की भावना कूट–कूटकर भरी हुई थी। मुसलमानो को ब्रिटिश ताज की सुयोग्य और उपयोगी प्रजा बनाना ही कालेज का लक्ष्य था।[81]

साम्प्रदायिक मॉगो को स्वीकार करने की ब्रिटिश नीति 1906 के बाद और अधिक प्रभावकारी रूप मे परिलक्षित हाती है, जब कि वायसराय मिण्टो ने आगा खान के नेतृत्व मे रूढ़िवादी उच्चवर्गीय मुलसमानो के शिष्टमडल का स्वागत किया। उसका मॉग पत्र भारतीय समाज एव राजनीति की साम्प्रदायिक समझ पर आधारित था। वायसराय ने वही और उसी वक्त उनमे से अधिकाश मॉगो को स्वीकार करके उसके निहित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का अनुमोदन

कर दिया।[82] इस प्रकार शिष्टमडल को अपने पक्ष मे यह दावा करने मे बल मिला कि वे महामहिम सम्राट की मुस्लिम प्रजा के बडे भाग का प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुत इसके पीछे साम्राज्यवाद विरोधी सघर्ष छिन्न–भिन्न करने की ब्रिटिश मनोवृत्ति काम कर रही थी।

1909 के सवैधानिक कानून के निर्माण के दौरान साम्प्रदायिक मॉगो को स्वीकार की जाने की नीति अपनायी गयी। जहॉ प्रतिनिधि सरकार के लिये काग्रेस की पचीस सालो से चली आ रही मॉग को ठुकरा दिया गया, वही जनसख्या के अनुपात से अधिक सीटो के आरक्षण की मुस्लिम लीग की मॉग को स्वीकार कर लिया गया। बीसवी शताब्दी के दूसरे दशक मे खिलाफत–असहयोग आन्दोलन के कारण मुस्लिम साम्प्रदायिकता के प्रति सरकारी नीति मे शिथिलता आयी, किन्तु हिन्दू–मुस्लिम एकता की विफलता एव 20 के दशक मे साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन के चलते अग्रेजो को नये सिरे से इस नीति को प्रयुक्त करने का अवसर मिला। जिसे गोलमेज परिषद के लिये सदस्यो के चुनाव करने मे साम्प्रदायिक नेताओ के प्रति पक्षपात की सरकारी नीति मे देखा जा सकता है।

1937 के चुनावो मे लीग के खराब प्रदर्शन के बाद, जबकि यह मुसलमानो के बहुत छोटे से भाग का प्रतिनिधित्व कर रही थी, के बावजूद ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति राजभक्त मुसलमानो को लीग मे शामिल होने के लिये प्रोत्साहन देने की रही। साथ ही राष्ट्रवादी मुसलमानो को निरुत्साहित किया जाता रहा। अब अग्रेजो ने सतुलित साम्प्रदायिकता की नीति छोडकर अनियत्रित साम्प्रदायिकता की नीति अपना ली। 1937 के पश्चात साम्प्रदायिकता अथवा हिन्दुओ ओर मुसलमानो के बीच विभाजन भारत मे साम्राज्यवादी सत्ता और उसकी उपस्थिति जताने का प्रमुख राजनीतिक अथवा शिष्ट साधन रह गया था, अग्रेजो ने अपना सर्वस्व दॉव पर लगाने का फैसला कर लिया।[83] 1938 मे सेक्रेटरी आफ स्टेट जेटलैंड ने लिखा था कि "उस समय उन्हे इस बात का दृढ़ विश्वास होता जा रहा था कि भारत की भावी सरकार का स्वरूप निर्धारित करने मे मुख्य भूमिका अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की होगी।"[84]

इस प्रकार यह नीति मुस्लिम साम्प्रदायिकता, मुस्लिम लीग और जिन्ना को सशक्त बनाने एव उन्हे काग्रेस और राष्ट्रवादी आन्दोलन के विरुद्ध प्रभावी रूप से खडी करने की थी। जिसकी अगली कडी के रूप मे वायसराय लिनलिथगो के अगस्त प्रस्ताव ने लीग को निषेधाधिकार प्रदान कर दिया। वायसराय ने वादा किया कि अंग्रेज भारत की शान्ति और कल्याण के लिये

अपनी वर्तमान जिम्मेदारियॉ किसी ऐसी सरकार को सौपने की बात सोच भी नही सकते जिसके सत्ताधिकार को भारत के राष्ट्रीय जीवन के बडे और सशक्त तत्व अस्वीकार करते है। न ही वे इन तत्वो को दबाने मे ऐसी सरकार के सहायक हो सकते हैं।[85] मार्च 1942 के क्रिप्स प्रस्ताव मे प्रच्छन्न पाकिस्तान की मॉग स्वीकार करके इसी नीति की पुष्टि की गयी।

जुलाई 1946 के अत तक मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक राजनीति ऐसे मुकाम पर पहुच गयी जहॉ से वापस लौटना सभव नही था। 1945–46 के चुनावो मे लीग की सफलता ने जिन्ना के इस दावे को प्रमाणित सिद्ध कर दिया कि मुस्लिम लीग मुसलमानो का सच्चा प्रतिनिधित्व करती है। राजनैतिक गतिरोध को दूर करने के लिये आये कैबिनेट प्रस्तावो को न तो काग्रेस और न ही मुस्लिम लीग ने पूरी तरह स्वीकार किया। वास्तव मे लीग ने 29 जुलाई 1946 के अपने बम्बई अधिवेशन मे कैबिनेट मिशन योजना पर अपनी पूर्व स्वीकृति को वापस ले लिया और 16 अगस्त को प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस मनाने का निश्चय किया। जिसके परिणामस्वरूप देश भर मे साम्प्रदायिक दगे हुये। इससे हिन्दुओ एव मुसलमानो के बीच वैमनस्य की जो भावना बढी, उसका उपयोग मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के अपने लक्ष्य प्राप्ति मे किया।

इस प्रकार औपनिवेशिक शासन द्वारा मुस्लिम साम्प्रदायिकता को सरक्षण, लीग को मुसलमानो का एकमात्र प्रवक्ता मानना, पाकिस्तान की मॉग को सिद्धान्त रूप मे स्वीकार लेना, तथा किसी भी राजनीतिक हल पर उसे निषेधाधिकार प्रदान करना एव यह कहना कि भारत को तब तक स्वाधीनता नही दी जा सकती जब तक कि हिन्दू एव मुसलमान एक नही हो जाते, एक सोची समझी नीति थी। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को खुला एव पूरा समर्थन देकर ऐसी एकता को असभव बना दिया गया। वास्तव मे विभाजन को प्रोत्साहन देकर उसकी सफलता के सारे उपाय किये जाते रहे।

प्राचीन एव मध्यकालीन इतिहास की तथ्यात्मक तोड–मरोड एव अवैज्ञानिक दृष्टिकोण ने साम्प्रदायिक विचारधारा को प्रचारित एव प्रसारित करने मे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। साम्प्रदायिक तत्वो द्वारा अतीत को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता था कि जो कुछ पूर्व में था उसका फिर से घटना अवश्यभावी है। अतीत की घटनाओं से इस प्रकार के ऐतिहासिक मिथक गढे जाते थे जिससे वर्तमान साम्प्रदायिक राजनीति को उचित ठहराया जा सके। अतीत की व्याख्या किसी विशिष्ट साम्प्रदायिकता के अनुकूल की जाती थी। इतिहासकारो ने कुछ क्षेत्रों को रेखाकित किया है, जहाँ दोनो

समुदायो ने सकारात्मक रूप से एक दूसरे को प्रभावित किया। जैसे—वस्त्र, भोजन, सामाजिक आचरण, भाषा और मुख्य रूप से स्थापत्य कला। लेकिन ऐसा सास्कृतिक सम्मिश्रण मुख्यत उच्च वर्ग तथा शिक्षित वर्ग तक ही सीमिति रहा है। दूसरी ओर हिन्दू एव मुस्लिम समुदायो मे सहानुभूति पूर्ण समझदारी धर्म और सस्कृति के सन्दर्भ मे नही दिखती है। मुसलमान हिन्दुओ को काफिर और सास्कृतिक रूप से पिछडा हुआ मानते हैं और हिन्दू मुसलमानो को कट्टरपथी तथा गन्दा मानते है। स्पष्टत हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच सैद्धान्तिक और सामाजिक मतभेद बने रहे, जिसके कारण एक हजार वर्षो के सजीव सम्पर्क के बावजूद इस्लाम और हिन्दू धर्म मे कोई सामाजिक मिलावट सभव नही हो सकी।[86]

ये दोनो पथ इसी प्रायद्वीप मे उद्भूत होने के बाद भी भिन्न रहे। जहॉ इस्लाम ने एक पैगम्बर एव कुरान की व्यवस्था दी वही हिन्दुत्व का कोई सस्थापक नही था, बल्कि यह विश्वास पर आधारित था। जिसकी अपनी व्यवस्था वेद और पुराण के दर्शन पर आधारित थी। इस्लाम मे सृष्टिकर्ता सृष्टि से अलग होता है और अपने हुक्मो द्वारा कार्यों को दबाव डालकर कराता रहा है। हिन्दू धर्म मे सृष्टि और स्रष्टा एक ही होते है तथा वे अविभाज्य है। ईश्वर एक सर्वव्यापक आत्मा है, जिसकी अभिव्यक्ति के बाह्य स्वरूप अगणित और अनन्त हैं।[87]

हिन्दू उस ईश्वर को अनेक रूपो मे पूजते है, चाहे वह जानवर हो, पितर हो, आत्मा हो या दैवीय अवतार हो। इसके विपरीत मुसलमानो का एक ही खुदा अल्लाह है और कुरान अपने अनुयायी को किसी अन्य रूप मे पूजने से मना करता है। मूर्तियो का स्वरूप या मूर्तियॉ, चित्र या समाधिस्थ प्रतिमाये मुसलमानो के लिये वर्जित हैं। मस्जिद एक पवित्र स्थान है जहॉ अमूर्त चित्र एव अल्लाह के निन्यानबे नाम ही लिखे जाते है। मूर्तियॉ हिन्दुओ की स्वाभाविक अभिव्यक्ति की माध्यम हैं और हिन्दू मदिर इस्लाम के ठीक विपरीत हैं।[88]

सह अस्तित्व की भावना से प्रेरित मेल—मिलाप एक बहुलवादी व्यवस्था मे मिले हुये समूह के अस्तित्व को विलीन कर देता है। जैसा कि ग्रीक, सीथियन, पारसी और हूण यहॉ आये और यहॉ के समाज मे विलीन हो गये क्योंकि उनका कोई व्यवस्थित धर्म नही था। लेकिन ईसाई और मुस्लिम जातियॉं यहॉ तक कि जब उन्होने आक्रमण करना बन्द कर दिया और भारत में बस गये तो सक्रिय रहकर भारतीयो को ईसाई धर्म एव इस्लाम में परिवर्तित करने के प्रयास मे सलग्न रहे।[89]

यही वे तथ्य थे जिन्होने साम्प्रदायिको को इस बात का अवसर दिया कि अतीत की व्याख्या को अपने स्वार्थपूर्ति के साधन के रूप मे प्रयुक्त करे। दोनो ही पक्षो के ऐसे लोगो द्वारा ऐतिहासिक तथ्यो को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया जिससे कि विभेद की खाई और चौडी होती गयी। विभिन्न धार्मिक समूहो, विशेषत हिन्दू एव मुसलमानो के सम्बन्ध मे स्थिर धारणाये, मिथक, प्रतीक और आख्यान साम्प्रदायिक विचारधारा के प्रमुख घटक थे। विभिन्न स्तरो पर दी जाने वाली इतिहास की शिक्षा समान्तर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से दी जाती थी, जिससे हिन्दू–मुसलमानो के बीच दरार पड जाती थी और प्रतिद्वन्दी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण एक–दूसरे को पुष्ट करते रहते थे। अतीत की यह व्याख्या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की पुष्टि करती थी। जैसे विशेष रूप से हिन्दू सम्प्रदायवाद की मूल सकल्पना है, उनका एक अलग जाति (नेशन) होना, उनकी एक सामान्य सस्कृति, जो उनके द्वारा इतिहास की विशिष्ट व्याख्या पर ही निर्भर करती है।[90]

विद्यालयो एव कालेजो मे इतिहास की व्याख्या साम्प्रदायिक आधार पर की जाती रही। इससे जनमानस को इतने व्यापक एव गभीर ढग से प्रभावित किया कि गभीर राष्ट्रवादी भी जाने–अनजाने इसे स्वीकार कर लेते थे। इस सन्दर्भ मे गॉधी जी ने लिखा है– "इस देश मे तब तक स्थायी साम्प्रदायिक शान्ति और सद्भाव कायम नही हो सकता, जब तक कि यहॉ के स्कूल और कालेजो मे इतिहास की पाठ्य–पुस्तको के जरिये इतिहास को तोड–मरोडकर सिखाया जाता रहेगा"।[91] ऐसे ही दृष्टिकोण की पुनर्व्याख्या मुहम्मद अली के 'कामरेड' मे लिखे कथन से होती है – "कौमी वैमनस्य की प्रबलता के लिये मुख्य रूप से इतिहास की गलत व्याख्या ही उत्तरदायी है। अतीत ने अपना मुर्दा हाथ बढाकर वर्तमान को पक्षाघात का शिकार बना दिया है, राजनीति के व्यवहारिक मुद्दो के मामले मे देशभक्त हिन्दू के विचार को उसकी मूर्खतापूर्ण किन्तु बिल्कुल सही शिकायत प्रभावित कर देती है। मुसलमान भी उतने ही मूर्खतापूर्ण ढग से यह सोचकर क्षुब्ध होता है कि उसकी ताकत, आन–बान और बादशाहत छिन गयी।"[92]

इतिहास के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को विस्तृत फलक देने में पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त कविता, नाटक, ऐतिहासिक उपन्यासो, पत्रिकाओ एव परचो ने कल्पनारंजित होने के बावजूद जनमानस में प्रामाणिक इतिहास की जगह बना ली। इसका अनुमान वी डी सावरकर, एम.एस गोलवरकर, जेड ए.सुलेरी, एफ के खान दुर्रानी एव ऐसे ही अन्य साम्प्रदायिक विचारधारा वाले लेखक एवं नेताओं के लेखन तथा भाषणों के आधार पर लगाया जा सकता है।

सम्प्रदायवादियो ने अतीत को इस प्रकार प्रस्तुत किया, जिससे कि उनके अनुयाइयो मे भय, असुरक्षा और अलगाव की भावना भडक सके। इस प्रकार साम्प्रदायिक इतिहास ने साम्प्रदायिकता के सवर्द्धन के साथ ही इतिहास लेखन और शिक्षा मे 'मिथक निर्माण' को भी प्रोत्साहन दिया। इसी मिथक निर्माण' ने मध्ययुगीन भारतीय इतिहास को हिन्दू–मुस्लिम सघर्ष की कहानी के रूप मे प्रस्तुत किया। इस सन्दर्भ मे 1940 के मुस्लिम लीग के अधिवेशन मे दिये गये मु अली जिन्ना के भाषण को उद्धृत किया जाना समीचीन होगा – "पिछले बारह सौ सालो के इतिहास मे एकता नही हो सकी है और यह तथ्य इस बात का गवाह रहा है कि इस दौरान भारत हमेशा हिन्दू भारत और मुस्लिम भारत मे बॅटा रहा है।"[93] दूसरी ओर वी डी सावरकर ने दावा किया– "जिस दिन महमूद गजनी ने सिन्धु नदी पार की, उसी दिन से जिन्दगी और मौत की लडाई शुरू हो गयी। जिसका अन्त अब्दाली के साथ हुआ।' उन्होने पुन कहा– "दिनो–दिन, दशको–दशक और शताब्दियो से यह जघन्य सघर्ष चला आ रहा है, और हिन्दुत्व एव हिन्दुओ की सास्कृतिक एकता के लिये युद्ध के सैकडो मैदानो मे लडाइयॉ लडी जाती रही।"[94] यही कारण है कि आज भी इन साम्प्रदायिक लोगो के उत्तराधिकारी उस युद्ध के सातत्य को बनाये हुये हैं।

1939 मे गोलवरकर ने राष्ट्रवादियो की इस बात के लिए आलोचना की कि वे ऐसी धारणा फैला रहे हैं, "जिससे हिन्दू अपने पुराने आक्रामको एव शत्रुओ के साथ अपने आपको एक ही वर्ग मे समझने लगे है– सब जानते है इस विष का क्या प्रभाव हुआ है। हम यह मानने लगे हैं कि हमारे शत्रु हमारे मित्र हैं और हम अपने ही हाथो से सच्ची राष्ट्रीयता को क्षति पहुँचा रहे है।"[95] वी डी सावरकर ने 1937 मे कहा कि "ठोस तथ्य तो यह है कि तथाकथित साम्प्रदायिक समस्याये तो हमे, हिन्दू–मुसलमानो के बीच सदियो से चले आ रहे सास्कृतिक, धार्मिक और कौमी वैमनस्य के फलस्वरूप विरासत मे मिली हैं।'[96]

इस ऐतिहासिक वैमनस्य के सिद्धान्त को आधार बनाकर दोनो पक्षो के सम्प्रदायवादियो द्वारा जो समाधान प्रस्तुत किया जाता रहा है, उससे साम्प्रदायिकता न केवल मजबूत होती गयी, अपितु दो राष्ट्र का सिद्धान्त भी पुष्ट होता गया। जहॉ एक ओर वी डी सावरकर एवं एम.एस. गोलवरकर ने राष्ट्रीयता की व्याख्या इस आधार पर की कि न केवल मुसलमान अपितु ईसाई, यहूदी और पारसी भी उसकी परिधि से बाहर रहें। उन्होंने गैर हिन्दुओं को सावधान किया– "विदेशी तत्वो के लिए केवल दो ही रास्ते हैं, या तो वे राष्ट्रीय

कौम मे घुल—मिल जाये और उसकी सस्कृति अपना ले या राष्ट्रीय कौम की दया पर निर्भर रहे।"[97] दूसरी ओर जिन्ना ने यह दावा किया कि "मुसलमानो को एक अलग दुनिया मे, अलग समाज, अलग दर्शन और आस्था मे रहते हुये हजार साल से ज्यादा वक्त हो गया।"[98] इसी बात की पुष्टि करते हुए मोइन शाकिर ने लिखा— "भारत मे लगभग बारह सदियो से पाकिस्तान रहा है।"[99]

इस प्रकार दोनो ही पक्षो द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याख्याओ से कटुतापूर्ण विषाक्त वातावरण की सृष्टि होती थी। जिससे जनमानस एक—दूसरे के प्रति शकालु एव आशकाग्रस्त होता गया। क्योकि इन व्याख्याओ से जो निष्कर्ष निकलते थे वे दोनो समुदायो को परस्पर शत्रु के रूप मे चित्रित करते थे। 1939 मे अपनी ऐतिहासिक व्याख्या के अनुरूप निष्कर्ष निकालते हुये गोलवरकर ने लिखा था— "हिन्दुस्तान मे रहने वाले गैर हिन्दुओ को चाहिये कि वे हिन्दू सस्कृति एव भाषा को अपना ले। हिन्दू जाति और सस्कृति के गौरव के अतिरिक्त और कोई बात मन मे न लाये एक शब्द मे कहे तो विदेशी बनकर न रहे उन्हे कोई विशेषाधिकार नहीं मिलेगा। वरीयतापूर्ण व्यवहार की तो आशा करना ही व्यर्थ है। यहॉ तक कि आम नागरिक के अधिकार भी नही।"[100]

दूसरी ओर बीसवी शताब्दी के आरभ से ही मुस्लिम सम्प्रदायवादी इस धारणा को प्रचलित करने मे लगे थे कि मुसलमान भारत मे शासक या प्रभुत्वशाली समूह के सदस्य थे। 1941 के लाहौर के विद्यार्थियो को सम्बोधित करते हुये मुहम्मद अली जिन्ना ने कहा था — "हमारी मॉग हिन्दुओ से नही है, क्योकि सारा हिन्दुस्तान तो कभी हिन्दुओ के पास रहा ही नही। मुसलमानो ने ही सारे हिन्दुस्तान पर कब्जा करके सात सौ साल उस पर राज किया। अग्रेजो ने हिन्दुस्तान मुसलमानो से लिया था।"[101] जेड ए सुलेरी ने तो इससे भी आगे बढकर कहा — "हिन्दुस्तान हिन्दुओ का नही हो सकता, क्योकि उन्हे तो एक हजार साल पहले ही जीत लिया गया था।"[102] जबकि हिन्दू प्रवक्ताओ ने हिन्दुओ की स्वाभाविकता के दावे विभिन्न तरह से अपने समुदाय और परम्परा के बारे मे किये हैं। उनका मानना है कि पूरी दुनिया मे इतनी स्वाभाविक सीमाये कही नही है— "दुनिया मे ऐसा कोई अन्य भू—भाग नही जिसे स्वय प्रकृति भारत (वर्मा को निकाल कर) से ज्यादा एक राष्ट्र का रूप देती हो।"[103] इनके मुताबिक हिन्दू और हिन्दुस्तान नामो से ही स्पष्ट है कि इस भू—भाग के मूल और स्वाभाविक निवासी हिन्दू ही हैं और हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय पहचान मे भ्रम की गुजाइश ही नही है— "अति प्राचीन काल से रह रहा हिन्दू समाज यहाँ

का राष्ट्रीय (और स्वाभाविक) समाज है उसी जनता ने इस देश के जीवन, मूल्य आदर्श और सस्कृति का निर्माण किया है, इसलिये उनका राष्ट्रत्व स्वय सिद्ध है।"[104] आगे नि सन्देह हम हिन्दू इस धरती पर निर्विवाद और बिना किसी व्यवधान के आठ या दस हजार वर्षों तक काबिज रहे है, जब तक कि किसी विदेशी जाति ने इस पर आक्रमण नही कर दिया।[105]

हिन्दू आख्यान के अनुसार इतिहास के आरम्भ से ही राष्ट्रीय एकता की भावना ने हिन्दू इतिहास का पथ–प्रदर्शन किया है। गोलवरकर के अनुसार – "इतिहास के पहले पन्ने पर ही हमे प्रगतिशील और बेहद सभ्य राष्ट्र के रूप मे दर्ज किया गया है।"[106] इसी लिए वे पूर्व स्थिति प्राप्त करने के लिये एक अन्य अवसर पर कहते है– "हिन्दुओ की नस्ली भावना जाग रही है। शेर मरा नही था, बस सो रहा था। वह अपने को फिर से जगा रहा है और दुनिया पुनर्जीवित हिन्दू राष्ट्र की शक्ति देखेगी कि किस तरह वह अपनी शक्तिशाली भुजाओ से शत्रुओ के झुण्ड को धराशायी कर देता है। वह दिन ज्यादा दूर नही जब दुनिया इसे देखकर कॉप उठेगी ? उनका तर्क है कि दुनिया ताकत की भाषा के अलावा कुछ नही समझती। सच्चा धर्म क्षात्र (योद्धा का) धर्म यानी विजय का दर्शन है। कमजोर हो चुके हिन्दुओ को अगर अपनी स्त्रियो, सम्पत्ति एव अधिकारो की रक्षा करनी है, तो उन्हे पुन शक्तिशाली होना पडेगा। भय बिनु होय न प्रीति।"[107] इसलिये हिन्दुओ को चाहिये कि वे अपने साथ रह रहे दूसरे सम्प्रदाय के लोगो के मन मे पहले भय पैदा करे, तभी सच्चा प्रेम पैदा होगा।

जहॉ मुस्लिम साम्प्रदायिको ने इस धारणा को प्रचलित किया कि वे शासक वर्ग के सदस्य रहे थे। वही कतिपय आधुनिक शोधो से भी इस धारणा की पुष्टि होती है। 1936 मे सी मैंशर्ट ने लिखा– "हिन्दू एव मुसलमानो की यह पुरानी दुश्मनी आज भी बनी हुई है। भारत के लगभग सभी प्रान्तो मे हिन्दुओ की सख्या मुसलमानो से ज्यादा है, फिर भी लगता है कि वे मुसलमानो से डरते है। मुस्लिम प्रभुत्व की याद करके वे ऐसा कोई खतरा नही उठाना चाहते जिससे मुसलमानो का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो। दूसरी तरफ मुसलमान अपने गौरवशाली अतीत को याद करते हैं और भविष्य के प्रति आशावान हैं।"[108] इसी तरह की अभिव्यक्ति कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट मे भी पायी जाती है – "सम्प्रदायवादी मुसलमान शासको को उत्साही धर्म योद्धा मानते थे। जिनका मुख्य लक्ष्य इस्लाम का प्रचार था। इसे प्राप्त करने का उनका तरीका था मदिरो का ध्वस और बलपूर्वक धर्म परिवर्तन करना।"[109]

साम्प्रदायिको द्वारा अपने समुदाय के शासको की प्रशसा एव दूसरे समुदाय के शासको की निन्दा मे सच्ची–झूठी कहानियो को गढा जाता था तथा उन्हे बार–बार दुहराया जाता था। मध्ययुग के शासको के चित्रण मे 1938 मे इन्द्रप्रकाश ने लिखा, "विदेशी–शासन की इस अवधि मे हिन्दुस्तान का इतिहास हिन्दुओ के कत्ल की, असहिष्णु कदमो की, मदिरो को उखाडने एव तोडने की, धर्म परिवर्तन एव विवाह की, निषेधो एव स्वत्व हरण की नरसहारो एव निरकुश शासको की कामुकता एव मद्यपता की दुखद कहानी रहा है।"[110] यह मुस्लिम निरकुशता शासक वर्ग की प्रवृत्ति के रूप मे नही बल्कि इस्लाम की मूल वृत्ति के रूप मे चित्रित की जाती थी। मुस्लिम धर्म हत्यारे को गौरवान्वित करता है और उसे नायक के रूप मे पूजता है। यह धर्म विधर्मियो की हत्या करने वाले को प्रोत्साहित करता है। इस्लाम के सिद्धातो के अनुसार काफिर या अन्य धर्मावलम्बी की हत्या करने वाला अन्य मुसलमानो की दृष्टि मे ऊँचा उठ जाता है। इतना ही नही शहीद हो जाता है और उसका स्वर्ग जाने का मार्ग सुगम हो जाता है।[111]

इस धारणा की पुष्टि मे विश्वभर मे इस्लाम के प्रसार के ऐतिहासिक सन्दर्भों को उद्धृत किया जाता था। वस्तुत तलवार के बल पर इस्लाम के प्रसार को मिथकीय रूप दे दिया जाता था। द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट मे कहा गया था– "आज प्रचलित अनेक गलतफहमियो मे कटुता एव दुर्भावना उत्पन्न करने मे सबसे अग्रणी धारणा यह है कि कट्टरता और असहिष्णुता इस्लाम मे अन्तर्निहित होती है तलवार के बल पर इस्लाम के प्रसार की धारणा का इतना व्यापक प्रचार हुआ है कि आम आदमी के मन मे इसने मुहावरे का रूप धारण कर लिया यही हिन्दू–मुस्लिम समस्या को और तीखा बनाता है।[112]

सम्प्रदायवादियो द्वारा अठारहवी शताब्दी मे विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध चले सघर्ष को 'हिन्दू पुनरुत्थान' के रूप मे देखा गया। मुस्लिम उत्थान की छ सौ सालो की अवधि मे भी हिन्दुओ ने अपने राष्ट्रीय गौरव और सम्मान की रक्षा के लिये प्राणपण से सघर्ष जारी रखा था।[113] अठारहवी सदी के मध्य तक हिन्दुओ की श्रेष्ठता पुन॰ स्थापित हो चुकी थी। भूमि और राजनीतिक सत्ता के लिये जमीदारों, राजपूत राजाओ और मराठा सरदारो के सघर्ष को हिन्दू सघर्ष और उनके राज्यो को हिन्दू साम्राज्यों की सज्ञा दी। इतना ही नही यह भी कहा गया कि इन सघर्षों से सोती हुई हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना जागृत और सशक्त हुई।[114]

इसके बावजूद सम्प्रदायवादियो का कहना था कि हिन्दू पुनरुत्थान और मुक्ति के इस कार्य मे अग्रेजो की विजय से बाधा पडी।[115] लेकिन भारत मे अग्रेजो को विजय दिलाने मे मुसलमानो ने ही सहायता की थी।[116] इसीलिए 1938 मे सावरकर ने यह आह्वान भी किया कि — "यह हिन्दुओ की वर्तमान पीढ़ी का काम है कि वह अपने राष्ट्रीय जीवन का सूत्र उठाये जहाँ कि हमारे हिन्दुओ के मराठा और सिख साम्राज्यो के पतन के समय हमारे पूर्वजो ने उसे छोड़ा था।"[117]

इसकी प्रतिक्रिया मे पहले शिक्षित मुसलमानो एव बाद मे मुस्लिम सम्प्रदायवादियो ने इस्लामी, अरबी और तुर्की उपलब्धियो को महिमामडित किया। उन्होने अपने नायक, मिथक एव सास्कृतिक परम्पराये मध्य एशिया के इतिहास मे ढूढे। सैयद अहमद खान द्वार फैज (तुर्की) टोपी को लोकप्रिय बनाना इसी का प्रतीक था। इतिहास, परपराओ, नायको एव मिथको का प्रयोग भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे रहने वाले विभिन्न सस्कृतियो के और विभिन्न भाषाये बोलने वाले मुसलमानो को एक समुदाय का सदस्य होने की भावना उत्पन्न करने के लिये किया गया। कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट मे कहा गया कि — "ऐसा प्रतीत होता था कि सर्व इस्लाम ने उनके समक्ष आशाओ ओर आकाक्षाओ का एक नया ही परिदृश्य खोल दिया था, जो भारतीय राष्ट्रीयता की तुलना मे उन्हे अधिक आकर्षक एव अनुकूल प्रतीत होता था, क्योकि इस नये परिदृश्य मे उनकी कल्पना भयावह हिन्दू राज के विपरीत थी, पर्याप्त सुरक्षा पाती थी।"[118]

इस प्रकार दोनो ही पक्षो के साम्प्रदायिक लोगो द्वारा इतिहास की व्याख्या अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिये की गयी। साथ ही इससे ब्रिटिश शासन के 'फूट डालो एव राज करो' की नीति को समर्थन एव बल मिला तथा इस धारणा से उपनिवेशकालीन लेखन (ब्रिटिश एव भारतीय) भी प्रभावित हुआ।

साम्प्रदायिक समस्या का एक पहलू धर्म एव समाज सुधार के लिये चलाये गये नवजागरण आन्दोलन के विभिन्न वर्गों के सास्कृतिक पक्ष मे था। मध्यवर्गीय हिन्दू बुद्धिजीवियो के बीच से उभरा राष्ट्रवाद एक महत्वपूर्ण धारा के रूप मे उच्च वर्गीय हिन्दू सस्कृति के साथ जुड गया। परिणामस्वरूप अनेक लोगो को राष्ट्रीय आन्दोलन के बडे भाग के उच्च वर्गीय सास्कृतिक नियमो से सामजस्य बिठाने में कठिनाई हुई। यद्यपि कि सुधार और दृष्टिकोण नये होते थे, केवल उन्हे तर्कसगत आवरण देने के लिए अतीत की ओर देखा जाता था, फिर भी अतीत मे स्वर्ण युग देखने की प्रवृत्ति ने आधुनिक विज्ञान को स्वीकार करने ओर वर्तमान को सुधारने के प्रयास में बाधा उत्पन्न की।

इस प्रवृत्ति ने न केवल हिन्दुओ, मुसलमानो, सिखो और पारसियो को विभाजित किया वरन निम्न एव उच्च जातीय हिन्दुओ को भी अलग करने की कोशिश की। इन सुधारको ने सास्कृतिक विरासत के धार्मिक तथा दार्शनिक पक्षो पर एकागी जोर दिया, यद्यपि कि ये सबके साझी विरासत नही थे। जबकि कला, वास्तुकला, साहित्य, सगीत, विज्ञान एव तकनीक के क्षेत्रो की अवहेलना की, जिसमे कि सभी श्रेणियो के लोगो की समान भागीदारी थी। सुधारको ने मध्यकालीन इतिहास को अवनति के युग के रूप मे देखा, जबकि ऐसा करना न केवल गैर ऐतिहासिक था, अपितु सामाजिक एव राजनीतिक दृष्टि से हानिप्रद भी था।

अतीत की नैतिक तथा सास्कृतिक उपलब्धियो से न तो सभी भारतीयो ने प्रेरणा ग्रहण की और न ही गौरवान्वित हुये। इससे अतीत की उपलब्धियॉ पक्षगत आधार पर अलग–अलग भागो मे विभाजित होती गयी और दो पृथक कौमो की धारणा वाली प्रवृत्ति पुष्ट होती गयी। मुस्लिम मध्य वर्गों के अनेक व्यक्तियो ने अपनी परम्पराओ के लिये पश्चिम एशिया के इतिहास की ओर दृष्टिपात किया। दूसरी ओर उत्तरोत्तर हिन्दू, मुसलमान, सिख और पारसी तथा निम्न जातीय हिन्दू, जो सुधार आन्दोलनो से प्रभावित हुये, एक दूसरे से अलग होने लगे। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना के तीव्रतर उदय के साथ साम्प्रदायिक चेतना भी उद्भूत होने लगी, जिसका सकेत ए आर देसाई ने किया है– "जब राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार बहुवर्गीय, बहुसाम्प्रदायिक हो गया तब इन्ही धर्म सुधार आन्दोलनो मे अधिकाश राष्ट्रीय चेतना के विकास के रूप मे न होकर इसके विकास मे अवरोधक का काम करने लगे। इनमे से कुछ राष्ट्रविरोधी विघटन और स्वतत्रता के सयुक्त राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी सिद्ध हुये। उनकी भूमिका मे यह परिवर्तन इसलिये आया कि वे राष्ट्रीय धर्म सुधार आन्दोलन न रहकर धार्मिक साम्प्रदायिक आन्दोलन मे परिवर्तित हो गये।"[119]

इन पुनरुत्थान आन्दोलनो ने मध्यकाल मे आरभ हुई गगा–जमुनी सस्कृति के विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध किया। प्राय इन सुधार आन्दोलनो मे उन्ही पक्षो को उजागर करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, जहॉ उनमे अन्य धर्मो से भिन्नता होती थी। धर्म सुधारको का यह प्रयास होता था कि लोग एक दूसरे के रीति–रिवाजो परम्पराओ, पर्वों एव उत्सवो मे भागीदारी करने से अलग रहें। 1939 मे सुधार आन्दोलनो के इन विभाजक पक्षो की ओर गॉधी जी ने सकेत किया– "यह बात कि हम (हिन्दू, मुसलमान) एक दूसरे से बिल्कुल अलग हैं, उस धारणा का स्वाभाविक परिणाम है, जो आजकल हो रहा है। यह

दोनो के बीच अन्तर पर ही बल देता है और इसने पूर्वाग्रहो, पारस्परिक सदेहो एव ईर्ष्या भाव को बढाया है।'[120]

बेनी प्रसाद ने भी साम्प्रदायिक समस्या पर ऐसी ही विवेचना की है– "पुनरुत्थान ने इस्लाम मे अर्द्ध दीक्षित लोगो मे बचे–खुचे हिन्दू आस्था विश्वासो एव रीति–रिवाजो को अलग कर दिया। दूसरी और हिन्दुओ की जिन उपजातियो ने मुसलमानो का रहन–सहन अपना लिया था, वे हिन्दू पुनरुत्थानवाद या आधुनिकता की ओर आकर्षित होने लगी। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से उन रीति–रिवाजो को छोडने लगे जिन्हे उन्होने एक दूसरे से लिया था और जिन्होने दोनो सम्प्रदायो को जोडने का काम किया था। इस प्रकार जीवन एव चिन्तन के अनेक साझे क्षेत्र सीमित हो गये और अनेक मिलन स्थल समाप्त हो गये।"[121]

इस प्रकार की पृष्ठभूमि मे निरन्तर विकसित होती सामाजिक एव सास्कृतिक वैचारिकता ने साम्प्रदायिकता को विस्तृत फलक देने का काम किया, क्योकि साम्राज्यवाद विरोधी चेतना का विकास समान रूप से पूरे देश मे नही हो रहा था। राष्ट्रीय नेतृत्व नयी राष्ट्रीय और वर्गीय चेतना विकसित करने मे असफल रहा, यद्यपि कि जब साम्राज्यवाद विरोधी सघर्ष अपने चरम पर होता था तो साम्प्रदायिकता की धार कम हो जाती थी। किन्तु सघर्ष के धीमा पडने पर इसका पुन उभार हो जाता था।

औपनिवेशिक राजनीति के ताने–बाने मे मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, आर एस एस एव अन्य छोटे सगठनो ने साम्प्रदायिकता को और अधिक विकसित एव प्रसारित करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। जैसा कि उन्नीसवी शताब्दी के आखिरी चतुर्थांश मे ही रूढिवादी राजनीति का विकास दिखायी पडता है, जबकि अपने सामाजिक–आर्थिक हितो की रक्षा के लिये हिन्दू एव मुसलमान भूस्वामी एव सरकारी अधिकारी सगठित प्रयास करने लगे थे। ऐसा ही एक प्रयास 1880 के दशकाल मे सैयद अहमद खान द्वारा हुआ, जब उन्होने शिवप्रसाद, भीगा नरेश, बनारस नरेश और अन्य लोगों की सहायता से काग्रेस विरोधी मोर्चा बनाने का प्रयास किया। ये सयुक्त प्रान्त के ऐसे लोग थे, जिन्हे उभरते मध्यवर्ग एव जनतान्त्रिक राष्ट्रीय आन्दोलन से न केवल खतरा महसूस हो रहा था बल्कि इनकी सामाजिक एव आर्थिक स्थिति में भी ह्रास हो रहा था। काग्रेस सरकारी नौकरियो के लिये प्रतियोगिता और विधायिकाओ के लिये चुनावों की मॉग कर रही थी, जबकि जागीरदारी तत्त्व चाहते थे कि इन दोनो क्षेत्रो मे नामाकन की प्रथा जारी रहे।[122]

भूस्वामी ऐसी विचारधारा की तलाश मे थे, जो उन्हे सामाजिक एव आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती। सैयद अहमद खान ने इसी स्थिति का फायदा उठाते हुये मुसलमानो को सगठित करना शुरू किया, ताकि धर्म एव सम्प्रदाय के नाम पर वे भूस्वामियो एव नौकरशाहो के रूप मे अपने वर्गीय हितो की रक्षा कर सके। इस विरोध को राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध मुस्लिम–विरोध का नाम दिया गया। इस प्रकार जागीरदारी और नौकरशाही वर्ग की राजनीति के रूप मे मुस्लिम साम्प्रदायिकता को विकसित होने का अवसर मिला।

इस विचारधारा को 1906 मे मुस्लिम लीग के गठन से और बल मिला। इन साम्प्रदायिक तत्वो ने सरकारी नौकरियो मे सम्प्रदाय के आधार पर आरक्षण और अलग–अलग चुनाव क्षेत्रो के लिये सघर्ष किया। सयुक्त प्रान्त के मुस्लिम भूस्वामियो ने नेशनल एग्रीकल्चरल पार्टियो को तोडते हुये मुस्लिम लीग की सदस्यता ले ली और उसे सक्रिय सगठन के रूप मे स्थापित कर दिया। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि कृषि आन्दोलनो से उद्भूत खतरो से अपने स्वार्थो की रक्षा की जा सके। यही कारण था कि 1937 के बाद मुस्लिम लीग ने काग्रेस समर्थित भूमि सुधार सम्बन्धी प्रत्येक पहल का कडा विरोध किया। दूसरी ओर 1937 के पश्चात बडी सख्या मे हिन्दू जमीदार और तालुक्केदार हिन्दू महासभा मे सम्मिलित हो गये। उन्हे महासभा के प्रति और भी आकर्षित करने के लिए इसके अध्यक्ष वी डी सावरकर ने जमीदारो एव काश्तकारो के बीच किसी भी स्वार्थी सघर्ष की भर्त्सना की।[123]

इसी प्रकार पजाब मे भी मुस्लिम लीग की निर्भरता बडे भू–स्वामियो पर थी। यद्यपि कि शुरुआती दौर मे भूस्वामी पश्चिमी केन्द्रीय पजाब मे मुसलमान, हिन्दू एव सिख भूस्वामियो को एक साथ सगठित करने वाली यूनियनिस्ट पार्टी को समर्थन देते थे। किन्तु 1937–43 के बीच साम्प्रदायिकता की देशव्यापी वृद्धि ने लीग और यूनियनिस्ट पार्टी के सम्बन्धो मे और प्रगाढता ला दी और 1946 के चुनावो मे तो लीग ने उस पर प्रभावी विस्तार पा लिया। दूसरी ओर 1920 के दशक मे पजाब मे हिन्दू महासभा ने शोषक साहूकारो एव व्यापारियो के हितो के विरुद्ध बनने वाले कृषि कानूनो का न केवल विरोध किया बल्कि हिन्दू हितों के खतरे मे पडने की बात भी प्रसारित करने लगी।

बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे बगाल मे, मुसलमान जमीदार, अभिजन एव अन्य जागीरदारी तत्व मुस्लिम लीग मे सम्मिलित हो गये। 1937 के चुनावो मे लीग और कृषक प्रजा पार्टी के बीच चुनावो मे सघर्ष हुआ किन्तु फजलुल हक के प्रधानमत्रित्व मे लीग मत्रिमण्डल मे दोनो पार्टियो ने मिलकर काम

किया। फजलुल हक पर जमीदारो के प्रभाव वृद्धि के साथ–साथ उनका चरित्र भी साम्प्रदायिक होता गया। बगाल मे हिन्दू महासभा यद्यपि महत्वपूर्ण शक्ति नही थी तथापि जमीदारो के प्रभाव के चलते बडी सख्या मे राष्ट्रवादियो की प्रवृत्ति कृषि सुधारो का विरोध करने की रही।

सम्प्रदायवादी आर्थिक सरचना मे किसी भी लाभकारी परिवर्तन का विरोध करते थे, क्योकि इससे उनके स्वार्थो पर नकारात्मक प्रभाव पडता था। उदाहरणार्थ, हिन्दू महासभा उन भू सुधारो का विरोध करती थी, जिससे छोटे भूस्वामी लाभान्वित होते थे। ऐसा करने के पीछे बडे भूस्वामियो एव साहूकारो का हिन्दू महासभा को मिलने वाला समर्थन था। इसी तरह मुस्लिम लीग भी सामान्यत भूस्वामी विरोधी कदम उठाये जाने के विरुद्ध थी। उदाहरण के लिये 1938 मे काग्रेस द्वारा रखे गये यू पी टेनेन्सी बिल का विरोध मुस्लिम लीग द्वारा किया गया। स्पष्टत साम्प्रदायिक नेता उच्चवर्गीय रूढिवादी भावनाओ की तुष्टीकरण की नीति अख्तियार करते हुये सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनो का विरोध करते थे। जिन्ना उच्च वर्गो को बार–बार यह कहकर डराया करते थे कि काग्रेस की नीति वर्ग कटुता को जन्म देगी। उन्होने चेतावनी दी कि भूख और गरीबी की ये बाते लोगो को समाजवादी और साम्यवादी विचारो की ओर प्रेरित करेगी।[124] इसी प्रकार हिन्दू महासभा 'वर्ग सघर्ष' से समाज को बचाने की वकालत कर रही थी।[125]

हिन्दू और मुस्लिम दोनो ही साम्प्रदायिक नेतृत्व का दृष्टिकोण प्राय जनतत्र एव सामाजिक समता के विचारो का विरोधी था। सैयद अहमद खान, मु शफी और उन जैसे अन्य लोगो ने काग्रेस मे सम्मिलित होने वाले मुसलमानो की आलोचना की और कहा कि ऐसे लोगो में कोई माद्दा नही है और वे निम्न या गरीब वर्गों के है। 'रईस' तो जो मुल्क के नेता माने जाते है, काग्रेस के खिलाफ ही है।[126] जनतत्र के विरुद्ध सम्प्रदायवादियो का मुख्य आरोप था कि इससे बहुसंख्यको का शासन होगा। सामाजिक–आर्थिक दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि इंग्लैड की सम्पूर्ण जनसख्या एक ही समुदाय है किन्तु भारत के लिए बिल्कुल बेकार है। जहॉ जातिभेद अभी बने हुये है, जहॉ विभिन्न जातियों का अभी मेल नही हुआ है, जहॉ धार्मिक भेद अभी प्रखर है । यहॉ तो बडा समुदाय छोटे समुदाय के हितों को पूरी तरह कुचल डालेगा।''[127]

आगा खान के नेतृत्व में जो मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल 1906 में वायसराय मिण्टो से मिला था, उसके ज्ञापन मे यह उल्लिखित किया गया था कि

'मुस्लिम हितो को एक ही द्वेषपूर्ण बहुमत की दया पर न छोडा जाय।'[128] अपितु इसके लिये जनतान्त्रिक सस्थाओ को भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो के अनुकूल बनाया जाय। मुहम्मद अली जिन्ना ने इसी तर्क को उत्तरोत्तर आगे बढाया। फरवरी 1938 मे अलीगढ मे उन्होने कहा– "अल्पसख्यको की सुरक्षा के लिये प्रतिनिध्यात्मक जनतत्र लाना इसका समाधान नही है क्योकि बहुसख्यक तो साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से ही काम करेगे। इसका एकमात्र समाधान यही है कि अल्पसख्यको को सत्ता मे एक निश्चित हिस्सा मिले अर्थात् प्रतिनिध्यात्मक सरकार की प्रणाली से बाहर।"[129]

भारत मे जनतत्र के भविष्य पर बोलते हुये उन्होने दावा किया कि जनतत्र का मतलब केवल यही हो सकता है कि सारे हिन्दुस्तान मे केवल हिन्दुओ का राज हो।[130] इसी कडी मे 1940 का अल्पसख्यक समुदाय का तर्क दो राष्ट्रो के तर्क मे रूपान्तरित हो चुका था। जिन्ना का दावा था कि – "पश्चिमी जनतत्र भारत को कत्तई रास नही आयेगा और भारत पर इसे लादने का मतलब होगा राज्यरूपी शरीर को बीमार करना।" इस तर्क के आधार पर उनकी मान्यता थी कि "भारत मे एक बडा और एक छोटा दो राष्ट्र (कौमे) है। इसीलिये जाहिर है कि बहुमत के सिद्धान्त पर आधारित ससदीय व्यवस्था का अर्थ निश्चित रूप से बडी कौम का शासन होगा।" यही कारण है कि – "काग्रेस जो कि मुख्यत एक हिन्दू सगठन है, आरम्भ से ही भारत के लिये पूर्णत जनतान्त्रिक सरकार की व्यवस्था प्राप्त करने के लिये प्रयास करती रही।"[131] इसी बात की बार–बार पुनरावृत्ति करते हुये जिन्ना ने अपने तर्क को विभाजनवादी रुख दे दिया।

दूसरी ओर ऐसा ही दृष्टिकोण हिन्दू महासभा और उसके नेतृत्व वर्ग ने अपनाया। 1938 मे भाई परमानन्द ने मॉग की कि सघीय विधायिका मे रजवाडो के प्रतिनिधियो का चुनाव नरेश ही करे। उन्होने यह भी कहा कि नरेश हमारे अपने हैं, हमारे राष्ट्र शरीर के सबसे आवश्यक अग है।[132] हिन्दू महासभा के 1940 के अधिवेशन मे सभापति पद से बोलते हुये वी डी सावरकर ने हिन्दू राजाओ का प्रबल समर्थन किया। उन्हे इस बात का एहसास हो रहा है कि उनका कर्तव्य न केवल हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति रखने तक सीमित है, अपितु उन्हे हिन्दू आन्दोलन का नेतृत्व भी करना है' और यह भी कि उनके वर्तमान और भावी हित सर्व हिन्दू आन्दोलन के साथ जुड़े हुये हैं। यही नही उन्होने हिन्दुओ को मुसलमानो (सम्प्रदायवादी) का अनुकरण करने के लिये प्रेरित किया। जो भारत मे स्थित चन्द मुस्लिम रियासतो के प्रति गौरव का अनुभव

करते थे और उन्हे मुसलमान शक्ति के सगठित केन्द्र के रूप मे देखते थे और यहॉ तक कि अपने नवाबो और निजामो की शक्ति और प्रतिष्ठा बढाने का भी प्रयास करते थे।[133]

इस प्रकार सम्प्रदायवादी प्राय उपनिवेशवाद समर्थक राजभक्ति का दृष्टिकोण अपनाते थे। उन्होने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध या स्वाधीनता के लिये भी किसी प्रकार का सघर्ष या आन्दोलन नही किया, चाहे स्वाधीनता की उनकी अपनी जो भी धारणा रही हो। जब कोई आन्दोलन सगठित भी हुआ तो वह अग्रेजो के विरुद्ध न होकर राष्ट्रवादियो एव अन्य धर्मावलम्बियो के विरुद्ध ही रहा। उदाहरण के लिए 1939 मे मुक्ति दिवस के रूप मे जो आन्दोलन हुआ वह काग्रेस के विरुद्ध था।

इस सन्दर्भ मे एक बात उल्लेखनीय है कि साम्प्रदायिक लोगो द्वारा उपनिवेश समर्थक राजनीति उनकी व्यक्तिगत भावनाओ का व्यवहारिक परिणाम नही था, बल्कि यह उनकी सार्वजनिक राजनीति का हिस्सा था। अधिकाश चैतन्य भारतीयो की तरह पराधीनता की शर्म एव पीडा उनमे से कई महसूस करते थे, जैसा कि 1938 के लीग के अध्यक्ष पद से बोलते हुये जिन्ना ने स्पष्टत इन्कार किया कि लीग साम्राज्यवाद की मित्र है, बल्कि इसके पीछे के मन्तव्य को उन्होने स्पष्ट किया– "मै कहता हूँ कि मुस्लिम लीग किसी भी शक्ति की सहयोगी होने वाली नही है, किन्तु आवश्यकता पडी तो वह मुसलमानो के हित मे शैतान की मित्र भी बनेगी। इसका कारण यह नही है कि हमे साम्राज्यवाद से प्यार है, लेकिन राजनीति मे तो शतरज की तरह चाल चलनी पडती है।"[134]

ऐसी ही भावनाओ की अभिव्यक्ति 1933 मे हिन्दू महासभा के सभापति के रूप मे भाई परमानन्द ने की– "ब्रिटिश सरकार और मुसलमानो के बीच स्पष्ट रूप से मित्रता है। हम ऐसी स्थिति मे पहुँच गये हैं, जहॉ काग्रेस और हिन्दू–मुस्लिम एकता तथा सविनय अवज्ञा द्वारा स्वराज्य–प्राप्ति के उसके सिद्धान्त के लिये कोई स्थान नही है। हिन्दुओ का भविष्य बहुत निराशापूर्ण और अधकारमय है। मुझे लगता है यदि हिन्दुओ को नये भारत की राजनीतिक सस्थाओ मे इस देश के प्रमुख समुदाय की हैसियत और उत्तरदायित्वपूर्ण स्थिति प्रदान की जायेगी तो वे स्वेच्छापूर्वक ग्रेट ब्रिटेन का साथ देगे। साम्प्रदायिकता के निचले स्तरो मे राजभक्ति अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति होती थी। उदाहरण के लिये पजाब की हिन्दू यूथ लीग मे मई 1933 मे कहा

गया था कि हम महसूस करते है कि वह समय आ गया है जब हिन्दुओ एव मुसलमानो के बीच एकता उतनी आवश्यक नही है जितनी कि अग्रेजो एव हिन्दुस्तानियो के बीच।[135]

राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ और ब्रिटिश शासन का सम्बन्ध अधिक जटिल था। मध्यमवर्गीय युवा स्वयसेवको के इस सगठन को उग्रवादी सगठन के रूप मे तैयार किया जा रहा था। राष्ट्रवादी नेताओ पर इसके प्रचारको द्वारा लगातार विषवमन किया जा रहा था। जो कहते हैं हिन्दू–मुसलमान एकता बिना स्वराज नही, उन्होने हमारे समाज के साथ बडा विश्वासघात किया है। उन्होने एक प्राचीन और महान राष्ट्र की आत्मा का हनन करने का जघन्य पाप किया है।[136] इसके अलावा अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थितियो मे युवाओ को अपने प्रभाव मे लाकर राष्ट्रीय सघर्ष मे भाग लेने से रोका। उनसे कहा जाता था कि उनकी शक्ति भविष्य मे मुसलमानो के विरुद्ध प्रयुक्त की जायेगी। डी आर गोयल के अनुसार–"युवाओ मे बढती हुई ब्रिटिश विरोधी भावनाओ को कुद करने तथा उसे मुस्लिम विरोधी दिशा मे मोडने की नीति को देखते हुये उपनिवेशी सरकार आर एस एस के प्रति कोई गभीर कार्यवाही नही करती थी भले ही उसके नेता प्रशिक्षण शिविरो मे कभी–कभी दिखाने के लिये ब्रिटिश विरोधी भाषण भी देते थे, हालॉकि यहॉ भी भाषण की धार मुख्य रूप से मुसलमानो के विरुद्ध ही प्रयुक्त होती थी।[137] मार्च 1942 मे गोलवरकर ने कहा था कि– "सघ की स्थापना केवल मुसलमानो के आक्रमण का सामना करने के लिये ही नही हुई है अपितु इस बीमारी का समूलोच्छेद करने के लिये हुई है।
सघ भी स्वराज चाहता था किन्तु 'वह अपनी शक्ति व्यर्थ नही गवाना चाहता था अपितु उचित समय आने पर उसका प्रयोग करना चाहता था।[138]

साम्प्रदायिकता को आगे बढाने मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस भी अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, लेकिन जिम्मेदार रही है। 1888–89 मे काग्रेस के एक प्रस्ताव मे कहा गया था कि कोई भी ऐसा प्रस्ताव जिसका किसी धर्म विशेष के बहुसख्यक प्रतिनिधियो द्वारा विरोध किया जाता है, वापस ले लिया जायेगा। इस तरह 1888–89 मे ही काग्रेस ने एक तरह से धार्मिक कट्टरपथियो के साथ समझौता कर लिया था। फिर 1916 में लखनऊ पैक्ट द्वारा 'पृथक निर्वाचक मडल के सिद्धान्त की स्वीकारोक्ति ऐसा ही कदम था। असहयोग के साथ खिलाफत के प्रश्न को जोडना भी भारतीय राजनीतिक एव सामाजिक जीवन मे अच्छा प्रभाव नही छोड पाया क्योकि असहयोग आन्दोलन के तुरन्त बाद 1922–27 के बीच भारत के अधिकाश क्षेत्रों मे साम्प्रदायिक दगे हुये, जिससे सयुक्त प्रान्त और उसका पूर्वी हिस्सा भी अछूता नही रहा।

काग्रेस की यह मूलभूत कमजोरी रही कि वह खुद को मजबूती के साथ हिन्दू एव मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति से पृथक नही रख सकी। काग्रेस हिन्दू महासभा एव मुस्लिम लीग दोनो ही के सदस्यो को स्वीकारती रही और साम्प्रदायिकता से सघर्ष करने की जगह विभिन्न साम्प्रदायिक दलो एव समूहो के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाती रही। इस सन्दर्भ मे कानपुर के साम्प्रदायिक दगो की जॉच कमेटी की रिपोर्ट मे उद्धृत है– "इन प्रयासो मे काग्रेस ने मध्यस्थ की भूमिका अपना रखी थी, जिसका यह तात्पर्य निकाला जा सकता था कि यह दोनो पक्षो के अतिवादी सम्प्रदायवादियो को अपने–अपने सम्प्रदाय के हितो का सच्चा प्रतिनिधि मानती थी। जितना ही अधिक वह फैसला करने के लिये उनके निकट जाती थी, उतना ही वह देश की ओर से साम्प्रदायिक मामले को निपटाने का अपना नि शक अधिकार खोती जाती थी। परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायिक मामलो मे वास्तविक नेतृत्व के लिये खुला सघर्ष करके साम्प्रदायिकता को राष्ट्रीय जीवन से उखाड फेकने के स्थान पर खुद काग्रेस ने ही सम्प्रदायवादियो को अधिक महत्व और प्रतिष्ठा प्रदान कर दी।[139]

इस प्रकार साम्प्रदायिकता को विकसित करने मे अतीत के इतिहास से न केवल उद्धरण जुटाये गये बल्कि उनके लिये विद्वेषपूर्ण भाषा का उपयोग भी किया गया, जिससे जन–सामान्य मे ऐसे विचारो को आसानी से लोकप्रिय बनाया जा सके। यह प्रयोग दोनो सम्प्रदायो द्वारा किया गया। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ऐसी स्थिति से औपनिवेशिक शासन का हित साधन होता था। अत वह अपनी सुविधा एव लाभ की दृष्टि से समय–समय पर दोनो पक्षो का समर्थन भी करता था। भारतीय राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करने वाली काग्रेस पार्टी इन स्थितियो पर न केवल कोई नियत्रण कर सकी बल्कि प्राय ऐसे तत्वो के साथ उसका रुख समझौता पूर्ण हो जाता था। ऐसी स्थिति मे साम्प्रदायिकता को विकसित होने का अवसर मिलता गया।

सन्दर्भ

1 पाण्डेय ज्ञान द कन्स्ट्रक्शन आफ कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1955, पृ 241

2 शाकिर मोइन, 'इस्लाम इन इडियन पालिटिक्स' अजन्ता पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1983, पृ 30.

3 पनिक्कर के एन, कम्यूनलिज्म इन इडिया, ए पर्सपेक्टिव फार इन्टरेक्शन, फोर्थ वी पी चिन्थन, मेमोरियल लेक्चर, पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, 1991

4 ब्रास पाल आर, 'लैंग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1974,पृ 120.

5 ब्रास पाल आर, वही, पृ 120

6 ब्रास पाल आर, वही, पृ 121

7 स्मिथ डब्ल्यू सी, 'माडर्न इस्लाम इन इडिया सोशल एनालिसिस, नई दिल्ली, 1979, पृ 187

8 चन्द्र बिपन, 'आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996, पृ 1.

9 फ्रितॉग एस, रिलीजियस राइट्स एण्ड रायट्स फ्राम कम्यूनिटी आइडेन्टिटी टू कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया (1870—1940) कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी, ब्रेकले, शोध प्रबन्ध, पृ 2) ज्ञान पाण्डेय की वही पुस्तक, पृ 2.

10 शशि जोशी भगवान जोश, 'स्ट्रगल फार हेजिमनी इन इण्डिया, कल्चर कम्युनिटी एण्ड पावर, खण्ड 3 (1841—47), नई दिल्ली, 1994 पृ 15—20, 349

11 नेहरू, जवाहर लाल, 'सेलेक्टेड वर्क्स' खण्ड 8, पृ 119.

12 नेहरू, जवाहर लाल, डिस्कवरी आफ इण्डिया, लन्दन, 1951 (तृतीय सस्करण) पृ 333

13 नेहरू, जवाहर लाल, 'सेलेक्टेड वर्क्स' खण्ड 3 पृ 37.

14 मॉरिसन थियोडोर, मोहम्मडन मूवमेण्ट्स (जे कमिग द्वारा सम्पादित पोलिटिकल इडिया) लदन, 1932, ज्ञान पाण्डेय द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ 2

15 पाण्डेय ज्ञान वही पुस्तक, पृ. 6.

16 पाण्डेय ज्ञान वही पुस्तक, पृ 2—3

17 हार्डग्रेव राबर्ट जूनियर, इण्डिया गवर्नमेट एण्ड पालिटिक्स इन डेवलपिंग नेशन्स, 1977.

18 चन्द्र बिपिन, वही पुस्तक, पृ 1–2

19 लैम्बर्ट रिचर्ड डी, 'हिन्दू कम्युनल ग्रुप्स', पार्क एव टिकेर द्वारा सम्पादित 'लीडरशिप एण्ड पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन इन इडिया मे उद्धृत, पृ 211.

20 मिचेल जी डी, 'ए न्यू डिक्शनरी आफ सोशियोलाजी (सम्पा) 1981, पृ 31.

21 शाकिर मोइन, वही पुस्तक, पृ 29.

22 क्रूज हेन्स, सम प्राब्लम आफ इण्डिपेन्डेन्ट इण्डिया' साउथ एशियन स्टडीज, भाग 4, नई दिल्ली, पृ 51.

23 डुमॉण्ट लुइस, 'नेशनलिज्म एण्ड कम्यूनलिज्म इन रेलिजन पालिटिक्स एण्ड हिस्ट्री इन इण्डिया, पेरिस, 1970, पृ 90

24 स्मिथ डब्ल्यू सी, 'माडर्न मुस्लिम राइटिग इन इगलिश' फिलिप सी एच के हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया, पाकिस्तान एण्ड सीलोन मे उद्धृत, पृ 322

25 शाकिर मोइन, वही पुस्तक, पृ 30

26 स्मिथ डब्ल्यू सी, वही पुस्तक, पृ 46.

27 बनर्जी आशीष, कम्प्रेटिव कर्फ्यू–चेन्जिग डाइमेन्सन्स आफ कम्युनल पालिटिक्स इन इडिया मे, उद्धृत, दास वीना की पुस्तक (सपा) 'कम्यूनिटीज रायट्स एण्ड सर्वाइवर्स इन साउथ एशिया मे, आक्सफोर्ड पब्लिकेशन 1992, पृ 65

28 सिह वी वी, कम्युनल वायलेन्स, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1993, पृ 76

29 स्मेल्सर एन जे, थियरी आफ कलेक्टिव विहेवियर, फ्री प्रेस, न्यूयार्क 1962

30 मुखर्जी आदित्य कलोनलिज्म एण्ड कम्यूनलिज्म, एस गोपाल द्वारा सम्पादित द एनॉटमी आफ कन्फ्रन्टेशन द बाबरी मस्जिद राम जन्मभूमि इश्यू, पेगुइन बुक्स इडिया लिमिटेड, दिल्ली, 1991 मे उद्धृत

31 स्मिथ डब्ल्यू सी वही पुस्तक

32 चन्द्र विपन वही पुस्तक, साम्प्रदायिकता क्या है अध्याय मे विस्तृत रूप से पृ 1–23

33 मोहन्ती एम ए डेमोक्रेटिक राइट्स पर्सपेक्टिव, लोकायन बुलेटिन, 1987 पृ 58.

34 इजीनियर, ए ए, 'कम्यूनलिज्म इट्स फैक्ट्स एण्ड रायट्स' मेनस्ट्रीम (XXIV) जून 1986, पृ 17.

35 वही पृ 17

36 इजीनियर ए ए, व्हाई एण्ड हाउ आफ कम्युनल रायट्स, मेनस्ट्रीम (XIX) अक्टूबर 1980.

37 शाकिर मोइन, नोट्स आन नेशनल इण्टीग्रेशन, शाकिर मोइन एव इजीनियर असगर अली द्वारा सम्पादित 'कम्यूनलिज्म इन इण्डिया' मे, दिल्ली, 1985, पृ 54

38 रब्बानी तबन गुलाम, न्यू डाइमेन्सन्स आफ कम्यूनलिज्म' मेनस्ट्रीम अगस्त 1981, पृ 48

39 शाहीन हुसैन, 'साफ्टवेयर एण्ड हार्डवेयर आफ कम्यूनलिज्म' इजीनियर एव मोइन शाकिर द्वारा सम्पादित 'कम्यूनलिज्म इन इडिया मे, पृ 82.

40 अहमद अब्दुल, 'कम्यूनलिज्म इन कश्मीर' इजीनियर एव शाकिर की वही पुस्तक, पृ 147

41 दीक्षित प्रभा, 'कम्यूनलिज्म ए स्ट्रगल फार पावर' ओरियन्ट लागमैन, दिल्ली, 1974, पृ 1—10.

42 वही

43 बानू जैनाब, 'ए पोलिटिकल साइटिस्ट व्यू आफ कम्यूनलिज्म' इजीनियर एव शाकिर की वही पुस्तक पृ. 80

44 दस्तूर एलू, 'कम्यूनलिज्म ए व्यूड बाई पोलिटिकल साइटिस्ट' इजीनियर एव शाकिर की वही पुस्तक, पृ 73.

45 नायक पाडव, रिलेशनशिप बिटवीन द पोलिटिकल एण्ड कम्यूनल मेटेरियलिस्ट क्रिटीक, इजीनियर एव शाकिर की वही पुस्तक पृ 28

46 कबीर हुमायूँ, माइनारिटीज इन ए डेमोक्रेसी, कलकत्ता, 1985, पृ 6

47 वही, पृ 6.

48. वही, पृ 20.

49 लोखण्डवाला एस टी इस्लाम एण्ड कम्यूनलिज्म, इजीनियर एव शाकिर की वही पुस्तक, पृ 106—07

50 चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत मे विचारधारा और राजनीति, नई दिल्ली, 1997, पृ 169

51 चाँद, एस एम , नेशनल लीडर्स आन कम्यूनलिज्म, जयपुर 1985, पृ 63

52 दास सुरजन, कम्यूनल रायट्स इन बगाल (1905—47), आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1993, पृ 213.

53 मार्क्स कार्ल एण्ड एजेल्स फ्रेडरिक, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 3, फारेन लैग्वेज पब्लिशिग हाउस, मास्को, 1955, पृ 165.

54 पाण्डेय राजेन्द्र, सोशियोलाजी आफ अण्डर डेवलपमेट - थीसिस एण्ड क्रिटीक, मित्तल पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ 1—4

55 लॉडग्रीन हेनरी क्ले, एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलाजी, विली डस्टर्न लि , नई दिल्ली, पृ 230

56 धुर्ये, जी एस , सोशल टेन्शन इन इण्डिया, पापुलर प्रकाशन, बम्बई, 1968, पृ 14

57 वही, पृ 8

58 लाडग्रीन हेनरी क्ले, वही पुस्तक, पृ 231

59 कुप्पूस्वामी बी , एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलाजी, एशिया पब्लिशिग हाउस 1980, पृ 441

60 गार्डनर एल एण्ड इलियट ए , द हैण्डबुक आफ सोशल साइकोलाजी, खण्ड IV, एमेरिन्ड पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, 1969 पृ 556

61 सिह वी वी , वही पुस्तक, पृ 48—49.

62 चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता, पृ 28.

63 स्मिथ, डी ई , इण्डिया एज सेकुलर स्टेट, 1967.

64 देसाई, ए आर , भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन 1976, पृ 317 पर उद्धृत

65 वही

66 नेहरू जवाहर लाल, एन आटोबायग्राफी, 1989, पृ 136.

67 नेहरू जवाहर लाल, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 7 पृ 190.

68 वही खण्ड 6, पृ 69—70.

69 चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ 181.

70 सरकार सुमित द वे टू कम्यूनल हॉरमनी, यह कथन पृ 6–7 पर उद्धृत है।

71 कृष्ण के बी, द प्राब्लम आफ माइनारिटीज, लदन, 1939, पृ 296.

72 देसाई ए आर, सोशल बैकग्राउण्ड आफ इडियन नेशनलिज्म, मैकमिलन, 1939, पृ 362–63

73 दत्त आर पी, इण्डिया टुडे, बम्बई, 1949, पृ 425.

74 प्रसाद बेनी, द हिन्दू मुस्लिम क्वेश्चन, इलाहाबाद, 1941,पृ 163.

75 चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता, पृ 179

76 गोपाल एस, ब्रिटिश पालिसी इन इण्डिया (1858–1905) नई दिल्ली, 1975 (पुनर्मुद्रित) पृ 201.

77 चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता, पृ 188

78 राबिन्सन फ्रासिस, सेप्रेटिज्म एमग इण्डियन मुस्लिम द पालिटिक्स आफ द यूनाइटेड प्राविन्सेज मुस्लिम 1860–1923, दिल्ली, 1975, पृ 86

79 वही, पृ 349

80 बाधवा, के के, माइनारिटी सेफगार्ड इन इडिया, 1975, पृ 23–24

81 देसाई ए आर, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ 318

82 गोपाल आर, इडियन मुस्लिम ए पोलिटिकल हिस्ट्री, (1858–1947) बम्बई, 1959 परिशिष्ट बी

83 चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ 131.

84 वही

85 वही, पृ 102.

86 घोष एस के, कम्यूनल रायट्स इन इडिया, अनीस पब्लिशिग हाउस, 1987, पृ 4.

87 लैरी कालिन एण्ड लेपियर डॉमनीक, फ्रीडम एट मिडनाइट, तरग प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 23.

88 वही

89 घोष एस के, वही पुस्तक, पृ. 4.

90 सावरकर बी डी, हिन्दुत्व, पुणे, 1949 पुनर्मुद्रित पृ 75–77.

91 विद्यालकार एस एन, नेशनल इण्टीग्रेशन एण्ड टीचिग आफ हिस्ट्री, नई दिल्ली, पृ. 3.

92 अली मुहम्मद, सेलेक्टेड राइटिंग्स, खण्ड 1 पृ 77

93 जिन्ना एम ए, स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, खण्ड 1, पृ 161

94 सावरकर, वी डी, वही पुस्तक, पृ 34—37

95 गोलवरकर, एम एस, वी आर आवर नेशनहुड डिफाइड, नागपुर 1947, पृ 19.

96 सावरकर वी डी, हिन्दू राष्ट्रदर्शन—ए कलेक्शन आफ प्रेसीडेन्सियल स्पीचेज, बम्बई, 1949, पृ 26

97 गोलवरकर एम एस, वही पुस्तक, पृ 55—56

98 जिन्ना एम ए, वही पुस्तक, खण्ड 1, पृ 230

99 शाकिर मोइन, खिलाफत टू पाकिस्तान, नई दिल्ली, 1970, पृ 200

100 गोलवरकर एम एस, वही पुस्तक, पृ 55—56.

101 जिन्ना एम ए, वही, खण्ड 1, पृ 230

102 सुलेरी जेड ए, माई लीडर, तृतीय सस्करण 1946, पृ 229.

103 मुकर्जी आर के, फडामेटल यूनिटी आफ इडिया, लदन, 1914, पृ 6

104 गोयल डी आर, राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ, दिल्ली, 1979, पृ 40.

105 गोलवरकर एम एस, वही पुस्तक, पृ 49.

106 वही, पृ 74

107 वही, पृ 17

108 मैन्शडर्ट सी, हिन्दू—मुस्लिम प्राब्लम इन इण्डिया, लदन, 1936, पृ 33

109 रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, पृ 68—69

110 इन्द्र प्रकाश ए रिव्यू पृ—4, बिपिन चन्द्र के आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता मे उद्धृत, पृ 165

111 वही

112 रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, पृ 68—69

113 इन्द्रप्रकाश, ए रिव्यू, पृ 6, बिपिन चन्द्र की वही पुस्तक, पृ 169

114 सावरकर वी डी, हिन्दुत्व, पृ 36—56.

115 सावरकर वी डी, हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ 30

116 गोलवरकर एम एस, वही पुस्तक, पृ 15

117 सावरकर वी डी, हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ 63

118 रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी पृ 207—08

119 देसाई ए आर , वही पुस्तक, पृ 243—44

120 गाधी एम के , कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 69, पृ 280

121 प्रसाद बेनी, वही पुस्तक,पृ 25—26

122 खान सैयद अहमद, राइटिग एण्ड स्पीचेज, पृ 209—10

123 सावरकर वी डी , हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ 141—42

124 जिन्ना एम ए , वही पुस्तक, खण्ड 1, पृ 28

125 इन्द्र प्रकाश, ए रिव्यू मे भाई परमानन्द का कथन, बिपिन चन्द्र के आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता मे उद्धृत, पृ 68

126 खान एस ए , वही पुस्तक, पृ 181, अनीता इन्दर सिह के नेहरू एण्ड द कम्यूनल प्राब्लम (1936—39) मे पृ 19—20 पर उद्धृत।

127 वही, पृ 156—57

128 गोपाल आर , वही पुस्तक, पृ 20.

129 जिन्ना एम ए , वही खण्ड 1, पृ 42

130 वही, पृ 89

131 वही, पृ 117—18

132 इन्द्रप्रकाश, ए रिव्यू मे भाई परमानन्द का कथन, बिपिन चन्द्र के आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता मे उद्धृत, पृ 73.

133 सावरकर वी डी , हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ 171—72

134 जिन्ना एम ए , वही पुस्तक, पृ 78.

135 नेहरू के सेलेक्टेड वर्क्स खण्ड 6 मे उद्धृत, पृ 168

136 गोलवरकर एम एस , बच आफ थाट्स, पृ 150

137 गोयल डी आर , वही पुस्तक, पृ 87.

138 होम डिपार्टमेट के सी आईडी की रिपोर्ट, बिपन चन्द्र के आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता मे उद्धृत, पृ. 90.

139 रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, पृ 227.

अध्याय--2

साम्प्रदायिक राजनीति का प्रारम्भिक स्वरूप

मोटे तौर पर इतिहासकारो ने भारत मे साम्प्रदायिकता के विकास को चार चरणो मे विभाजित किया है। प्रथम चरण (1880—1905) मे भारत मे साम्प्रदायिकता गोरक्षा आन्दोलन एव हिन्दी—उर्दू विवाद के इर्द—गिर्द घूमती है। गोहत्या के प्रश्न पर ही 1893 मे आजमगढ जिले मे साम्प्रदायिक दगे होते है, जो कि हिन्दू एव मुसलमानो के पारस्परिक वैमनस्य को बढाते है। इसी अवधि मे सर सैयद अहमद खॉ मुसलमानो के शैक्षणिक एव सामाजिक स्तर सुधारने के लिए अलीगढ अन्दोलन का सूत्रपात करते है, जिसने आगे चलकर साम्प्रदायिक रुख अख्तियार कर लिया ।

दूसरे चरण (1906—1918) मे भारत मे साम्प्रदायिकता के विकास मे ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की भूमिका स्पष्टत परिलक्षित होती है। इसी के चलते एक साम्प्रदायिक सगठन अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना 1906 मे होती है। इसी दौरान औपनिवेशिक शासन द्वारा भारत मे मुसलमानो को राष्ट्रवाद से अलग करने के उद्देश्य से बगाल प्रान्त का विभाजन किया जाता है और मुसलमानो के लिए पृथक निर्वाचक मडल की व्यवस्था 1909 के अधिनियम द्वारा होती है। 1911 मे बग—भग को रद्द कर दिया जाता है, किन्तु पृथक निर्वाचक मडल पर काग्रेस अपनी स्वीकृति की मुहर लखनऊ पैक्ट (1916) के माध्यम से लगाती है। जो कि काग्रेस के मुस्लिम तुष्टीकरण नीति का परिचायक है।

तीसरे चरण (1919—29) मे खिलाफत आदोलन मे काग्रेस की सक्रिय भूमिका होती है, किन्तु असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद देश मे कई स्थानो पर साम्प्रदायिक दगे होते हैं। शुद्धि—सगठन एव तबलीग —तजीम आन्दोलन सक्रिय हो जाते हैं। इस दौरान साम्प्रदायिकता मे एक नया मोड आता है — मो0 अली जिन्ना के चौदह सूत्री कार्यक्रम के रूप मे।

साम्प्रदायिकता के विकास के अंतिम चरण मे (1930—47) मे मुस्लिम लीग को न केवल पुनर्जीवित किया जाता है। बल्कि इसे मुसलमानो के हितो की रक्षा करने वाले दल के रूप में कांग्रेस के समक्ष एक गभीर चुनौती के रूप में स्थापित कर दिया जाता है। 1940 मे लाहौर अधिवेशन मे 'द्वि—राष्ट्र' सिद्धान्त प्रतिपादित होता है और पाकिस्तान की मॉग की

जाती है। जिसकी विकृत परिणति 1946 के 16 अगस्त को प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस के रूप मे होती है। इस घोषणा के कारण बगाल, बिहार, सयुक्त प्रान्त दिल्ली आदि जगहो पर दगे होते हैं। जो कि अन्तत पाकिस्तान निर्माण की मॉग को अतिम रूप से पुष्ट करते है।

भारत मे साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता की भावना का विकास करीब–करीब साथ–साथ होता रहा। राष्ट्रीयता की भावना ने जहाँ स्वतत्रता सघर्ष को आगे बढाने मे अपना योगदान किया, वही दूसरी ओर साम्प्रदायिकता ने देश मे विघटनकारी शक्तियो को बल दिया, जिससे अन्तत पाकिस्तान एक अलग सम्प्रभु के रूप मे स्थापित हुआ। वास्तव मे ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारत देश को राजनीतिक एकता तो दी थी लेकिन उसका आधार धार्मिक था। उन लोगो (शासको) ने अपनी ओर से यह सावधानी बरती थी कि भारत को हिन्दू, मुसलमान एव सिख जैसे धार्मिक सम्प्रदायो मे विभक्त कर समुदाय के अभिजात वर्ग को प्रभाव मे रखा जाय। ऐसे वर्गो ने न केवल अपने लाभ के लिये ब्रिटिश शासन का उपयोग किया, बल्कि समय–समय पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को मजबूती प्रदान करने मे सहायता भी की। इस वर्ग के लोगो ने ऐसे इतिहास को प्रोत्साहन दिया जिसका आधार अलगाववादी था। इन लोगो ने भारत देश की मौलिक एकता पर अपने साम्प्रदायिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के चलते कुठाराघात भी किया। ज्ञानेन्द्र पाण्डेय का यह मानना है कि इस तरह की ऐतिहासिक समझ को भारत देश की उपाश्रयी[1] जनता ने अपना समर्थन नही दिया। गहराई मे जाने पर ऐसा लगता है कि मुस्लिम अलगाववाद भारत मे औपनिवेशिक नीति का दुष्परिणाम था।

साम्प्रदायिक धारणा ने इस तरह के वातावरण का निर्माण किया जिससे यह लगने लगा कि हिन्दू एव मुसलमान परस्पर विरोधी इकाइयाँ थी, जिनका विकास मध्यकाल से ही 'दो राष्ट्रो' के रूप मे हो रहा था। इसके ठीक विपरीत राष्ट्रवादी धारणा थी, जिसके अनुसार भारत मे हिन्दू–मुसलमान कभी पूरे सौहार्द के वातावरण मे रहते थे, लेकिन यह सौहार्द अग्रेजो की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के कारण समाप्त हो गया था। इन दोनों ही धारणाओ में देशव्यापी एकता एव एकरूपता की मान्यता निहित है जो कि सदी के उत्तरार्द्ध मे दूर संचार एव आर्थिक सम्बन्धों के विकास के पूर्व निश्चित रूप से असंभव थी।[2] यह सच है कि भारत मे राष्ट्रवाद एव हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदायवाद अनिवार्यत आधुनिक

राष्ट्रीयताएँ है। हिन्दुओ एव मुसलमानो के बीच सघर्ष के उदाहरण गत शताब्दियो मे देखे जा सकते हैं। साथ ही शिया सुन्नी के बीच सघर्ष या जातिगत सघर्ष के उदाहरण मिलते है। किन्तु 1880 के दशक के पूर्व साम्प्रदायिक दगे नही के बराबर हुये थे। कूपलैण्ड जो कि साम्राज्यवादी खेमे के इतिहासकार है, ने 1809 मे बनारस मे हुये एक साम्प्रदायिक दगे का वर्णन किया है। जिसमे ऐसा कहा जाता है कि हिन्दुओ ने पचास मस्जिदो को नष्ट किया। इसके बाद 1871—72 मे फिर साम्प्रदायिक दगो की बात कूपलैण्ड करते हैं। उनका यह भी कहना है कि हिन्दू—मुस्लिम समस्या ही ब्रिटिश शासन के चलते रहने का एक महत्वपूर्ण कारण थी।[3]

सामान्यत यह समझा जाता है कि साम्प्रदायिकता बहुत हद तक सरकारी नौकरियो एव राजनीतिक लाभ को लेकर अभिजात वर्ग के सघर्ष का परिणाम थी। लेकिन हकीकत यह है कि सम्प्रदायवाद ने बहुत पहले ही सामूहिक आयाम धारण कर लिया था, यद्यपि कि यह भी मानना पडेगा कि सामूहिक साम्प्रदायिकता अभिजन समूहो की गतिविधियो से पूरी तरह अछूती नही थी। उदाहरण के तौर पर मोपला या पावना के आन्दोलनो मे सम्प्रदायवाद के सभावित पहलू विकसित नही हुये थे। शायद ऐसा इसलिये था कि मालाबार या बगाल मे 1870 के दशक मे विभाजनवादी बुद्धिपरक नेतृत्व का अभाव था। दूसरी ओर सयुक्त प्रान्त एव पजाब मे जहॉ हिन्दू और मुसलमानो के अभिजन समूहो का सतुलन समान था, 1880 के दशक के बाद साम्प्रदायिक दगे आम हो गये। सभवत ऐसा सामाजिक आर्थिक सम्बन्धो मे समाज के दो बडे समुदायो के बीच अन्तर के कारण था। जैसे कि सयुक्त प्रान्त के अवध अलीगढ और बुलन्दशहर शहरो मे हिन्दू काश्तकारो का सामना मुसलमान ताल्लुकेदारो एव भूस्वामियो से होता था। इस प्रान्त के शहरी क्षेत्रो मे मुसलमान प्रायः कारीगर, दुकानदार या छोटे व्यापारी होते थे। पजाब मे हिन्दू व्यापारी और साहूकार मुसलमान काश्तकारो के बीच अलोकप्रिय हो गये थे। इसमे सन्देह नही कि इस काल मे आर्थिक तनाव साम्प्रदायिकता की वृद्धि का महत्वपूर्ण कारण था। इसी समय गोरक्षा आन्दोलन भी शुरू हुआ, जिसने साम्प्रदायिक सम्बन्धो को और कटु बनाया तथा बाद मे इसके चलते 1880 एवं 1890 के दशक मे साम्प्रदायिक दगे हुये। गाय के प्रश्न को लेकर साम्प्रदायिक दगो का यह सिलसिला 1916—17 तक चलता रहा। इस प्रश्न ने उत्तर भारत मे ज्यादा साम्प्रदायिक तनाव पैदा किया। 1883 से 1891 के बीच गेराल्ड बेरियर[4] ने पजाब मे ऐसे

पन्द्रह दगो का उल्लेख किया है। पूर्वी सयुक्त प्रान्त एव बिहार मे 1888 एव 1893 के बीच इन दगो ने चरम रूप धारण कर लिया था। बलिया, बनारस, आजमगढ, आरा, सारन, गया और पटना जिले इनसे बुरी तरह प्रभावित हुये।

पश्चिम भारत मे भी गोरक्षा आन्दोलन का प्रसार हुआ, जब 1893 मे बम्बई के गुजराती मिल मालिक ने गोरक्षा समाज का गठन किया। पश्चिम भारत मे साम्प्रदायिकता को और अधिक विकसित करने मे बाल गगाधर तिलक द्वारा सामुदायिक स्तर पर आयोजित होने वाले गणपति उत्सव महत्वपूर्ण कारण थे। गणपति उत्सवो के लिये लिखे जाने वाले गीतो मे खुले आम हिन्दुओ से कहा जाता था कि वे मुहर्रम मे भाग न ले। इन गीतो मे कुछ तो भडकाने वाले होते थे। जैसे– 'अल्लाह ने तुम्हे क्या वरदान दिया है कि तुम आज मुसलमान हो गये ? विदेशी धर्म से मैत्री न करो गाय हमारी माता है। उसे मत भूलो।[5]

कलकत्ता के औद्योगिक उपनगरो मे भी साम्प्रदायिक दगो की पहली रिपोर्ट 1891 मे मिलती है। इसके बाद टीटागढ और गार्डन रीच मे 1896 मे बकरीद पर साम्प्रदायिक तनाव हुआ और 1897 मे उत्तर कलकत्ता मे बडे पैमाने पर दगे हुये।

भारत मे साम्प्रदायिकता के उद्‌भव और क्रमिक विकास के अध्ययन मे सर सैयद अहमद खॉ और उनकी गतिविधियो का उल्लेख करना आवश्यक है क्योकि इसके बिना साम्प्रदायिकता के उद्‌भव को ठीक से नही समझा जा सकता है। सर सैयद अहमद की पारिवारिक एव सामाजिक पृष्ठभूमि पर नजर डाले तो यह लगेगा कि सर्वप्रथम वे मुसलमान थे। 1857 के विद्रोह के पहले जैसा कि उनके जीवनीकार हाली ने लिखा है कि उनकी धार्मिक प्रवृत्ति बहुत महत्वपूर्ण थी।[6] अन्य मुसलमानो की तरह उन्होने भी धार्मिक विषयो पर लिखा, पैगम्बर मुहम्मद की जीवनी लिखी, सुन्नियो के पक्ष मे शियाओं के विरुद्ध अपनी दलीले दी और बहावीवाद पर अपने विचार रखे। ये सभी कृत्य उनके कट्‌टर मुसलमान होने के परिचायक थे और किसी भी तीसरे दर्जे के मौलवी द्वारा लिखे जा सकते थे।[7]

1857 के विद्रोह के बाद सैयद अहमद के धार्मिक लेखन मे बदलाव आया क्योकि वे चाहते थे कि उनके धर्मावलम्बियों और ईसाई शासकों के बीच सम्बन्ध सुधरे। इसीलिये उन्होने बाइबिल पर टिप्पणी लिखी जो कि उनके पहले के लेखन से कम कट्‌टर थी। इस टिप्पणी का

उद्देश्य मुस्लिम समाज को ईसाइयो के धार्मिक कार्यकलापो से परिचित कराना था। दूसरी ओर उन्होने मुसलमानो के पुनर्वास की भी प्रक्रिया शुरु करने का प्रयास किया। ऐसा इसलिये जरूरी था कि 1857 के विद्रोह मे मुस्लिम भागीदारी ने मुस्लिम समाज को औपनिवेशिक शासन की नजर से गिरा दिया। 1860 मे सैयद अहमद ने अपने कई इश्तहारो मे इस बात का खुलासा किया कि भारत मे जेहाद लाजिमी नही है। ब्रिटिश शासन के प्रति मुसलमानो की भक्ति दिखाने के लिये उन्होने कई ऐसी सूचनाये इन इश्तहारो के माध्यम से दी जो कि इस बात को सिद्ध करती थी कि 1857 के विद्रोह के समय मुसलमान ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार थे। ऐसे इश्तहारो की सख्या तीन थी जिनका सकलन 'एन एकाउन्ट आफ द लायल मोहम्मडन्स आफ इडिया' मे मिलता है।[8]

यह सत्य है कि विद्रोह के बाद सैयद अहमद का मुख्य उद्देश्य मुसलमानो एव सरकार के वैमनस्यपूर्ण सम्बन्धो को समाप्त करना था। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि उनकी चिन्ता उर्दू बोलने वाले अभिजात वर्ग की स्थिति से थी, जो कि औपनिवेशिक शासन की नीतियो के कारण खतरे मे थी। यहाँ यह ध्यान देना भी महत्वपूर्ण है कि उर्दू बोलने वाले मुसलमान केवल एक भाग थे, अन्य गैर मुस्लिम भी उर्दू की पढाई किया करते थे। उर्दू भाषा मुसलमानो की भाषा नही थी।

भारतीय समाज के सन्दर्भ मे व्याप्त भ्रान्तियो को दूर करने के लिये उन्होने ब्रिटिश सरकार से यह आग्रह किया कि भारतीयो को विधायिका मे प्रतिनिधित्व दिया जाय, क्योकि इसके बिना सरकार यह नही जान सकती है कि किस तरह के कानून एव विनियम पास नही किये जाने चाहिये। इसके बिना वह कभी इस तथ्य से वाकिफ नही हो सकती है कि उसे भी जनता की आवाज को सुनना चाहिए।[9] दूसरी ओर आम जनता मे ब्रिटिश सरकार के सम्बन्ध मे जो भ्रान्ति थी, उसको दूर करने के लिये उन्होने शिक्षा के ऊपर जोर दिया। उनका उद्देश्य ग्राहम के शब्दो मे था— "शिक्षा, शिक्षा, शिक्षा', 'भारत के सभी सामाजिक राजनीतिक रोग इस उपचार से दूर किये जा सकते हैं।[10]

सैयद अहमद को पूर्ण विश्वास था कि भारतीय मुसलमानो की समस्याओ का निदान शिक्षा मे ही निहित है, लेकिन वे यह निश्चित नही कर सके कि शिक्षा का स्वरूप क्या हो। उन्होने ब्रिटिश सरकार की शिक्षा

नीति का पूरी तरह विरोध किया क्योकि उनके विचार से मैकाले की शिक्षा पद्धति यहॉ के रहने वाले लोगो की धार्मिक चिन्ताओ से परे थी। मैकाले ने ब्रिटिश सरकार की शिक्षा व्यवस्था मे उसकी भाषा की शिक्षा पर ध्यान नही दिया था। इसके साथ ही फिका और हदीस को भी शिक्षा व्यवस्था से निकाल दिया गया था तथा फारसी के अध्ययन की भी अवहेलना की गयी थी। सैयद अहमद के अनुसार सरकार की यह मशा थी कि हिन्दुस्तान मे जो भी धर्मावलम्बी उनके आने के समय थे, उनको नष्ट किया जाय।[11] उन्होने स्थानीय सरकार की उस नीति जिसमे देशी भाषाओ को प्रोत्साहित करना था, विरोध किया। 1859 मे एक वक्तव्य[12] मे उन्होने यह तर्क दिया कि ऐसी भाषाये विशेषकर उर्दू उच्च शिक्षा के लिये उपयुक्त माध्यम नही है। उन्होने अग्रेजी भाषा को अपनाये जाने का समर्थन किया। उसी वर्ष मुरादाबाद मे उन्होने एक फारसी स्कूल की स्थापना की जो कि पारम्परिक शैली का स्कूल था। लेकिन उसमे नयी शिक्षा पद्धति के कुछ तत्वो का समावेश किया गया था। जैसे उपस्थिति पजिका, निश्चित पाठ्यक्रम एव परीक्षाये, किन्तु इसका महत्वपूर्ण पहलू आधुनिक इतिहास के अध्ययन पर जोर देना था। सैयद अहमद का यह मानना था कि यदि भारतीयो को अपने समसामयिक इतिहास के बारे मे ज्ञान होता तो 1857 का विद्रोह टाला जा सकता था।[13] इस स्कूल की स्थापना मे मुरादाबाद के स्थानीय हिन्दू एव मुसलमानो ने सहयोग किया था।[14]

बाद मे सैयद अहमद द्वारा स्थापित साइन्टिफिक सोसाइटी (1864), आधुनिकतावादी उर्दू पत्रिका 'तहजीब उल अखलाक' (1870) और अलीगढ एग्लो ओरियन्टल कालेज (1875) ने पश्चिमी सयुक्त प्रान्त के उच्च वर्गीय मुसलमानो को अग्रेजी शिक्षा की ओर आकर्षित किया। सैयद अहमद ने इस्लाम को अपने ही ढग से परिभाषित किया और स्वतत्र खोज (इश्तिहार) तथा कुरान के दिव्य ज्ञान एव आधुनिक विज्ञान द्वारा खोजे गये प्राकृतिक नियमो के बीच तथाकथित समानताओ पर बल दिया। फिर भी अलीगढ मे धर्मशास्त्र की कक्षाओ का सचालन रूढिवादी मुल्ला ही करते थे और समय बीतने के साथ विशेषत मोहसिन उल मुल्क के समय मे अलीगढ के आधुनिकतावादी तत्व शिथिल पडते गये। इस सन्दर्भ मे महत्वपूर्ण बात यह थी कि सर सैयद अहमद ने हमेशा इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि पाश्चात्य शिक्षा उच्चवर्गीय मुसलमानो को मुसलमानो के रूप मे मिले जो मुसलमानो मे सामूहिक एकता की भावना पैदा करे। उनके कार्यक्रम बडे

सुचारु रूप से उस नई ब्रिटिश नीति का अनुसरण करते थे जिसका निर्माण हण्टर के 'इडियन मुसलमान्स' द्वारा हुआ था। जिसे 1871 मे मेयो ने नियुक्त किया था। इस नीति के तहत हण्टर का कहना था कि अग्रेजो को मुसलमानो की एक ऐसी नई पीढी के विकास मे सहायक होना चाहिये, जिसमे पश्चिम के ज्ञान का खुशनुमा रग हो। साथ ही उसे अपनी धार्मिक सहिता का भी पर्याप्त ज्ञान हो, ताकि वह अपने समुदाय के लोगो का पर्याप्त आदर प्राप्त कर सके।[15]

इस नीति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अलीगढ को ब्रिटिश सरकार का असाधारण सरक्षण मिला। जिसमे वायसराय लार्ड नार्थब्रुक द्वारा दिया गया दस हजार रूपये का निजी दान भी सम्मिलित था। सबसे बढकर यह ब्रिटिश समर्थन ही था जिसके कारण एक व्यक्ति जिसके धार्मिक विचार इतने अरूढिवादी थे कि उसके अपने सहधर्मियो ने काफिर घोषित कर दिया था, अपने सम्प्रदाय का हिमायती माना गया।[16] सयुक्त प्रान्त के मुसलमान जमीदारो एव पारम्परिक नौकरी पेशा परिवारो ने सैयद अहमद को सामाजिक आधार प्रदान किया, जो विशेषाधिकार प्राप्त किन्तु धीरे–धीरे क्षीण पडते समूह थे। इस प्रकार हण्टर ने बगाल की विशिष्ट स्थिति के आधार पर जहॉ कि शहरी उच्चवर्ग के मुसलमानो की सख्या अपेक्षाकृत कम थी, का जो सामान्यीकरण किया था और जिसे अनेक अग्रेज अधिकारियो एव मुसलमान नेताओ ने स्वीकार कर लिया था, के विपरीत अलगाववाद का कारण मुसलमानो का पिछडापन नही था, अपितु यह पारम्परिक मुसलमान अभिजात वर्ग को हिन्दू व्यापारी साहूकार और व्यवसायिक समूहो से खतरा उत्पन्न होना था। जो जमीने खरीद रहे थे, नगर पालिकाओ पर कब्जा जमा रहे थे और उनकी कीमत पर नौकरियॉ प्राप्त कर रहे थे। ऐसी ही स्थिति किन्तु उल्टे रूप मे पजाब मे भी देखी जा सकती थी, जहॉ केनेथ जोन्स आर्य समाज के पुनरुत्थानवाद के प्रति बढते आकर्षण का कारण अशत उस मुस्लिम चुनौती को मानते है, जो खत्री अरोडा और वाडिया समुदायो के व्यापारिक एव व्यावसायिक प्रभुत्व को मिल रही थी।

आरम्भ मे अग्रेजो द्वारा अलीगढ आन्दोलन को समर्थन देने का कारण यह नही था कि उन्हे काग्रेस छाप राष्ट्रवाद को सतुलित करने के लिये एक जवाबी आन्दोलन की आवश्यकता थी, बल्कि सरकार को भारतीय इस्लाम की कुछ एक अन्य प्रवृत्तियो से भय था। यहॉ पर ध्यान देने

योग्य बात यह है कि काग्रेस इस समय तक ब्रिटिश सरकार के लिये कोई खतरा नही थी। ब्रिटिश सरकार को ज्यादा भय उस कट्टरवाद और विदेश विरोधी मानसिकता से था जिसे कुछ धार्मिक नेता जनसामान्य मे प्रचारित कर रहे थे। जिसे पीटर हार्डी ने छोटी जोत वाले किसानो, मुल्लो, अध्यापको, पुस्तक विक्रेताओ, छोटे कर्मचारियो एव कुशल कारीगरो का औद्योगिक पूर्व निम्न मध्यवर्ग कहा है। जो लोग अपनी भाषा मे पढना लिखना जानते थे और जिनका धार्मिक जोश बडे जल्दी ही उबाल मे आ जाता था।[17] मोटे तौर पर हिन्दुओ के भी ऐसे समूह उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे पुनरुत्थानवादी एव अतिवादी राष्ट्रवाद की ओर आकर्षित हो रहे थे।

मुसलमानो के बीच एक और भी शान्त प्रकृति की अग्रेज विरोधी प्रवृत्ति देवबन्द के धार्मिक मठ मे जीवित रही, जिसकी स्थापना 1867 मे हुई थी। बहावियो के विपरीत यह कट्टर रूप से रूढिवादी थे और इसी कारण सैयद अहमद के प्रति वैमनस्य रखते थे कि उन्होने धर्मशास्त्र मे नयी परिभाषाये दी थी साथ ही वे राजभक्त थे। देवबन्द ने अपेक्षाकृत गरीब विद्यार्थियो को आकर्षित किया जो पश्चिमी शिक्षा का व्यय नही उठा सकते थे। देवबन्द ने अपने यहॉ से निकलने वाले मदरसो के अध्यापको के माध्यम से अपना प्रभाव बनाये रखा और बीसवी सदी मे काग्रेसी राष्ट्रवाद को पर्याप्त समर्थन प्रदान किया।

ब्रिटिश सरकार को सबसे अधिक भय अखिल इस्लामी भावनाओ के प्रसार से था। इन भावनाओ को उत्तेजित करने वाला स्रोत था– उस्मानिया सुल्तान तथा खलीफा का दूरस्थ व्यक्तित्व। विशेष रूप से 1876–78 के बाल्कन युद्ध एव 1896–97 के यूनानी–तुर्की युद्ध के समय आधुनिक अखिल इस्लामवाद के संस्थापक जमालुद्दीन अलफगानी 1879–82 के बीच भारत मे स्वय उपस्थित थे तथा हैदराबाद एव कलकत्ता मे लिखते एव व्याख्यान देते थे। यद्यपि जमालुद्दीन ने सर सैयद अहमद पर तीव्र प्रहार किये।[18] किन्तु स्वय उनके धर्मशास्त्र सम्बन्धी विचार सैयद अहमद से कम अपारम्परिक नही थे और उन्होने कलकत्ता मे विद्यार्थियो को दिये व्याख्यानो मे हिन्दू–मुस्लिम एकता की मार्मिक हिमायत की थी। वास्तव मे उन्हे सैयद अहमद के पिट्ठू होने पर आपत्ति थी। इस बात के प्रमाण हैं कि 1890 के दशक तक कलकत्ता के मुसलमान पटसन मजदूरों तक को यह सिखाया जाने लगा था कि सुल्तान दूरस्थ ही सही एक शक्तिशाली सरक्षक है।

1897 के कलकत्ता दगो मे अखिल इस्लामवाद का योगदान रहा। 20 वर्ष बाद यही खिलाफत आन्दोलन के माध्यम से एक सशक्त साम्राज्यवाद विरोधी शक्ति बना। साथ ही राष्ट्रवाद के बढते कदम पर भी अकुश रखने का प्रयास किया।

इस तरह उन्नीसवी शताब्दी मे भारतीय समाज मे हिन्दू और मुसलमान समुदायो के बीच सघर्ष उतना उग्र नही था जितना कि इन दोनो समुदायो के भीतर होने वाला सघर्ष। किन्तु 1880 एव 1890 के दशको मे सम्प्रदायवाद भी पहली बार एक अखिल भारतीय आयाम ग्रहण कर रहा था। उर्दू एव देवनागरी विवाद तथा गोरक्षा इसके दो महत्वपूर्ण मुद्दे थे। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे गोरक्षा एक महत्वपूर्ण मुद्दा था जिसने हिन्दू एव मुसलमान के बीच बढती खाई को और बढाया। यह एक ऐसा मुद्दा था जिसने अभिजात वर्ग और लोकव्यापी साम्राज्यवाद को एक धरातल पर ला खडा किया। गोरक्षा के हिमायती हिन्दुओ को आशा थी कि इस सम्बन्ध मे कोई कानून बनेगा जिसके लिये वे आन्दोलनरत थे। सयुक्त प्रान्त की कई म्यूनिस्पल कौंसिलो ने उपनियम पारित किये थे, जो बूचडखानो एव कबाब की दुकानो पर स्वच्छता के तथाकथित आधार पर पाबन्दी लगाते थे। मुसलमान राजनीतिज्ञो को भय था कि चुनावो के फलस्वरूप जो हिन्दू बहुमत आयेगा वह उस बात पर और अधिक पाबन्दी लगायेगा, जिसे अनेक लोग अपने धर्म का अनिवार्य अग समझते थे।

दयानन्द सरस्वती ने "गऊ करुनानिधि" शीर्षक से एक किताबुचा प्रकाशित किया था और 1880 के दशक के बाद उत्तर भारत के अनेक भागो मे गोरक्षिणी सभाये बनने लगी थी। जिनको कुछ वकीलो एव जमीदारो के सरक्षण के साथ ही कतिपय घुमक्कड साधुओ की गतिविधियो से प्रोत्साहन मिलता था। गाय न केवल पुरातन काल से धार्मिक प्रतीक रही थी, बल्कि किसान के लिये भूमि के बाद सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक पूँजी थी। दूसरी ओर पढे लिखे हिन्दू इस तर्क को मानते थे कि गोरक्षा से समस्त भारतीयो के स्वास्थ्य एव समृद्धि में वृद्धि होगी। 1892–93 मे गोरक्षिणी सभाये अधिक जुझारू बनने लगी थी। जो शायद वर्ष भर पूर्व 'एज आफ कन्सेन्ट बिल' के पारित किये जाने के प्रति रूढिवादी हिन्दुओ के रोष को दर्शाता है। गायो की बिक्री या वध पर बलपूर्वक हस्तक्षेप तथा सभारूपी न्यायालयो की स्थापना की जो रिपोर्ट मिलती है, जिसमे कसाइयो को गाय बेचने पर जुर्माना या सामाजिक बहिष्कार का दण्ड दिया जाता था ने मुस्लिम तथा हिन्दू साम्प्रदायिकता को आगे बढ़ाने का कार्य किया।

यह वही समय था जब इस्लामी पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियॉ बकरीद पर गोकुशी की अनिवार्यता पर बल दे रही थी। यही जून–जुलाई 1893 मे बड़े स्तर पर हुये साम्प्रदायिक दगो का आधार बना। ये दगे आजमगढ के मऊ कस्बे से आरम्भ हुये जहॉ बडी सख्या मे मुसलमानो पर गाजीपुर एव बलिया से आयी भीड़ ने आक्रमण किया। बलिया मे दगे सबसे अधिक सगठित थे, जहाँ एक राजपूत जमीदार अधिक सक्रिय था। गोहत्या के मुद्दे पर सर्वाधिक खून खराबा सारन, गया और पटना मे हुआ जहॉ बडे–बडे पशु मेले लगते थे। सबसे हिसक साम्प्रदायिक दगा बम्बई शहर मे हुआ। यद्यपि कि यहॉ मुद्दा गोहत्या का न होकर हिन्दुओ द्वारा मस्जिदो के आगे से जुलूस निकालना था। इन दगो मे करीब अस्सी लोग मारे गये थे। दगो के दो अन्य स्थान जूनागढ एव दूरस्थ रगून थे। ऐसे देशव्यापी दगे पहले कभी नही हुये थे। निश्चय ही आधुनिक राष्ट्रवादी आन्दोलन के लिये यह बुरा लक्षण था, जो जोर पकड रहा था।

एक और महत्वपूर्ण विवादित मुद्दा भाषा की समस्या थी, जिसने हिन्दी–उर्दू विवाद को जन्म दिया। हिन्दी आन्दोलन की शुरुआत सन् 1860 के दशक मे बनारस के कुछ शिक्षित हिन्दुओ ने की, जब बाबू शिवप्रसाद ने 1868 मे लिपि से सम्बन्धित एक ज्ञापन दिया जिसमे यह तर्क दिया गया था कि उत्तर पश्चिम प्रान्त एव अवध मे उर्दू एव फारसी के अध्ययन को जो सरकारी मदद दी जा रही है, उसके कारण हिन्दी का अध्ययन एव उसका विकास प्राथमिक स्तर पर भी अवरुद्ध हो रहा था। इस ज्ञापन मे हिन्दी और देवनागरी लिपि को एक साथ जोड दिया गया था। बाबू शिवप्रसाद ने इस ज्ञापन के माध्यम से यह मॉग की कि फारसी शब्दावली को सरकारी कामकाज की भाषा से हटा दिया जाय और उसके स्थान पर हिन्दी को लाया जाय। 1873 मे इसी तरह का एक स्मारक पत्र उस समय के उपराज्यपाल सर विलियम म्योर को दिया गया था। 1881 मे हिन्दी आन्दोलन को एक महत्वपूर्ण सफलता हाथ लगी जब बिहार मे हिन्दी और देवनागरी लिपि को उर्दू एव फारसी लिपि के स्थान पर सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में मान्यता दी गयी।[19] बाद मे सन् 1900 मे मैकडॉनेल (सयुक्त प्रान्त का तत्कालीन गर्वनर) ने इस बात की इजाजत दे दी कि सरकारी पत्राचार देवनागरी लिपि मे किया जा सकता है। इसके साथ ही सभी नवनियुक्त मुलाजिमो को देवनागरी एव फारसी लिपि दोनो की जानकारी होना अनिवार्य कर दिया गया। इस आदेश ने उन मुस्लिम

परिवारो के समक्ष समस्या खडी कर दी जो सरकारी ओहदो पर थे। यद्यपि उनके लिये यह सौभाग्य था कि मैकडॉनेल की इस नीति का उतनी कडाई से पालन नही किया गया जितना कि मैकडॉनेल चाहता था। फिर भी इतना निश्चित था कि सरकारी सेवारत मुसलमान ब्रिटिश नीति मे मौलिक परिवर्तन का एहसास कर रहा था। फारसी को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से हटा दिया गया था। तहसीलदार और उपजिलाधिकारियो की उस सूची को केवल इस आधार पर निरस्त कर दिया गया, जिसमे मुसलमानो की सख्या अधिक थी।[20]

इस तरह के आदेश जारी किये गये थे कि किसी भी सरकारी कार्यालय मे पॉच हिन्दुओ पर तीन मुसलमान कर्मचारी/अधिकारी से ज्यादा न हो। जैसे ही देवनागरी लिपि को सरकारी मान्यता दी गयी, मुसलमानो ने एक 'मुस्लिम रक्षक सघ' का गठन किया, जिसकी अध्यक्षता छत्तारी के नवाब ने की। यह निर्णय किया गया कि उत्तर भारत के मुसलमानो के प्रतिनिधियो की एक बैठक की जाय और देवनागरी लिपि सम्बन्धी सरकारी प्रस्ताव पर चर्चा कर एक ज्ञापन उपराज्यपाल को दिया जाय। इलाहाबाद मे भी एक उर्दू रक्षक सघ की स्थापना 1898 मे की गयी थी। करामत हुसेन के निर्देशन मे यह सक्रिय हो गया।[21] लखनऊ की एक बैठक मे अग्रणी मुस्लिम नेताओ ने हामिद अली खॉ की अध्यक्षता मे एक बैठक की, जिसमे उर्दू की रक्षा के लिये एक समिति का गठन किया गया।

देवनागरी लिपि को सरकारी मान्यता देने सम्बन्धी प्रस्ताव ने मुस्लिम राजनीति को अलीगढ और उसके आस–पास के सीमित क्षेत्र से निकालकर एक विस्तृत आधार दिया। आगरा के जमीदार अवध के ताल्लुकेदार, उलेमा, वकील और उस समय के तमाम मुस्लिम काग्रेसी नेताओ जैसे अलीगढ के हफीज अब्दुल रहीम, अवध पच के सम्पादक सज्जाद हुसेन तथा लखनऊ के हमीद अलीखॉ ने अपने आपको इस आन्दोलन से पूरी तरह से जोड लिया। सरकार ने लखनऊ की बैठक का अपने अनुसार विश्लेषण किया और आन्दोलनरत मुसलमानों को दो श्रेणियो मे रखा। पहली श्रेणी मे वे लोग थे जो धनी एवं प्रभावकारी थे और दूसरी श्रेणी मैं ऐसे सम्भ्रान्त युवा थे जिनका प्रगतिशील चरित्र था।[22]

ब्रिटिश सरकार ने यह विभाजन इस आधार पर किया था कि इन दो श्रेणियो के लोग सरकार के प्रति क्या दृष्टिकोण रखते हैं। उदाहरण के लिये पहसू के नवाब, जमींदार और विधायिका मे मुस्लिम प्रतिनिधि शान्त

रहे। मैकडॉनेल द्वारा एक झिडकी ही अधिकाश जमीदारो को सही रास्ते पर लाने के लिये काफी होती थी। लेकिन मोहसिन उल मुल्क दूसरे दृष्टिकोण का था। मई महीने मे उपराज्यपाल की एक सख्त चेतावनी की अवहेलना करते हुये सरकारी दृष्टिकोण के प्रति अपना विरोध आन्दोलन जारी रखा और अगस्त मे लखनऊ मे बैठक की अध्यक्षता की। क्रोधित होकर मैकडॉनेल ने अलीगढ़ को मिलने वाली सभी सहायता बन्द कर दी, किन्तु विरोध आन्दोलन मे सम्भ्रान्त युवा लगे रहे। इन लोगो ने अब यह महसूस किया कि सर सैयद अहमद की सरकार पर निर्भर रहने की नीति खोखली थी। ये लोग अपने हित की रक्षा के लिये और अधिक उग्र कार्यवाही की मॉग करने लगे। इनमे अलीगढ का स्नातक गुलाम उस सकलेन एक प्रमुख व्यक्तित्व था। अब इन लोगो के बीच यह भावना भी पनपने लगी कि मुसलमानो का भी एक राजनीतिक सघ होना चाहिये। गुलाम उस सकलेन ने अपनी पत्रिका 'अस्र ए जदीद' (स्थापना 1903) मे मुसलमानो के राजनीतिक सगठन की आवश्यकता के कारण दिये। उनके अनुसार मुस्लिम राजनीतिक सघ नही होने के कारण मुसलमानो को कई तरह की हानि हुई है और उनके हित अब भी दबाये जा रहे है। जैसे कि हिन्दी–उर्दू विवाद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से फारसी का हटाया जाना और म्यूनिस्पल एव स्थानीय निकायो मे मुसलमान सदस्यो की कमी।[23]

इसके साथ ही इस बात को स्पष्ट किया कि मुसलमान काग्रेस मे शामिल नही हो सकते है क्योकि काग्रेस निर्वाचन के सिद्धान्त एव प्रतियोगी परीक्षा की हिमायती है। लेकिन उन्होने यह भी कहा कि वे अन्य मुद्दो पर काग्रेस के साथ सहयोग कर सकते हैं। जैसे कि नमक कर मे कमी, यहॉ के लोगो को रोजगार दिलवाने का काग्रेस का कार्यक्रम इत्यादि। इन सम्भ्रान्त युवाओ ने राजनीतिक सघ की बात कर और इस दिशा मे कार्य कर सरकार की नजर से मुसलमानो को एक बार फिर दूर कर दिया और सैयद अहमद खॉ ने ब्रिटिश सरकार के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध बनाया था, उसे नष्ट करने का काम किया। यदि काग्रेस के साथ हाथ मिलाते तो सभावना यह थी कि मुसलमानो को भविष्य मे जो विशेष सुविधाये मिलने वाली थी उसकी सभावनाये भी खत्म हो जाती। यह एक खतरनाक नीति होती। यही कारण है कि धनी एव प्रभावकारी मुसलमानो ने इसे रोकने की चेष्टा की। मॉरिसन ने यह सुझाव दिया कि अग्रणी मुसलमानो की एक परिषद बना दी जाय।[24]

मोहसिन उल मुल्क अब भी अनिश्चय की स्थिति मे थे। उन्होने बाद मे इस बात पर जोर दिया कि मुसलमानो का राजनीतिक प्रतिनिधि ऐसे लोगो को होना चाहिए जो कि सरकार के समक्ष अपनी मॉग को आदरपूर्वक और सही रूप मे रख सके, जिससे कि ब्रिटिश सरकार उनको सुने और अपनी कार्यवाही करे। लेकिन इस तरह के तर्क एव कदम उग्र मुस्लिम नौजवानो को सतुष्ट नही कर सकते थे। बाद मे सैयद अहमद के विश्वासपात्र विकार उल मुल्क ने इस सम्बन्ध मे निश्चित कदम उठाये तथा मुसलमानो के लिये राजनीतिक सगठनो को मूर्त रूप देने का प्रयास किया। जिसमे उग्र नौजवान भी अपनी बात रख सकते थे। विकार उल मुल्क उस समय तक अमरोहा म्यूनिस्पल बोर्ड मे थे। इन्होने भी इस बात को स्वीकार किया कि भारत के मुसलमानो का भाग्य भारत मे ब्रिटिश राज की उपस्थिति एव उसके स्थायित्व मे ही निहित है। ब्रिटिश शासन के रुप मे एक अच्छा और भरोसेमद मित्र मिला है।[25] जन आन्दोलन पर जोर न देने का निश्चय किया, क्योकि इस समय शासक वर्ग की मदद की आवश्यकता थी क्योकि वे लोग अल्पसख्यक थे, इसलिये उनकी आवश्यकताये भी विशेष थी।[26] इस तरह के प्रयास ही अन्त मे 1906 मे मुस्लिम लीग की स्थापना मे सहायक हुये जिसमे ब्रिटिश सरकार ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

एक अति महत्वपूर्ण घटना जिसने भारतीय राष्ट्रीय राजनीति मे अपना प्रभाव छोडा, वह थी दिसम्बर 1985 मे काग्रेस की स्थापना। उस समय के उत्तर भारतीय मुस्लिम अभिजात वर्ग ने इस सगठन की स्थापना का विरोध किया। इसमे सर सैयद अहमद खान अग्रणी थे। सैयद अहमद खान की यह प्रवृत्ति आश्चर्य मे डालने वाली थी क्योकि इससे पहले उन्होने भी इस बात की वकालत की थी कि भारतीयो को विधायिका मे शामिल किया जाय और उनको इग्लैंड जाने का अवसर प्रदान किया जाय जिससे कि वे सिविल सर्विस परीक्षा मे सम्मिलित हो सके। उन्होने 1884 मे अपने पजाब दौरे के समय हिन्दू—मुस्लिम एकता की बात की थी। लेकिन जैसे ही सयुक्त प्रान्त मे काग्रेस ने अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की कोशिश की सैयद अहमद के रुख मे व्यापक परिवर्तन आ गया। कुछ लोगो का मानना है कि वे अलीगढ के प्रिन्सीपल थियोडोर बेक के प्रभाव में थे। दूसरी ओर कतिपय लोगो का मानना है कि वे सरकारी सुविधाओं के कारण ब्रिटिश सरकार के अनुगृहीत थे। लेकिन फ्रांसिस राबिन्सन का यह कहना है कि काग्रेस की

मॉग एव सैयद अहमद की मॉग मे जमीन आसमान का अन्तर था। उनके अनुसार उन्होने 1858 मे भारतीयो के विधायिका मे प्रवेश सम्बन्धी मॉग उठायी थी, जिसमे उन्होने निर्वाचन की बात नही की थी। 1870 के मध्य मे उन्होने चुनाव और प्रतिनिधि सरकार को भारत के लिये पूरी तरह से खारिज कर दिया था।[27]

सैयद अहमद ने 1883 मे स्थानीय स्वशासन अधिनियम पर चर्चा के दौरान अपने विचार को पूरी तरह से व्यक्त किया। उन्होने कहा था कि यदि चुनाव के माध्यम से प्रतिनिधियो की नियुक्ति की जाती है तो वह मात्र बहुसख्यक लोगो का प्रतिनिधित्व करेगा, जबकि भारत जैसे देश मे जहॉ कि जाति विभिन्नताये हैं, जहॉ विभिन्न नस्लो मे सम्बन्ध नही है, जहॉ धार्मिक अन्तर हिसक है और जहॉ आधुनिक शिक्षा ने समाज के सभी स्तरो पर बराबर प्रगति नही की है। वहॉ पर निर्वाचन का सिद्धान्त लाभकारी नही होगा। बहुसख्यक समुदाय अल्पसख्यक समुदाय की भावनाओ और हितो को अनदेखा करेगा और अशिक्षित जनता सरकार को किसी भी उपाय के लिये उत्तरदायी ठहरायेगी।[28] इसी प्रकार राबिन्सन के अनुसार उन्होने प्रतियोगिता परीक्षा का भी समर्थन नही किया। वास्तव मे वे इसके विरोधी थे, क्योकि इससे उर्दू बोलने वाले अभिजातवर्ग को नुकसान उठाना पडता था। दिसम्बर 1886 मे थियोडोर बेक ने लोकसेवा आयोग को यह कहा था कि प्रतियोगिता परीक्षा मुसलमानो और सामान्य तौर पर उच्चवर्गीय लोगो राजपूत कुलीन वर्ग को सरकारी सेवा से वचित कर देगी। अत इसके राजनीतिक प्रभाव बुरे होगे। इसलिए राबिन्सन के अनुसार सैयद अहमद का विरोध स्वाभाविक ही था।[29]

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

भारत मे साम्प्रदायिकता के दूसरे चरण की शुरुआत मुस्लिम लीग की स्थापना (1906) से की जा सकती है और इसका अन्त खिलाफत आन्दोलन के शुरू होने के पूर्व तक रखा जा सकता है। इस अवधि मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का मुस्लिम साम्प्रदायिकता के साथ गठजोड खुलकर सामने आता है। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस को लखनऊ पैक्ट के द्वारा 1909 के भारतीय विधान परिषद अधिनियम के अन्तर्गत पृथक निर्वाचक पद्धति को स्वीकृति देनी पड़ी।

मुस्लिम लीग के उदय की पृष्ठभूमि 1900 से ही देखी जा सकती है। जब सम्भ्रान्त युवाओ के द्वारा मुस्लिम राजनीतिक सगठन के गठन का प्रयास होता है। लेकिन वह फलीभूत नही हो पाता है। दिसम्बर 1901 मे इस तरह के सगठन की आवश्यकता मुस्लिम समुदाय के बीच कम होने लगती है क्योकि इसी समय सयुक्त प्रान्त के ले गर्वनर मैकडॉनेल को हटा दिया जाता है और उसके स्थान पर ला तोशे को नियुक्त किया जाता है, जिसकी रुझान मुसलमानो के पक्ष मे थी। इसी के तुरन्त बाद नदवात उल उलेमा का महासचिव अतहर अली, जो मैकडॉनेल के उत्पीडन के भय से हैदराबाद भाग गया था, वापस सयुक्त प्रान्त लौट आया। उर्दू के पक्ष मे भी नये ले गवर्नर का दृष्टिकोण मुसलमानो के पक्ष मे था। 1903 के मध्य तक द्विभाषी प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन नही किया गया था और न ही दोनो भाषाओ हिन्दी एव उर्दू मे सरकारी आदेश जारी किये गये थे। मुसलमान अब भी सरकारी नौकरियो मे आसानी से शामिल हो रहे थे।[30] इस तरह धनी एव प्रभावी मुस्लिम व्यक्तियो का समूह सरकार के इस नये दृष्टिकोण के कारण सम्भ्रान्त युवको के राजनीतिक सगठन की चाह को नजर अन्दाज करने मे कामयाब हो रहा था।

यद्यपि 1903–06 के बीच मुसलमानो को सरकारी समर्थन प्राप्त था, फिर भी सयुक्त प्रान्त के मुसलमान इस बात को भलीभॉति जानते थे कि उनकी स्थिति अब भी कमजोर है क्योकि उर्दू पर फिर प्रहार शुरू हो गया था। हिन्दुओ की यह कोशिश थी कि शिक्षा पद्धति से मुस्लिम सास्कृतिक प्रभाव को बिल्कुल हटा दिया जाय।[31] इसके अतिरिक्त चुनाव के सिद्धान्त का विस्तार किया जा रहा था और मुसलमान इस बात को देख रहे थे कि वे लोग जिस तरह विश्वविद्यालय के सीनेट के चुनाव मे पराजित हो रहे थे उसी तरह प्रान्तीय विधायिकाओ के चुनाव मे भी उन्हे हार का मुॅह देखना पड रहा था। वास्तव मे राजनीतिक प्रजातात्रिक स्वरूप मुस्लिम नौजवानो को विचलित कर रहा था। इसके बाद मुस्लिमो के प्रति शुभेच्छा रखने वाले पूर्वी बगाल एव असम के ले गवर्नर सर वैम्फील्ड को 1906 मे एक हिन्दू आन्दोलन के कारण हटा दिया गया, जिसने मुसलमानो को और चिन्तित किया।

ऐसे ही समय मे भारत सचिव ने अपने बजट भाषण में यह घोषणा की कि सरकार की यह मंशा है कि भारत में विधायिकाओ के आकार एव शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि हो। इसने मुस्लिम युवाओ को अधिक विचलित

किया। सरकार की इन घोषणाओ के कारण बहुत से मुस्लिम नवयुवक काग्रेस मे शामिल होने की धमकी देने लगे। इस तरह की सभावनाओ को बहुत पहले से कुछ अखबार जैसे सज्जाद हुसेन का 'आजाद जमालुद्दीन अहमद का 'हमदर्द' और हसरत मोहानी का 'उर्दू ए मुल्ला' एक विकल्प के रूप मे व्यक्त कर रहे थे क्योकि इसके द्वारा ही ब्रिटिश सत्ता को मुस्लिम हितो की रक्षा हेतु कदम उठाने को विवश किया जा सकता था।[32] 1905 मे अलीगढ के दो मुस्लिम नवयुवक तुफेल अहमद और हसरत मोहानी काग्रेस के बनारस अधिवेशन मे उपस्थित थे और मई 1906 मे अलीगढ मे अलीगढ कालेज छात्रसघ ने ध्वनिमत से यह प्रस्ताव पास किया कि हिन्दू और मुसलमानो को राजनीति मे मिलकर काम करना चाहिए।[33]

4 अगस्त 1906 को अलीगढ कालेज के प्रिन्सीपल आर्चबोल्ड ने मोहसिन उल मुल्क को इस बात की सलाह दी कि वे लोग वायसराय को एक ज्ञापन दे। मोहसिन उल मुल्क एव आर्चबोल्ड के बीच पत्राचार से यह बात साफ हो जाती है कि सरकार कितनी दूर तक मुसलमानो के पक्ष मे थी। मोहसिन उल मुल्क ने यह दावा किया कि उन्हे पूरे भारत से मुसलमानो के पत्र आ रहे है। जिसमे प्राय. यह कहा जा रहा है कि सर सैयद अहमद और उनकी स्वय की नीति ने मुसलमानो के लिये कोई अच्छा परिणाम नही दिया है और सरकार बिना आन्दोलन के किसी भी समुदाय की इच्छा को पूरा नही कर रही है। इसलिये मुसलमानो को अलीगढ कालेज के लिये किसी तरह की सरकारी मदद की आशा नही करनी चाहिए।[34] स्पष्ट है कि इस तरह की बात करके मोहसिन उल मुल्क सरकार को एक अवसर देना चाहते थे कि वह अलीगढ मुस्लिम नेताओ की राजनीति का खुलकर समर्थन करे, जिससे कि असतुष्ट मुस्लिम युवाओ को फिर से वापस लाया जा सके।

यह स्मरण पत्र मोहसिन उल मुल्क ने इमाद उल मुल्क सैयद हुसेन बिलग्रामी की सहायता से तैयार किया था। अन्य मुस्लिम नेताओ विशेषकर विकार उल मुल्क ने भी अपने सुझाव दिये थे। इसे 15/16 सितम्बर को लखनऊ मे आहूत अखिल भारतीय मुस्लिम प्रतिनिधि सम्मेलन मे विचार के लिये रखा गया था। कुछ सशोधनो के बाद इस स्मरण पत्र को एक अक्टूबर 1906 को वायसराय को ज्ञापित किया गया। यद्यपि ज्ञापन मे इस बात का दावा किया गया था कि इसमें कही गयी बातें भारत के सम्पूर्ण मुसलमानो के विचार हैं। लेकिन फ्रासिस राबिन्सन इससे सहमत नही होते

है। उनका कहना है कि ढाका के नवाब सलीमुल्लाह और नवाब अली चौधरी ने इस बात पर जोर दिया था कि ब्रिटिश सरकार से बगाल विभाजन को रद्द न करने का दृढ आश्वासन मॉगा जाय लेकिन उत्तर भारत के मुसलमानो ने इस पर कोई विशेष ध्यान नही दिया। स्मरण पत्र न केवल अलीगढ़ मुस्लिम नेताओ द्वारा लिखा गया था बल्कि उनके हितो की रक्षा करता था।[35]

स्मरण पत्र मे इस बात का उल्लेख किया गया था कि मुसलमानो मे पारम्परिक सत्ता और सरकारी सेवा की एक परम्परा रही है। इसमे मुसलमानो के राजनीतिक महत्व को भी दिखलाने की चेष्टा की गयी। लेकिन स्मरण–पत्र के एक बहुत बडे हिस्से मे इस बात पर जोर दिया गया था कि नये शक्ति सतुलन के ढॉचे मे मुसलमानो की स्थिति को किस प्रकार मजबूत किया जाय। सयुक्त प्रान्त के मुसलमानो ने म्यूनिस्पिल एव जिला बोर्डो मे अपने अनुभव के आधार पर इस बात की शिकायत की कि मुस्लिम करदाताओ का उचित प्रतिनिधित्व नही हो रहा है और मनोनयन भी अप्रभावकारी ही सिद्ध हो रहा है। इसका हल सुझाते हुये यह मॉग की गयी कि पृथक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जाय। जिसमे सख्या, सामाजिक स्तर, स्थानीय प्रभाव और समुदाय की विशेष जरूरतो को ध्यान मे रखा जाय। अन्त मे एक और महत्वपूर्ण बात जो ज्ञापन मे उठायी गयी थी वह थी एक मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना, जिसमे सरकार से सहायता एव समर्थन की अपेक्षा की गयी थी।

मिण्टो ने एक को छोडकर ज्ञापन के करीब सभी बिन्दुओ को नजरअन्दाज कर दिया। उसने निर्वाचित सरकार की समस्या के ऊपर अपना ध्यान केन्द्रित किया और इस बात की जानकारी दी कि एक समिति इस मुद्दे पर गौर कर रही है। ज्ञापनकर्ता इसके बाद भी मिण्टो के जवाब से सतुष्ट थे। जैसा कि मोहसिन उल मुल्क एव वायसराय के निजी सचिव डनलप स्मिथ के बीच हुये पत्राचार से स्पष्ट होता है। जिसमे उन्होने वायसराय के प्रति आभार व्यक्त करते हुये कहा था कि वायसराय मुसलमानो के अधिकारो के प्रति सहानुभूति रखते हैं और इसका आधार मुसलमानो का राजनीतिक महत्व है। लेकिन मुस्लिम युवाओ मे असन्तोष था। वे लोग निराश थे कि वायसराय ने मुस्लिम विश्वविद्यालय, सिविल सेवा और उच्च न्यायालयो मे नियुक्ति के सम्बन्ध मे किसी भी तरह का कोई आश्वासन

नही दिया। इस तरह शिमला प्रतिनिधिमडल का एक मुख्य उद्देश्य असफल हो गया और वह था मुस्लिम उदारवादी नेताओ द्वारा मुस्लिम नवयुवको को नियत्रित करना।

नवाब सलीमुल्लाह लखनऊ की बैठक मे अपनी पराजय और बगाल की समस्याओ को स्मरण पत्र (Memorial) मे शामिल नही किये जाने से निराश थे। लेकिन अब उन्होने स्वतत्र रुप से कदम उठाने का निश्चय किया और शिमला प्रतिनिधिमडल के सदस्यो के बीच इस आशय का एक पत्र वितरित किया कि अखिल भारतीय स्तर पर मुसलमानो का एक सगठन बनाया जाय। ऐसे विचार का आगा खॉ एव मोहसिन उल मुल्क ने विरोध किया क्योकि इससे अलीगढ के मुसलमानो के नेतृत्व पर बगाली मुस्लिमो से खतरा हो सकता था। लेकिन सलीमुल्लाह अपने विचार पर अडिग रहे और उन्होने घोषणा की कि नवम्बर 1906 मे वे ढाका मे मुसलमानो के अखिल भारतीय महासघ की एक बैठक करेगे। मुस्लिम नवयुवको से मदद मिलने की पूरी सभावना थी और इससे अलीगढ मुस्लिम नेताओ के इस दावे पर कि वे पूरे भारत मे मुसलमानो का प्रतिनिधित्व करते है पर बुरा प्रभाव पडता। फिर अब भी मुस्लिम युवाओ के बीच यह बात होती रहती थी कि मुसलमानो को काग्रेस मे शामिल होना चाहिए। इसलिये नवाब सलीमुल्लाह का अखिल भारतीय मुस्लिम सगठन सम्बन्धी अपील करना लाजिमी था। वास्तव मे अलीगढ के बहुत से नवयुवक ढाका की प्रस्तावित बैठक मे भाग लेने के लिये गये जिसकी अध्यक्षता विकार उल मुल्क ने की। इसी बैठक मे 30 दिसम्बर 1906 को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का विधिवत गठन किया गया। गठन सम्बन्धी प्रस्ताव नवाब सलीमुल्लाह ने प्रस्तुत किया। इसका अनुमोदन एव समर्थन तीन प्रभावी मुस्लिम युवाओ हकीम अजमल खॉ, जफर अली खाँ एव महमूद अली द्वारा किया गया।

अग्रेजो का साम्प्रदायिक अलगाववाद को प्रोत्साहित करना एक निर्विवाद तथ्य है और मुस्लिम लीग के उदय मे भी उसकी भूमिका सदेह से परे नही है। यद्यपि कि मुस्लिम लीग के समर्थक तिरस्कारपूर्वक राष्ट्रवादियो के इस आरोप का खण्डन करते हैं कि पूरा आन्दोलन ही अग्रेजो का नाटक मात्र था और राजाज्ञा से किये जाने वाले खेल से अधिक कुछ नहीं था। फिर भी ब्रिटिश शासकों की मिलीभगत से इन्कार नहीं किया जा सकता। 15 अगस्त 1906 को मिण्टो ने मार्ले के समक्ष स्वीकार किया था कि पूर्वी बगाल एवं असम में फुलर हिन्दू एवं मुसलमानो

को लड़ा रहे है और उनके उत्तराधिकारी ने नयी नियुक्तियो मे मुसलमानो का पक्ष लेना जारी रखा है। उन्होने ढाका के नवाब सलीमुल्लाह को चौदह लाख रूपये का कर्ज दिलवाने के लिये मिण्टो पर जोर डाला और कहा कि यह 'बहुत बड़ा राजनीतिक मामला' है। इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि प्रधानाचार्य आर्चबोल्ड के माध्यम से मोहसिन उल मुल्क या अन्य मुसलमान नेता, वायसराय के निजी सचिव डनलप स्मिथ और लखनऊ के कमिश्नर हरकोर्ट बटलर जैसे अधिकारियो के सीधे सम्पर्क मे रहते थे। मुस्लिम लीग का गठन करते समय 29 अक्टूबर 1906 को आगाखॉ ने डनलप स्मिथ को आश्वासन दिया था कि उन्होने मोहसिन उल मुल्क को हिदायत दी है कि वे निजी तौर पर सरकार की पूरी सहमति लिये बिना कोई कदम न उठाये। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण था हितो की वस्तुगत समानता, जो आने वाले दशको मे सरकारी तत्र एव हिन्दू एव मुसलमान दोनो ही सम्प्रदायो के उच्च वर्गीय सम्प्रदायवादियो के बीच बार–बार दिखायी पडती है। यहॉ पर ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि दिसम्बर 1906 मे भारत धर्ममहामडल की बैठक मे दरभगा के महाराजा ने घोषणा की थी कि हिन्दुओ के लिये निष्ठा या राजभक्ति धर्म का तत्व है।[36]

मुस्लिम लीग को पहली राजनीतिक सफलता अपने तीन वर्ष की अवस्था मे ही मिल गयी जब ब्रिटिश सरकार ने 1909 के भारतीय विधान परिषद अधिनियम के द्वारा पृथक निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। इससे पहले 1909 के आरम्भ मे ही अमीर अली के नेतृत्व मे जाने वाले एक प्रतिनिधिमण्डल ने अलग–अलग निर्वाचक मडलो की जगह एक सामान्य निर्वाचक मण्डल बनाने की मार्ले की योजना को निरस्त करवाने मे शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर ली। ऐसा टोरियो के साथ उनके नजदीकी सम्बन्धो के कारण हो पाया था। इसने लिबरल प्रशासन को चौंका दिया। 1 नवम्बर 1909 को निजी रूप से मिण्टो ने मार्ले के समक्ष स्वीकार किया था कि मैं नही समझता कि मुसलमानों को जितनी सीटे दी जा रही है उन पर उनका जरा भी हक है।

मुसलमान राजनीतिक अभिजन को उस समय बडा सदमा पहुॅचा जब दिसम्बर 1911 मे जार्ज पचम ने दिल्ली दरबार में बगाल विभाजन को रद्द कर दिया। सम्राट ने 1905–06 मे स्वयं इस समुचित 'वरदान' का सुझाव दिया था, जब वे प्रिन्स आफ वेल्स के रूप में भारत आये थे। आरम्भ मे तनिक हिचक के बाद वायसराय हार्डिंग तथा भारत सचिव कुक को यह

विचार पर्याप्त आकर्षक लगा कि इसमे अन्य सभावित 'वरदानो' की भॉति कोई अतिरिक्त व्यय नही करना पडता।

मुसलमानो एव ब्रिटिश शासन के बीच सम्बन्धो मे दूरी बढने लगी थी। इसका कारण था 1911—12 मे इटली और बाल्कन के युद्धो मे इग्लैड द्वारा तुर्की को सहायता न देना। अलीगढ मे मुस्लिम विश्वविद्यालय बनाने के प्रस्ताव को हार्डिंग द्वारा अस्वीकार किया जाना और 1913 मे कानपुर मे एक मस्जिद के साथ लगे चबूतरे को तोडने के परिणामस्वरूप होने वाला दगा। इस तरह 1914 तक ऐसा लग रहा था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद और मुस्लिम साम्प्रदायिकता के बीच दूरी बढ रही है। लेकिन वास्तव मे भारत मे ब्रिटिश शासन किसी का भी पक्ष न लेकर अपने हितो को ही सर्वोपरि रखता था।

अखिल भारतीय मुस्लिम लीग को 1916 मे एक महत्वपूर्ण सफलता हाथ लगी, जब काग्रेस ने 'लखनऊ पैक्ट' के तहत मुस्लिमो के लिये पृथक निर्वाचक मडल की व्यवस्था स्वीकार कर ली। लखनऊ समझौते के समय मुसलमानो का साविधानिक आकर्षण स्पष्ट था कि मुसलमान हमेशा विशेष निर्वाचन द्वारा प्रतिनिधित्व करेगे।[37] उत्तर प्रदेश मे लेजिस्लेटिव कौसिल की 30 प्रतिशत सीटो का निर्वाचित होना निश्चित हुआ था।[38] मुसलमानो के बहुल मताधिकार को समाप्त कर दिया गया था। सामान्य निर्वाचन मे भाग लेने से उन्हे रोक दिया गया था, क्योकि वे विशेष निर्वाचन मे भाग लेते थे।[39]

लखनऊ पैक्ट जो 'काग्रेस लीग साविधानिक सुधार योजना के नाम से प्रसिद्ध हुआ[40] दो दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। एक तो यह कि इससे काग्रेस राजनीति मे उत्तर प्रदेश की शक्तिशाली राजनीतिक नेतृत्व की शुरुआत हुई। सम्पूर्ण भारतीय राजनीति का केन्द्र समुद्री किनारो से हटकर हमेशा के लिये देश के केन्द्र (उत्तर प्रदेश) मे आ गया।"[41] लेकिन यह एक ऐसा समझौता था, जिसने काग्रेस के चरित्र पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया। लीग की साम्प्रदायिक मॉगो को स्वीकार कर लेने से उसने सम्पूर्ण भारतीयो की ओर से बोलने का अधिकार खो दिया। यद्यपि कि इस समझौते से आगामी चार वर्षों के लिए साम्प्रदायिक सद्भाव की मिसाले कायम हुईं, किन्तु सम्मेलन के दौरान दोनों पक्षों द्वारा जो मन्तव्य प्रस्तुत किये गये, प्रच्छन्न रूप से वे साम्प्रदायिक मनःस्थिति का भी द्योतन करते हैं।

यहाँ समझौते के बाद भी साम्प्रदायिक स्थिति का आकलन किया जा सकता है। 1916 के लखनऊ मुस्लिम लीग अधिवेशन के स्वागत

समिति के अध्यक्ष सैयद नबी उल्ला ने कहा था कि यदि मुस्लिम नेता साम्प्रदायिक होकर विरोधी आन्दोलन चलाने की भूल करते हैं, तो हिन्दू–मुस्लिम सहयोग के नवजात आन्दोलन के प्रारम्भ मे ही समाप्त हो जाने की आशका है।[42] ऐसा इसलिये था कि उत्तर प्रदेश मे स्थिति वास्तव मे गम्भीर थी। मदन मोहन मालवीय, चिन्तामणि, तेजबहादुर सप्रू जैसे महत्वपूर्ण नेताओ ने मुसलमानो को दी गयी छूट के विरोध मे आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। नौकरशाही का खेल सफलता के नजदीक तक पहुँच गया था। कुछ मुसलमान भी विरोधी आन्दोलन करने एव काग्रेस से बहिष्कार की बात सोचने लगे थे।[43]

वास्तव मे काग्रेस और लीग के सयुक्त अधिवेशन मे रजा अली और काग्रेस के मध्य मतभेद उत्पन्न हो गये थे। इलाहाबाद के सैयद रजा अली मुस्लिम समुदाय के लिये 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व उत्तर प्रदेश मे चाहते थे। चिन्तामणि और गोकर्णनाथ मिश्र ने रजा अली की मॉग को तर्कहीन बताया। अन्त मे सैयद वजीर हसन, जो लीग के जनरल सेक्रेटरी थे, के प्रयास से मामला सुलझा। उन्होने मुस्लिम लीग सुधार समिति के सदस्यो को व्यक्तिगत स्तर पर कहा कि उन्हे 30 प्रतिशत स्थानो के लिए सहमत हो जाना चाहिए।[44] इस प्रकार स्पष्ट है कि लखनऊ समझौते मे उत्तर प्रदेश के मुस्लिम नेताओ का साविधानिक सन्दर्भो मे दृष्टिकोण स्वार्थी था और इसे साम्प्रदायिक सौहार्द की दृष्टि से सकारात्मक कदम नही कहा जा सकता है।

यद्यपि कि इस दौरान हिन्दू–मुस्लिम सहयोग मे साम्प्रदायिक भ्रातृत्व की भावना विभिन्न धार्मिक उत्सवो, पर्वो के अवसर पर देखने को मिली। इलाहाबाद मे हिन्दू और मुसलमान दशहरा एव मोहर्रम के अवसरो पर एक–दूसरे से गले मिले तथा पान एव सिगरेट से एक दूसरे का स्वागत किया।[45] नगर में किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक घटना नही घटी। आजमगढ एव आगरा जैसे शहरो मे जहाँ धार्मिक अवसरों पर साम्प्रदायिक दगे प्राय· हो जाया करते थे, 1917 मे वहाँ भी पूर्ण शान्ति रही।[46] आगरा मे होमरूल लीग एव जिला कांग्रेस समिति ने संयुक्त रूप से मोहर्रम के जुलूसो में भाग लिया।[47] इस प्रकार जनवरी 1917 से अप्रैल 1919 के बीच का समय उत्तर प्रदेश में न केवल आश्चर्यजनक हिन्दू–मुस्लिम एकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण था, वरन स्थानीय स्तर पर साम्प्रदायिक सद्भावना का आधार भी पोषित हुआ।

लखनऊ पैक्ट के होने तक हिन्दुओ एव मुसलमानो की राजनीतिक गतिविधियाँ व्यवस्थापिका मे आसन्न सुधारो के द्वारा निर्धारित हो रही थी। अगस्त 1917 मे भारत सचिव मॉण्टेग्यू ने इस बात की घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार भारत मे धीरे–धीरे एक ऐसी उत्तरदायी सरकार स्थापित करना चाहता है, जो कि ब्रिटिश सरकार की अभिन्न अग बनी रहे। 10 नवम्बर 1917 को मॉण्टेग्यू भारत आया। अपने प्रवास के दौरान अनेक छोटे–बड़े सगठनो के साथ बृहत स्तर पर विचार–विमर्श किया। इस दौरान मुस्लिम सम्प्रदाय के 44 प्रतिनिधि मडलो ने उससे मिलकर अधिकाधिक अधिकारो की माँग की। इन प्रतिनिधि मडलो मे उत्तर प्रदेश के मुस्लिम नेताओ का बाहुल्य था। 1918 के अन्त तक मॉण्टेग्यू के ऊपर बृहत स्तर पर साम्प्रदायिक एव धार्मिक मॉगो की बौछार कर दी गयी। इन मॉगो मे उत्तर प्रदेश के मॉगपत्रो की सूची बृहत् थी। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का मॉण्टेग्यू व्यक्तिगत विरोधी था। 1909 मे मार्ले–मिण्टो सुधार योजना मे इसका समावेश वह भारतीय इतिहास की बडी भूल मानता था। उसके मतानुसार उक्त घटना (1909 का मार्ले मिण्टो सुधार) का परिणाम बगाल के स्थायी बन्दोबस्त या बगाल विभाजन की अपेक्षा अधिक विनाशकारी हुआ।[48]

मॉण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड योजना मे काग्रेस–लीग योजना की कुछ धाराओ मे परिवर्तन कर दिया गया। इसमे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व सम्बन्धी धारा मे भी परिवर्तन कर दिया गया। उत्तर प्रदेश के अधिकाश मुस्लिम राजनीतिज्ञो ने सुधार योजना का विरोध किया क्योकि इससे वे लखनऊ समझौते के अनुकूल प्रदान किये गये मुस्लिम प्रतिनिधित्व से वचित हो गये थे।[49] सरकार द्वारा इस साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की भर्त्सना करने से भी मुसलमानो मे सरकारी नीति के प्रति क्षोभ था। कुछ मुस्लिम राजनीतिज्ञो ने विरोध को इस रूप मे भी प्रस्तुत किया, जैसे वे मुस्लिम हितो के प्रतीक हो। 1918 के दिल्ली के मुस्लिम लीग अधिवेशन मे डा मुख्तार अहमद असारी ने सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुये कहा था कि "पृथक निर्वाचन तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का प्रश्न हमारे वर्तमान राजनीतिक क्रियाकलापो की जीवन एव आत्मा है।"[50] उत्तर प्रदेश मे 105 सदस्यों वाली लेजिस्लेटिव एसेम्बली में तीस स्थान मुसलमानो के लिए आरक्षित किये गये। इनमे से 11 विशेष निर्वाचन क्षेत्रो से निर्वाचित होने थे। 1918 के अन्त तक इन धाराओं के प्रभाव से मुस्लिम राजनीतिज्ञ अवगत हो

चुके थे। प्रारम्भ मे उनमे कुछ मतभेद रहा, परन्तु बाद मे वे मॉण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधार योजना के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखने लगे। इतना अवश्य था कि मॉण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधारो के प्रति मुसलमान प्राय सशकित थे। खिलाफत तथा धार्मिक स्थान के प्रश्न पर सरकार के दृष्टिकोण से उनमे शकाये बढ गयी।[51]

इस बीच मुस्लिम लीग मे मौजूद अतिवादी तत्वो पर धार्मिक, मुल्लाओ का प्रभाव बढने लगा था। इसे 1916 के लखनऊ पैक्ट एव 1918 के मुस्लिम लीग अधिवेशन मे उलेमा की उपस्थिति[52] के रूप मे देखा जा सकता है। मुस्लिम लीग जो अब तक मुस्लिम राजनीति के केन्द्र मे थी, राजनीतिक परिदृश्य से ओझल होती सी लगी, जब मुसलमानो का एक नया सगठन 'अखिल भारतीय खिलाफत सगठन' अस्तित्व मे आया, जिसमे हिन्दुओ ने भी सक्रिय भूमिका अदा की। यहॉ तक कि आर्य समाज से सम्बन्ध रखने वाले स्वामी श्रद्धानन्द एव प नेकीराम ने भी मुस्लिम लीग की बैठको मे भाषण दिया।[53] इस सहयोग के फलस्वरुप 'एक समय ऐसा भी आया कि मुस्लिम राजनीति से सम्बन्धित सम्पूर्ण दिशा निर्देशन सैयद अहमद, मोहसिन उल मुल्क तथा विकार उल मुल्क के हाथो से निकलकर हिन्दू बनिया (महात्मा गाधी) के हाथो मे आ गया।'[54] दूसरी तरफ मुसलमान भी काग्रेस सगठन मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मित्र राष्ट्रो के द्वारा तुर्की सुल्तान के साथ किया गये व्यवहार के विरोधस्वरूप प्रादुर्भूत खिलाफत आन्दोलन से साम्प्रदायिकता के तीसरे चरण की शुरुआत मानी जा सकती है। भारतीय मुसलमान यह चाहते थे कि तुर्की सुल्तान का नियत्रण मुसलमानो के पवित्र स्थानो के ऊपर बना रहे। वास्तव मे इनकी तीन मुख्य मॉगे थी, जिन्हे मुहम्मद अली ने पेरिस मे राजनयिको के समक्ष रखा – 1 मुसलमानो के पवित्र स्थानो पर तुर्की के सुल्तान खलीफा का नियत्रण रहे। 2 खलीफा के अधीन इतना भू–भाग रहे कि वह इस्लाम की रक्षा कर सके और 3 जजीर तुल अरब अर्थात अरब, सीरिया ईराक और फिलीस्तीन के ऊपर मुसलमानो की सम्प्रभुता बनी रहे। इस आन्दोलन में नरमदलीय और जुझारू दो धाराये देखने को मिलती हैं। महात्मा गॉंधी का इन दोनों प्रवृत्ति के लोगो से

सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध था। नरम वर्ग के लोग जिसमे बम्बई के चोटानी जैसे समृद्ध व्यापारी थे, ने सवैधानिक मार्ग अपनाने की वकालत की। दूसरी ओर जुझारू वर्ग के लोग जिसमे निम्न मध्यमवर्गीय पत्रकार उलेमा सम्मिलित थे देशव्यापी हडताल करने पर बल दिया।

इस आन्दोलन के अतिशय धार्मिक दृष्टिकोण के बावजूद काग्रेस द्वारा दिये गये समर्थन के परिप्रेक्ष्य मे मुस्लिम नेताओ के दृष्टिकोण मे अन्तर्निहित साम्प्रदायिक दृष्टि का विवेचन किया जा सकता है क्योकि आन्दोलन की असफलता के बाद उत्पन्न साम्प्रदायिक तनाव इसकी पुष्टि करते है। अक्टूबर (1919 ई) का आरम्भ होते ही खिलाफती नेता खिलाफत दिवस के प्रति जनमत तैयार करने मे सलग्न हुये। खिलाफत दिवस पर सभी मुसलमानो के व्रत रहने एव प्रार्थना करने, अपने व्यवसायो को स्थगित करने, दुकाने बन्द करने, बडी सभाये बुलाने तथा तुर्की को धोखा दिये जाने के विरोध मे प्रस्ताव पारित करने की योजना थी।[55] इस सम्बन्ध मे खिलाफती नेताओ ने प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया था। उत्तर प्रदेश मे उग्रवादी खिलाफती नेताओ ने अक्टूबर के दूसरे सप्ताह मे समस्त भारतीयो से 17 अक्टूबर को दुकाने बन्द रखने का आग्रह किया।[56] उनके आग्रह मे यह आकर्षण भी था कि यदि समस्त भारतीय तुर्की के प्रश्न पर मुसलमानो का साथ देते हैं, तो मुसलमान गोहत्या का निषेध करेगे।[57] मौलाना अब्दुल बारी और महात्मा गाधी के बीच इस विषय पर कोई पूर्व समझौता होने का आभास मिलता है।[58] अधिकाश हिन्दुओ एव हिन्दू नेताओ ने मुसलमानो के उपरोक्त दृष्टिकोण को एक चाल समझा। परन्तु 'आगरा और अवध के सयुक्त प्रान्तो के उपरोक्त नेताओ की इस चाल को अवश्य सफलता मिली।[59]

1920 के मध्य तक आते—आते उत्तर प्रदेश मे खिलाफत आन्दोलन को सभी वर्गों का समर्थन मिलने लगा था। सहयोग का स्वरूप उस समय अधिक स्पष्ट हुआ जब, इलाहाबाद के कुछ महत्वपूर्ण राष्ट्रीय नेताओ ने खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानो का साथ दिया। इनमे मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, सुन्दरलाल, पुरुषोत्तम दास टण्डन एव कृष्णकान्त मालवीय प्रमुख थे। ये भारतीय नेता लखनऊ समझौते के प्रति प्राय ईमानदार बने रहे। लेकिन दूसरी ओर खिलाफत आन्दोलन मे धार्मिक कट्टरता का समावेश होता गया। राष्ट्रीय नेताओ के कई बार ध्यान दिलाने के बावजूद उग्र धार्मिक खिलाफती नेताओं ने कोई ध्यान नही दिया।

परिणामस्वरूप मार्च 1920 के अन्त तक प्रान्त मे राष्ट्रीय नेताओ को पुन अपनी नीति पर विचार करने के लिये बाध्य होना पडा। इन नेताओ के असन्तोष का स्पष्टीकरण मई के प्रारम्भ मे बरेली के 'राजनीतिक डिवीजनल सम्मेलन' मे हुआ। इस सम्मेलन मे शौकत अली ने खिलाफत के प्रश्न पर प्रभावशाली भाषण दिया था। सम्मेलन की समाप्ति के बाद अनेक भारतीय नेताओ ने जिलाधीश के पास जाकर यह स्वीकार किया कि खिलाफत की शिक्षा एक क्रान्ति की शिक्षा थी, अत उन्होने इससे अपने को पूर्णतया अलग कर लिया था।''[60] उपरोक्त भारतीय नेताओ का पृथकत्व मुस्लिम धार्मिक कट्टरता का परिणाम था, जिसने बाद की साम्प्रदायिक स्थितियो को और अधिक जटिल बनाया।

मई 1920 तक गॉधी जी नरम दल वालो के दृष्टिकोण के पक्षधर थे। लेकिन जब 14 मई 1920 को तुर्की के साथ सेव्र की सधि की कडी शर्ते प्रकाशित की गयी और इसके बाद 28 मई 1920 को पजाब के उपद्रवो से सम्बन्धित हण्टर आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, तो गॉधी ने देशव्यापी हडताल की नीति का न केवल समर्थन किया बल्कि उसे कार्यान्वित करने मे अपनी सक्रिय भूमिका अदा की। 30 और 31 मई 1920 को बनारस मे अखिल भारतीय काग्रेस महासमिति की बैठक बुलाई गयी। इसमे तुर्की के भविष्य के साथ–साथ हण्टर समिति की रिपोर्ट पर विचार किया गया। लम्बे विचार–विमर्श के बाद भी असहयोग पर सहमति नही हो सकी। खिलाफत समस्या पर व्यापक विचार–विमर्श और राष्ट्रीय नीति तैयार करने के उद्देश्य से अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। इस प्रकार एक से तीन जून 1920 को इलाहाबाद मे सम्मेलन आयोजित किया गया। सम्मेलन को प्रभावशाली बनाने के लिए सभी भारतीयो से उपस्थित होने का आग्रह किया गया था।[61] सम्मेलन मे कुल 6 महत्वपूर्ण सभाये हुई, जिनमे केन्द्रीय खिलाफत समिति की दो सभा, हिन्दू एव मुस्लिम नेताओ की सयुक्त दो सभाये और दो सभा उलेमा की हुई।[62] यहॉ भी धार्मिक दृष्टिकोण की सक्रियता खटकने वाली बात थी क्योकि इलाहाबाद स्टेशन पर कुछ स्थानीय मुसलमानो एव स्वय सेवको ने 'शौकत अली का स्वागत तलवारे खीचकर किया एव उन्हे अल्लाहो अकबर के नारो के बीच शहर मे घुमाया गया।[63]

केन्द्रीय खिलाफत समिति की बैठक मे भी धार्मिक दृष्टिकोण का ही प्रमुत्व था। समिति की बैठक में असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव के समय

शाब्दिक झडपे भी हुई जिसमे शौकत अली के अन्धानुभक्तो का बोलबाला रहा।[64] विवाद उस समय उत्पन्न हुआ जब कुछ सदस्यो ने यह आशका व्यक्त की कि काग्रेस असहयोग मे उनका सीधे सहयोग नही करेगी, जिस पर अनेक सदस्यो ने तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। अब्दुल बारी ने हिन्दुओ पर मुसलमानो के साथ खिलवाड करने का आरोप लगाया और भावावेश मे गॉधी को उत्तरदायी ठहराया।[65] इस मुस्लिम दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया हिन्दुओ पर स्वाभाविक हुई। उसी दिन रेलवे थियेटर मे रात्रि मे हिन्दू–मुस्लिम नेताओ की सयुक्त सभा हुई। सभा मे यद्यपि 300 व्यक्ति उपस्थित थे, परन्तु हिन्दुओ की सख्या बहुत कम थी। केन्द्रीय गुप्तचर विभाग के निदेशक ने स्वीकार किया था कि "गुप्तचरो तथा बाहरी लोगो को न घूमने देने के लिये सभा मे सभी सावधानियॉ बरती गयी थी।"[66] गैर मुस्लिम भारतीयो मे तेजबहादुर सप्रू, चिन्तामणि, एनीबेसेन्ट, मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, महात्मा गॉधी, मदनमोहन मालवीय जैसे नेता उपस्थित थे, लेकिन हिन्दुओ की कुल सख्या 25 से अधिक नही थी।

केन्द्रीय खिलाफत समिति की कार्यवाही मे अग्रणी काग्रेसी नेताओ ने यह मत व्यक्त किया कि 15 सितम्बर 1920 से पहले (जबकि कलकत्ता मे काग्रेस का विशेष अधिवेशन होना था) वे असहयोग मे भाग नही ले सकेगे। काग्रेस नेताओ के इस दृष्टिकोण पर शौकत अली ने तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होने क्रोध मे बहुत कुछ कह डाला। प मदन मोहन मालवीय 'जो सम्मानपूर्वक भाषण सुनने के अभ्यस्त थे, निर्वाक बैठे रहे।'[67] इस सभा की महत्वहीनता इसी से स्पष्ट है कि "सयुक्त सम्मेलन के समक्ष कोई प्रस्ताव नही रखा गया, जिससे कोई प्रस्ताव पारित नही हो सका।"[68] मुसलमानो मे भी कई प्रश्नो पर मतभेद थे, किन्तु शौकत अली तथा अब्दुल बारी के तीव्र आक्रमण से वे खुलकर विरोध नही कर सके।[69] अन्त मे आन्दोलन को पूरी तरह से गॉधी के नेतृत्व मे छोड दिया गया।

दो जून की सभा मे उग्रवादी मुसलमानो का तेवर और भी आक्रामक हो गया। हसरत मोहानी ने अग्रेजो को भारत से बाहर करने के उद्देश्य से भारत पर आक्रमण करने वाली किसी भी अफगान सेना मे चले जाने की बात कही, इस पर कुछ हिन्दू नेताओ ने उनसे स्पष्टीकरण मॉगा। इस पर शौकत अली बीच में कूद पड़े। उन्होंने आक्रामक स्वर मे कहा कि 'उनके धार्मिक स्थलों को पहले ही छीना जा चुका है। इस्लाम को समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है और अब कुछ बचा भी नहीं है। यदि कोई

भी मुसलमान आक्रमणकारी खिलाफत के पक्ष मे अग्रेजो को दण्ड देने बाहर से आता है तो मुसलमान उनके साथ हाथ मिलायेगे। अत अग्रेज अपने अन्याय तथा इस्लाम के प्रति क्रूरता के लिये ऐसे ही दण्ड के भागी है।[70] सोमानी, जफर अली खॉ, आजाद आदि ने उनका समर्थन किया, परन्तु उपरोक्त भावनात्मक भाषण अनेक भारतीयो को प्रभावित नही कर सका। लाजपत राय ने तो उन्हे चेतावनी दी कि – 'शौकत अली की तरह व्यवहार करने पर हिन्दू उनका विरोध करेगे।'[71] इस प्रकार स्पष्ट है कि मुस्लिम धार्मिक मुद्दो के आधार पर चलाये गये खिलाफत आन्दोलन मे मुस्लिम नेताओ का दृष्टिकोण धार्मिक पूर्वाग्रह से युक्त था, क्योकि आन्दोलन के समाप्त होने पर साम्प्रदायिक घटनाओ की बाढ आ गयी।

खिलाफत आन्दोलन अखिल इस्लामवाद की पराकाष्ठा थी। बहुत से मुसलमान धार्मिक भावनाओ के कारण इसे समर्थन दे रहे थे। चौरीचौरा काण्ड के बाद असहयोग आन्दोलन की समाप्ति हुई और इसके बाद के वर्षो मे हिन्दू एव मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विस्तार बडी तेजी से हुआ। यह इस काल की सबसे गभीर, स्थायी और नकारात्मक सवृत्ति थी। सितम्बर 1924 मे पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त मे एक हिसक हिन्दू विरोधी उपद्रव हुआ, जिसमे 155 लोग मारे गये।[72] अप्रैल और जुलाई 1926 के बीच कलकत्ता मे दगो की तीन लहरे आयी, जिनमे 138 लोग मारे गये।[73] उसी वर्ष ढाका, रावलपिडी और दिल्ली मे भी उपद्रव हुये। 1923–27 के बीच सयुक्त प्रान्त जो सर्वाधिक दगा प्रभावित प्रान्त था, मे 91 साम्प्रदायिक उपद्रव हुये।[74] इन सभी साम्प्रदायिक दगो की पृष्ठभूमि मे दो मुख्य मुद्दे थे– मुसलमानो की मॉग थी कि मस्जिद के आगे बाजे न बजाये जायें और हिन्दुओ की मॉग थी कि गोहत्या बन्द की जाय।

तेजी से बढते साम्प्रदायिक संगठनो एव विचारधाराओ ने अभिजन सम्प्रदायवाद और जन सम्प्रदायवाद के बीच एक कडी प्रदान की। इसमे मुस्लिम साम्प्रदायिकता को आगे बढाने मे तबलीग एव तजीम का प्रसार, 1924 का कोहट उपद्रव, खिलाफत सगठनो के तितर–बितर हो जाने पर मुस्लिम लीग की पुन सक्रियता और 1926 मे स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या ने अपना योगदान किया। 1924 के लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुये मुहम्मद अली जिन्ना ने ऐसे सघ की मॉग की जिसमे मुस्लिम बहुल क्षेत्रो को हिन्दुओं के प्रभुत्व से बचाने के लिये पूर्ण प्रान्तीय स्वायत्तता प्राप्त हो। यह मॉंग अलग निर्वाचक मडलों के अतिरिक्त थी। इस तरह यह कहा जा

सकता है कि 'दो राष्ट्र के सिद्धान्त' की पृष्ठभूमि धीरे–धीरे तैयार हो रही थी। दूसरी ओर हिन्दुओ मे भी साम्प्रदायिकता की भावना बढ रही थी। वास्तव मे तजीम और तबलीग बहुत सीमा तक आर्य समाजियो के शुद्धि और सगठन के जवाब थे। यहॉ ध्यातव्य है कि आर्य समाजियो ने मोपलो द्वारा बलपूर्वक हिन्दुओ को मुसलमान बनाने के बाद शुद्धि आन्दोलन चलाया था, जिसे श्रद्धानन्द द्वारा 1923 के बाद सयुक्त प्रान्त मे भी आरम्भ किया गया। इसका उद्देश्य उन मलकान राजपूतो, गूजरो और बनियो को पुन हिन्दू बनाना था, जिन्हे मुसलमान बनाया गया था।

हिन्दू साम्प्रदायिकता का एक और आयाम असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद हिन्दू महासभा का फिर से सक्रिय होना था। विदित है कि हिन्दू महासभा की स्थापना प मदन मोहन मालवीय और कुछ पजाबी नेताओ ने हरिद्वार मे कुभ मेले (1915) मे की थी। लेकिन असहयोग आन्दोलन के दिनो मे यह निष्क्रिय हो चुकी थी। किन्तु 1922–23 मे बडे पैमाने पर इसका पुनरुत्थान हुआ। अगस्त 1923 के बाद इसके बनारस अधिवेशन मे शुद्धि का कार्यक्रम भी सम्मिलित था और हिन्दू आत्मरक्षा जत्थो के निर्माण का आह्वान किया गया था। यह अधिवेशन आर्यसमाजी सुधारवादियो एव सनातन धर्मसभा के रूढिवादियो के गठजोड से बने एक साझे हिन्दू मोर्चे का प्रतिनिधित्व करता था, जिसके अध्यक्ष मालवीय स्वय थे। हिन्दी को हिन्दुओ से जोडने वाली बात काफी हद तक महासभा वालो की प्रचार थी। इस कारण इसका विशेष आकर्षण भी मुख्यत उत्तर भारत तक सीमित रहा। इनसे बढकर जो सबसे महत्वपूर्ण घटना हुई वह थी, 1925 मे नागपुर मे तिलक के पुराने सहयोगी वी एस मुजे के अनुयायी के बी हेडगेवार द्वारा राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ की स्थापना, जिसने हिन्दुओ को उग्र बनाने एव उनमें साम्प्रदायिक भावनाओ का विकास करने मे अहम् भूमिका अदा की।

नवम्बर 1927 में ब्रिटिश सरकार ने भारत मे 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत किये गये सुधारों के कार्यान्वयन के मूल्याकन के लिये साइमन कमीशन का गठन किया। 1919 के अधिनियम मे यह प्रावधान किया गया था कि दस वर्ष के अन्तराल पर एक ऐसे आयोग का गठन किया जायेगा। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के बढ़ते प्रभाव और भारत में तेजी से बदल रहे राजनीतिक परिदृश्य को ध्यान में रखते हुये ब्रिटिश सरकार को इस प्रकार के आयोग का गठन करना पड़ा। यह पूरी तरह से यूरोपीय लोगों का

आयोग था। अत सभी प्रतिष्ठित राजनीतिक समूहो ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया। किन्तु मुस्लिम समुदाय के लोगो द्वारा बहिष्कार का समर्थन नही किया गया। मुसलमानो के द्वारा सयुक्त प्रान्त के कुछ जिलो मे कमीशन के विरोध मे प्रस्तावित हडताल तथा बहिष्कार के खिलाफ सभा हुई थी। लेजिस्लेटिव कौसिल के कुल इकतीस मुस्लिम सदस्यो मे से इक्कीस ने घोषणा पत्र जारी करते हुये कमीशन के खिलाफ प्रस्तावित हडताल तथा बहिष्कार की घोषणा का विरोध किया।[75] सयुक्त प्रान्त के शासन की दृष्टि मे 3 फरवरी की जिस हडताल का अत्यधिक प्रचार किया गया था, वह मुस्लिमो के अलग रहने, हिन्दुओके आधे मन से भाग लेने तथा वर्षा होने से सभाओ के न होने के कारण असफल रही।[76] किन्तु भारतीय समाचार पत्रो के अनुसार–"3 फरवरी की हडताल अभूतपूर्व सफलता के साथ हुई।"[77] स्पष्ट है कि मुस्लिम मानस राष्ट्रीय आन्दोलन से अपने को अलग किये हुये था, जिसका कारण उसका धार्मिक–साम्प्रदायिक दृष्टिकोण भी था जैसा कि नेहरू रिपोर्ट पर उनकी प्रतिक्रिया से ज्ञात होता है।

भारत सचिव लार्ड बरकेनहेड के व्यग्य कि भारतीय किसी भी व्यवहारिक राजनीतिक योजना पर एकमत होने मे अक्षम हैं, ने भारतीयो को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि उन्हे एक ऐसे सविधान की रूपरेखा तैयार करनी चाहिये जो सभी को स्वीकार्य हो। इसके लिए एक सर्वदलीय सम्मेलन की बात होने लगी। जिन्ना ने मार्च 1927 मे ही मुस्लिम नेताओ को समझौते के लिये तैयार कर लिया था, जिसके अनुसार अगर सयुक्त निर्वाचक मडलो के साथ–साथ मुसलमानो को आरक्षित सीटो के लिये एक तिहाई प्रतिनिधित्व तथा पजाब, बगाल एव तीन नये मुस्लिम बहुल प्रान्तो सिन्ध, बलूचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त मे मुसलमानो को जनसख्या के अनुपात मे प्रतिनिधित्व देने का वादा किया जाता तो मुसलमान पृथक निर्वाचक मडलो को छोडने के लिये तैयार हो जाते। इस प्रस्ताव को दिसम्बर 1927 के मुस्लिम लीग के अधिवेशन मे दोहराया गया। यद्यपि कि मुहम्मद शफी के नेतृत्व में लीग के एक विद्रोही गुट का अधिवेशन लाहौर मे हुआ, जिसमे इन प्रस्तावो का प्रबल विरोध किया गया।

दूसरी ओर हिन्दू महासभा ने मुसलमानों के इस रवैये पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। 24 मार्च 1928 को अयोध्या में अवध हिन्दू सम्मेलन का आयोजन किया गया था। सम्मेलन की अध्यक्षता डा. बी.एस.मुजे ने की थी। कुल उपस्थिति 3000 थी। प्रान्त के सभी जिलों के प्रतिनिधि थे। डा.

मुजे ने जहॉ एक ओर अछूतो को ऊपर उठाने का आग्रह किया, वही दूसरी ओर स्वराज प्राप्ति का एकमात्र उपाय हिन्दू सगठन को बताया था। उन्होने मुसलमानो का आह्वान किया था कि राष्ट्रीय आन्दोलन मे मोल–तोल का भाव छोडकर हिन्दुओ का साथ दे और उनसे कन्धे से कन्धा मिलाकर आगे बढे। हिन्दू स्वराज्य चाहता है पर हिन्दुत्व को देकर नही।[78] इतना ही नही अप्रैल 1928 मे हिन्दू महासभा के नेता एन सी केलकर ने जबलपुर अधिवेशन मे एक प्रस्ताव स्वीकृत कराया था, जिसमे इस बात का आह्वान किया गया था कि गैर हिन्दुओ को हिन्दू धर्म मे दीक्षित किया जाय। ऐसी बाते हिन्दुओ मे साम्प्रदायिक भावनाओ को निश्चित रूप से भडकाती थी और जिसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया मुस्लिम समुदाय मे भी होती थी।

मई 1927 मे ही काग्रेस ने जिन्ना के प्रस्ताव को करीब–करीब स्वीकार कर लिया था, लेकिन पजाब और महाराष्ट्र से साम्प्रदायिक दबाव पडने पर काग्रेस को अपनी बात से पीछे हटना पडा। फरवरी 1928 मे दिल्ली एव मई मे बम्बई मे सर्वदलीय सम्मेलन हुआ। अगस्त मे लखनऊ मे नेहरू रिपोर्ट अतिम रूप से प्रस्तुत हुई। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को लेकर इस सम्मेलन मे समझौता वार्ताओ एव झडपो का लम्बा सिलसिला चला। हिन्दू सम्प्रदायवादियो ने आमतौर पर नये मुस्लिम बहुल प्रान्तो एव पजाब तथा बगाल मे बहुसख्यको के लिये सीटो को आरक्षित किये जाने का विरोध किया। नेहरू रिपोर्ट ने महासभा को अनेक रियायते प्रदान की। इसमे प्रत्येक स्थान पर सयुक्त निर्वाचक मडलो का प्रस्ताव था। आरक्षित सीटे या तो केन्द्र मे होनी थी या केवल उन प्रान्तो मे जहॉ मुसलमान अल्पसख्यक थे। राजनीतिक सरचना मोटे तौर पर एकात्मक रहती, जिसमे केन्द्र के पास अवशिष्ट शक्तियॉ भी रहती।

नेहरू रिपोर्ट पर मुस्लिम प्रतिक्रिया स्वाभाविक रूप से नकारात्मक रही। कानपुर मे सयुक्त प्रान्त के 'आल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेस' का अधिवेशन 5 नवम्बर 1928 को शौकत अली की अध्यक्षता मे हुआ। अधिवेशन मे नेहरू रिपोर्ट की आलोचना की गयी थी। पृथक निर्वाचन क्षेत्रो, प्रान्तीय कौंसिल में मुसलमानों की वर्तमान संख्या को बरकरार रखने तथा उर्दू भाषा को संरक्षण प्रदान करने की मॉंग की गयी थी। सयुक्त प्रान्त के शासन की दृष्टि से अली इमाम, डा. एम ए अन्सारी, महाराजा महमूदाबाद और शौकत अली जैसे मुस्लिम नेता इस सभा में अल्पमत मे थे क्योंकि रिपोर्ट तैयार करने के लिये नेहरू कमेटी को धन्यवाद देने का प्रस्ताव मात्र

चार मतो से पारित हुआ था। शासन ने स्वीकार किया था कि नेहरू रिपोर्ट के विरुद्ध मुस्लिम विरोध तेजी से बढ रहा था।[79] नेहरू रिपोर्ट पर जिन्ना ने 1929 मे अपनी चौदह सूत्री योजना प्रस्तुत की जो बाद मे लीग के प्रचार आन्दोलन का आधार हुई। ये चौदह सूत्र नेहरू कमेटी की रिपोर्ट के सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुझावो के विरोधी थे। इस योजना की मुख्य बाते थी कुछ विषयो पर प्रान्तीय स्वायत्तता के साथ सघीय राज्य की स्थापना, केन्द्रीय विधायिका सभा मे कम से कम एक तिहाई मुस्लिम प्रतिनिधित्व, पृथक निर्वाचन इकाइयॉ, किसी भी केन्द्रीय या प्रान्तीय मत्रिमण्डल मे एक तिहाई मुस्लिम मत्रियो की व्यवस्था।'[80] महासभा के नेता एम आर जयकर इससे सहमत नही थे। जिन्ना ने आगे बढकर पृथक निर्वाचक मडल की बात फिर उठायी और कहा कि यह व्यवस्था तब तक चलनी चाहिये, जब तक कि हिन्दू अन्य बातो को स्वीकार न कर ले।

इस समय की मुस्लिम राजनीति पर दृष्टिपात किया जाय तो नेहरू रिपोर्ट पर न केवल उनमे विभाजन था अपितु बहुसख्यक दृष्टिकोण साम्प्रदायिक भी था। 30 और 31 मार्च 1929 को दिल्ली मे मुस्लिम लीग का अधिवेशन हुआ।[81] इस अधिवेशन का मूल उद्देश्य मुसलमानो की राजनीतिक एकता स्थापित करना था। इस अधिवेशन के पहले तक मुसलमान साधारणत· दो दलो मे विभक्त थे। एक दल मुस्लिम लीग का और दूसरा सर मु शफी का था। यह दूसरा दल भी अपने को मुस्लिम लीग कहता था। अतएव पहला दल जिन्ना लीग और दूसरा दल शफी लीग के नाम से सम्बोधित किया जाता था। यहॉ स्पष्ट करना आवश्यक है कि शफी लीग घोर साम्प्रदायिक था। जिन्ना लीग तो कुछ शर्तों पर नेहरू रिपोर्ट मानने को तैयार थी, परन्तु शफी लीग बिल्कुल तैयार नही थी। परिणामस्वरूप भारत के मुसलमानो की राजनीतिक विषयो पर कोई एक राय नही थी और दिल्ली अधिवेशन का यह उद्देश्य कि मुसलमानो मे राजनीतिक एकता कायम की जाय, भी सफल नहीं हुआ और परिणाम विपरीत हुआ, दोनो दलो को मिलाने के लिये लीग का जो अधिवेशन बुलाया गया था, उसके स्थान पर चार दल बन गये।[82]

इनमें पहला दल स्वराज्यवादी था, वह नेहरू रिपोर्ट का समर्थक था। यह मानता था कि मुसलमानों का हित राष्ट्रीयता में ही है, साम्प्रदायिकता हानिकारक है। यह संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों का पक्षपाती था और इस बात पर जोर देता था कि केन्द्रीय सरकार मजबूत होनी चाहिये, जिससे वह सब

प्रान्तो को एक साथ बनाये रख सके। मौलाना अबुल कलाम आजाद, डा एमए अन्सारी टीएके शेरवानी राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक थे। दूसरा दल जिन्ना का था, जो सयुक्त निर्वाचन को अच्छा तो समझता था, लेकिन मानने के लिये तैयार नही था। तीसरा शफी दल था, जो मुसलमानो के लिए अधिक से अधिक दावा करता था और समझता था कि हिन्दू स्वय सिर झुकाने को बाध्य होगे। जिन्ना और शफी मे मौलिक मतभेद इतना ही था कि शफी साहब दिखा रहे थे कि मुसलमान किसी दशा मे पृथक निर्वाचन का त्याग नही करेगे और जिन्ना साहब त्याग करने को तैयार थे, यदि उसका पूरा मूल्य मिल जाय। चौथा दल दिल्ली मुस्लिम कान्फ्रेस वालो का था, वह इस बात पर जोर देता था कि प्रान्तो को ही सारा अधिकार दिया जाय। इसका अभिप्राय था कि मुस्लिम प्रान्तो मे मुसलमान और हिन्दू प्रान्तो मे हिन्दू मनमानी कर सकेगे। यदि एक प्रान्त मे हिन्दू मुसलमानो पर मनमानी करेगे, तो दूसरे प्रान्त के हिन्दू से बदला लिया जायेगा। यह दल पूर्ण स्वतत्रता भी चाहता था और साम्प्रदायिक अधिकार भी। इस अन्तर्विरोध को स्वीकार करते हुये नई दिल्ली मे मुस्लिम लीग की कौसिल की 31 मार्च 1929 की बैठक मे जिन्ना ने कहा था – "मै खुद राष्ट्रवादी हूँ पर मै यह कहने को राजी हूँ कि मुसलमानो मे तीन दल है, एक नेहरु योजना स्वीकार करना चाहता है, दूसरा अस्वीकार करना और तीसरा समझौता करना।"[83] स्पष्ट है कि इन मॉगो एव मन्तव्यो पर एकमत न होना मात्र राजनीतिक ऐक्य का न होना ही नही था, बल्कि इसके पीछे साम्प्रदायिक दृष्टि काम कर रही थी।

ऐसे ऊहापोह के वातावरण मे मुसलमानो की ओर से एक सकारात्मक प्रयास दृष्टिगत होता है, जब जुलाई 1929 मे इलाहाबाद मे राष्ट्रीय विचार के मुसलमानो ने अपनी सभा करके 'राष्ट्रीय मुस्लिम दल' का गठन किया था।[84] दल के अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद और मत्री टी.ए.के शेरवानी थे। सयुक्त प्रान्त में राष्ट्रीय मुस्लिम दल को सगठित करने का भार टी.ए.के शेरवानी, मसूर अली नदवी, चौ. खलीकुज्जमॉं तथा रफी अहमद किदवई को सौंपा गया था। दल का उद्देश्य था– भारत मे मुसलमानो में राष्ट्रीयता का भाव बढाना, मुसलमानों को राष्ट्रीय लडाई मे सम्मिलित करने के लिए उत्साहित करना और बहुसख्यक सम्प्रदाय और अल्पसंख्यक सम्प्रदाय में ऐसा सम्बन्ध उत्पन्न करना, जिससे बहुसंख्यक सम्प्रदाय के लोग अल्पसख्यक सम्प्रदाय के लोगो के अधिकार का विचार

व्यापक देशभक्ति की दृष्टि से करे और अल्पसख्यक सम्प्रदाय के लोग सच्ची राष्ट्रीयता की दृष्टि से अपने अधिकारो का विचार करे।[85]

हिन्दू महासभा ने भी सूरत के अधिवेशन मे जो निर्णय लिया था उसके अनुसार दिसम्बर 1928 मे नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया था, किन्तु अब उसने समर्थन वापस ले लिया। इसका कारण यह बताया गया था कि दिल्ली मे मुस्लिम कान्फ्रेन्स ने नेहरू रिपोर्ट का विरोध किया था। अत महासभा भी समर्थन नही करती, क्योकि महासभा ने इसलिए समर्थन किया था कि इससे सब सम्प्रदायो मे एकता हो जाय, पर मुस्लिम कान्फ्रेस ने इस पर पानी फेर दिया।[86] लेकिन हिन्दू महासभा का यह निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण नही कहा जा सकता क्योकि दिल्ली का मुस्लिम कान्फ्रेन्स सम्पूर्ण मुस्लिम समुदाय का निर्णय न होकर एक वर्ग विशेष का निर्णय था। इस प्रकार नेहरू रिपोर्ट जैसे महत्वपूर्ण राष्ट्रीय साविधानिक मसविदे पर मुस्लिम समुदाय मे तो विभाजन था ही, हिन्दू महासभा का निर्णय भी सराहनीय नही था। ब्रिटिश प्रशासन द्वारा नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार किये जाने की स्थिति मे काग्रेस जनवरी 1930 से आन्दोलन आरम्भ करने के लिये कृत सकल्प थी। ऐसी स्थिति मे मुस्लिम समुदाय के वर्ग विशेष तथा हिन्दू महासभा द्वारा नेहरू रिपोर्ट का समर्थन न किया जाना राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करना था। इस तरह 1919–29 के काल मे साम्प्रदायिकता ने अपने लिये सुदृढ स्थान बना लिया था। हिन्दू एव मुसलमान एक ऐसी स्थिति मे पहुँच गये थे, जहॉ से राजनीतिक दृष्टि से एक होना मुश्किल हो रहा था। वास्तव मे जब सर्वदलीय सम्मेलन ने जयकर के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया, तो जिन्ना ने कहा था कि – "यह रास्तो के अलग हो जाने जैसी स्थिति है", और दो वर्ष बाद जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन हुआ तो मुस्लिम नेतृत्व ने मुसलमानो को इस आन्दोलन से अपने आपको अलग रखने की अपील की।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे अपने को अलग रखने की नीति की पुष्टि सयुक्त प्रान्त से सम्बन्धित एक रिपोर्ट से भी होती है– वस्तुत 1932 मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन को अस्तित्व प्रदान करने मे सयुक्त प्रान्त का सर्वाधिक योगदान था। दूसरा तथ्य यह भी था कि सयुक्त प्रान्त मे इस सघर्ष को जीवित रखने मे हिन्दुओ ने ही अपना रक्त बहाया था। इसकी पुष्टि के लिये 2 दिसम्बर 1932 को सयुक्त प्रान्तीय सरकार के सचिव द्वारा भारत सरकार को भेजे गये पत्र का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। पत्र में

प्रान्त के विभिन्न जेलो मे बन्द किये गये लोगो के विषय मे एक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया था। जो निम्नलिखित था।[87]

1 लखनऊ कैम्प जेल मे 1735 कैदियो मे 1721 (99 2 प्रतिशत) हिन्दू थे।
2 लखनऊ जिला जेल मे 765 कैदियो मे 735 (98 7 प्रतिशत) हिन्दू थे।
3 रायबरेली जेल मे सभी कैदी हिन्दू थे।
4 फैजाबाद जेल मे 140 मे 135 (96 4 प्रतिशत) हिन्दू थे।

यद्यपि कि ऑकडे पूरे प्रदेश से नही है फिर भी इससे मुस्लिम अलगाव के बारे मे महत्वपूर्ण सूचना मिलती है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

साम्प्रदायिकता के चौथे चरण मे मुस्लिम लीग एक राजनीतिक पार्टी के रूप मे बिखरी पडी थी और उसका अस्तित्व ही सकट मे था। इसलिये इस दौरान मुस्लिम साम्प्रदायिकता विद्यमान तो थी लेकिन उसका स्वरूप दबा हुआ था। किन्तु इस अवधि मे एक महत्वपूर्ण घटना चक्र मे भारतीय समाज को और विखण्डित करने के उद्देश्य से 1932 के द्वितीय गोलमेज सम्मेलन मे ब्रिटिश प्रधानमत्री रैम्जे मैकडॉनेल द्वारा कम्यूनल अवार्ड की घोषणा की गयी, जिसमे भारत मे रह रही निम्न जातियो के लिये भी पृथक निर्वाचक मडल की बात कही गयी। इस सम्मेलन मे दलित जातियो का प्रतिनिधित्व बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर कर रहे थे। सम्मेलन मे अखिल भारतीय काग्रेस का प्रतिनिधित्व कर रहे गॉधी जी ने इसका विरोध किया और बाद मे भारत आकर उन्होने इस प्रावधान के विरुद्ध आमरण अनशन प्रारम्भ किया लेकिन इस समस्या का समाधान 'पूना पैक्ट' के तहत खोज लिया गया। जिसमे हरिजन या निम्न जातियो के लिये कुछ सीटे आरक्षित की गयीं।

मुस्लिम लीग 1936 मे अस्तित्व के सकट के दौर से गुजर रही थी, लेकिन जब मु अली जिन्ना लन्दन से बैरिस्टर की प्रैक्टिस छोडकर वापस भारत आये और मुस्लिम लीग की बागडोर एक बार फिर सँभाली तो उसे नया जीवन मिला। जिन्ना ने उस वक्त अपनी इच्छा जाहिर की थी कि वे कम्यूनल एवार्ड को भूलने के लिये तैयार हैं और भारत सम्बन्धी जो वृहत

प्रश्न है उन पर ध्यान केन्द्रित करने को भी तैयार है। यद्यपि कि मुस्लिम लीग और जिन्ना की लोकप्रियता जनता के बीच नगण्य ही थी। मुस्लिम लीग इस समय सामाजिक रूढिवादियो से भरी पडी थी। आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्तर और शिक्षा ही लीग मे प्रवेश के लिये निर्धारक का काम करते थे।

जिन्ना के समक्ष सबसे बडा प्रश्न मुस्लिम लीग को न केवल पुनर्जीवित या सगठित करना था बल्कि उन्हे 1937 के प्रान्तीय विधान सभाओ के होने वाले चुनावो के लिये तैयारी भी करनी थी। यहॉ पर इस तथ्य को रेखाकित करना आवश्यक है कि काग्रेस और लीग दोनो ने ही 1935 के अधिनियम के प्रति अपनी नाराजगी व्यक्त करते हुये कहा था कि यह एक्ट भारतीयो की राजनीतिक इच्छाओ को सतुष्ट करने मे नाकाम रहा है। नेहरू ने तो इस एक्ट को दासता का चार्टर[88] कहा था। काग्रेस ने 1936 मे एक प्रस्ताव पारित कर कहा था कि भारतीय सविधान का निर्माण एक सविधान सभा द्वारा ही किया जा सकता है, जिसका गठन वयस्क मताधिकार के आधार पर हो।[89] लीग ने भी सघ के ढॉचे सम्बन्धी प्रावधानो की आलोचना करते हुये इसे एक अति प्रतिक्रियावादी प्रावधान कहा था। साथ ही उसने यह भी कहा कि वह प्रान्तो मे दिये गये प्रावधानो को कार्यान्वित करने के लिए तैयार है।[90] काग्रेस ने भी प्रान्तीय स्वायत्तता को कार्यान्वित करने मे अपना योगदान देने का निश्चय किया। इस तरह दोनो ही पार्टियो ने अपने विरोध के बावजूद प्रान्तीय विधान सभा के चुनाव मे भाग लेने का निश्चय किया, लेकिन दोनो के ही निहित उद्देश्य भिन्न थे। दोनो चुनाव के माध्यम से अपनी पार्टी के सदेशो को जनता तक पहुँचाना चाहती थी।[91]

जिन्ना ने मुस्लिम लीग को सुदृढ करने के उद्देश्य से ढाका के नवाब द्वारा शुरू की गयी यूनाइटेड मुस्लिम पार्टी और फजलुल हक की कृषक प्रजा पार्टी को मुस्लिम लीग में सम्मिलित कर पार्टी के क्षेत्रीय आधार को विस्तृत करने का प्रयास किया, हालॉकि पजाब मे फजली हुसेन की यूनियनिस्ट पार्टी और बिहार में यूनाइटेड मुस्लिम और अहरार पार्टियो ने मुस्लिम लीग में अपना विलय करने से इन्कार कर दिया। इसी तरह मध्य प्रान्त एव सिन्ध मे भी मुस्लिम नेताओं को लीग में लाने का जिन्ना का प्रयास असफल रहा।[92] इस तरह व्यक्तिगत और प्रान्तीय प्रतिद्वन्दिता एक ही मुस्लिम पार्टी के निर्माण में अवरोधक बनी।[93]

सयुक्त प्रान्त मे जिन्ना को मुस्लिम युनिटी बोर्ड के साथ गठबन्धन करने मे सफलता मिली। मुस्लिम युनिटी बोर्ड का गठन 1933 मे युनिटी कान्फ्रेन्स (एकता सम्मेलन) मे किया गया था। जिसमे मुस्लिम कान्फ्रेन्स और राष्ट्रीय मुसलमान नामक सगठन, जिसका नेतृत्व खली–कुज्जमाँ कर रहे थे, एक सयुक्त मोर्चा बनाकर मुसलमानो के राजनीतिक हित को सरक्षित और विकसित करना चाहते थे। सयुक्त प्रान्त के राज्यपाल सर हेरी हेज ने लिखा है कि इन लोगो ने जिन्ना से इसलिये हाथ मिलाया, क्योकि मुस्लिम लीग का प्रभाव सयुक्त प्रान्त मे अधिक था।[94]

1936 मे मुस्लिम लीग का बम्बई मे चौबीसवाँ अधिवेशन हुआ। इसकी अध्यक्षता करते हुये सैयद वजीर हसन ने कहा कि मुस्लिम लीग का अन्तिम ध्येय मुसलमानो का सावैधानिक विकास करना है और स्वशासन, पूर्ण स्वतत्रता, उत्तरदायी सरकार इत्यादि· जो भी होना हो वह ब्रिटिश क्राउन की छत्रछाया मे ही हो।[95] इसी सत्र मे एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमे पूर्ण स्वतत्रता की बात नही की गयी बल्कि पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की बात कही गयी।[96]

काग्रेस और लीग के चुनाव घोषणा–पत्र दोनो के उद्देश्यो एव आदर्शों को स्पष्ट करते थे। लीग का घोषणा–पत्र अस्पष्ट था। जिसमे किसी भी मुद्दे पर अपनी प्रतिबद्धता नही व्यक्त की गयी थी। इसमे केवल मुसलमानो के धार्मिक अधिकारो के प्रति ही चिन्ता व्यक्त की गयी थी। साथ ही अस्पष्ट रूप से ग्रामीण जनसख्या के सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक उत्थान पर भी ध्यान देने की चेष्टा की गयी थी।[97] नेहरू द्वारा तैयार काग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र मे 1935 के अधिनियम को नकार दिया गया और इस बात को केन्द्रीय रूप से स्पष्ट किया कि भारत के स्वतत्रता सघर्ष मे जनता को अहम् भूमिका निभानी है।[98]

जैसे–जैसे चुनाव नजदीक आता गया काग्रेस (विशेषत नेहरू) और लीग के बीच दूरी बढ़ती गयी। उदाहरण के लिये 1936 के फैजपुर काग्रेस में नेहरू ने इस बात पर जोर दिया कि भारत मे स्वतत्रता सघर्ष की लडाई दो शक्तियो के बीच है। पहली शक्ति काग्रेस है जो कि भारत की स्वतत्रता का प्रतिनिधित्व करती है और दूसरी भारत मे ब्रिटिश सरकार और इसके समर्थक हैं जो इसका विरोध करते हैं और इसे दबाने का प्रयास करते हैं।[99] जिन्ना ने इस पर कडी आपत्ति की और नेहरू को आगाह किया

कि भारत मे एक तीसरा पक्ष भी है और यह पक्ष मुस्लिम का है।[100] नेहरू का यह विचार था कि जो स्वतत्रता के लिये सघर्ष कर रहा है, वह काग्रेस के साथ है और जो सम्प्रदायवाद को इसमे शामिल कर रहा है, वह स्वतत्रता के लिये बहुत ज्यादा उत्सुक नही है।[101] यहॉ पर यह बात याद रखनी चाहिये कि जिन्ना का एकमात्र उद्देश्य मुस्लिम लीग को मुसलमानो के प्रतिनिधि के रूप मे स्थापित करना था और इसे भारतीय राजनीति मे अग्रिम पक्ति मे खडा करना था, जिसमे कि वह बाद मे कामयाब भी होते है।

1937 के चुनावो मे काग्रेस का प्रदर्शन बहुत अच्छा रहा। उसे कुल 1585 असेम्बली सीटो मे से 711 पर विजय प्राप्त हुई और 11 मे से पाच प्रान्तो—मद्रास, बिहार, उडीसा, मध्यप्रान्त एव सयुक्त प्रान्त मे पूर्ण बहुमत मिला और बम्बई मे लगभग पूर्ण बहुमत। सरकारी समर्थन के बावजूद सयुक्त प्रान्त मे छत्तारी के नवाब की नेशनल एग्रीकल्चरिस्ट पार्टी और मद्रास मे जस्टिस पार्टी को मुॅह की खानी पडी। मुस्लिम चुनाव क्षेत्रो मे काग्रेस 58 सीटो पर लडी और 26 पर विजयी रही। इसके बावजूद उसे आत्मसन्तोष इस बात से था कि मुस्लिम लीग मुसलमानो का एक मात्र प्रतिनिधि होने का अपना दावा सिद्ध करने मे असफल रही थी। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त मे लीग एक भी सीट नही पा सकी थी और पजाब के 84 चुनाव क्षेत्रो मे से केवल दो और सिन्ध के 33 मे से केवल तीन स्थानो पर जीत सकी थी। अनुसूचित जातियो की अधिकाश सीटो पर काग्रेस ने विजय प्राप्त की थी, लेकिन बम्बई इसका अपवाद था, जहॉ अम्बेडकर की इण्डिपेन्डेट लेबर पार्टी ने 15 मे 13 सीटे जीती थी।[102]

चुनाव मे विजय हासिल करने के बाद भी काग्रेस मे इस बात पर मतैक्य नही था कि प्रान्तो मे काग्रेस सरकार का गठन करे या नही। मार्च 1937 मे अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी के अधिवेशन मे राजेन्द्र प्रसाद और पटेल ने सशर्त पद ग्रहण करने के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव रखा। शर्त यह थी कि प्रान्त मे कांग्रेस एसेम्बली पार्टी का नेता सतुष्ट हो और सार्वजनिक रूप से वक्तव्य दे सके कि गवर्नर अपनी विशेष शक्तियो का उपयोग नही करेगा। जयप्रकाश के नेतृत्व मे वामपथ का विरोध 78 के मुकाबले 135 मतो से पराजित हो गया। इस प्रकार दक्षिणपथ के विचार को स्वीकृत मिल गयी। जी.डी.बिडला ने एक पत्र में इसे काग्रेस के दक्षिणपथ की महान विजय कहकर इसका स्वागत किया। यद्यपि लिनलिथगो ने सार्वजनिक

रूप से यह आश्वासन देना स्वीकार नही किया था कि गर्वनर अपनी विशेष शक्तियो का प्रयोग नही करेगे लेकिन जुलाई 1937 तक काग्रेस ने प्रान्तो मे सरकार बनाने का निर्णय कर लिया था। इस आधार पर कि बदली हुई परिस्थितियो मे गर्वनर द्वारा अपनी विशेष शक्तियो का प्रयोग सरल नही होगा। सयुक्त प्रान्त, बिहार, उडीसा, मध्यप्रान्त, बम्बई एव मद्रास मे काग्रेसी मन्त्रिमडलो ने पद भार सभाला और कुछ महीनो बाद पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त एव सितम्बर 1938 मे असम मे काग्रेस मन्त्रिमण्डल बना जिसमे दल—बदल का सहारा लिया गया। इस तरह के राजनीतिक कुकृत्यो मे आश्चर्यजनक रूप से काग्रेस के वामपथी अध्यक्ष सुभाष चन्द्र बोस की भूमिका महत्वपूर्ण रही थी।

चुनाव के बाद मुस्लिम लीग को अपनी कमजोर राजनीतिक स्थिति का अहसास हुआ। जिन्ना ने इसी कारण किसी भी दल या समूह से सहयोग करने की इच्छा व्यक्त की जिसके आधारभूत सिद्धान्तो का निर्धारण आम सहमति से हो।[103] साथ ही जिन्ना ने यह साफ कर दिया था कि मुस्लिम लीग का स्वतत्र अस्तित्व बना रहेगा और मुसलमानो से मुस्लिम लीग के साथ लामबन्द होने की अपील की। नेहरू जिन्ना की शर्तों पर मुस्लिम लीग के साथ सहयोग करने को तैयार नही थे क्योकि उन्हे विश्वास था कि काग्रेस अपने बल पर आर्थिक मुद्दो के आधार पर मुसलमानो को अपने पक्ष मे कर लेगी। काग्रेस ने इसी के बाद मुसलमानो के बीच जन अभियान शुरू किया। जिन्ना को यह अपमानजनक लगा। इसके अतिरिक्त काग्रेस के ऐसे किसी भी जन अभियान की सफलता मुस्लिम लीग को खतरे मे डाल देती, इसलिये भी जिन्ना का विरोध लाजिमी था। इसने दोनो के बीच कटुता को बढाया। जिन्ना के अनुसार काग्रेस का यह प्रयास मुसलमानो को खण्डित/विभाजित या कमजोर करने की एक चाल है और मुसलमानो को उनके नेताओ से अलग—थलग करने का प्रयास है।[104]

इस बीच सयुक्त प्रान्त मे मुस्लिम लीग और कांगेस के बीच सरकार बनाने हेतु बातचीत चल रही थी। ऐसा कहा जाता है कि गोविन्द बल्लभ पन्त ने लीग को किसी भी काग्रेस मन्त्रिमण्डल मे दो सीटे देने का वायदा किया लेकिन इससे नेहरू नाराज हो गये।[105] नेहरू किसी भी ऐसे विचार को अपनी सहमति नही दे सकते थे, जिसमे साम्प्रदायिक सगठनो के साथ सहयोग बिना किसी आम राजनीतिक एव आर्थिक नीतियो के माध्यम से होता। नेहरू के अनुसार ऐसे सगठन प्रतिक्रियावादी तत्वो के हाथ मे थे,

जो ब्रिटिश शासन से सुविधाये पाने के इच्छुक थे। इस तरह सयुक्त प्रान्त मे काग्रेस–लीग मत्रिमडल बनने की आशा क्षीण हो गयी। दूसरी ओर जिन्ना ने भी खलीकुज्जमॉ के काग्रेस के साथ मिलकर काम करने की इच्छा का खुला विरोध किया, क्योकि ऐसे कार्य मुसलमानो के बीच केवल मतभेद पैदा करते थे।[106] इसके तुरन्त बाद मई 1937 मे सयुक्त प्रान्त मुस्लिम लीग ने एक प्रस्ताव पारित कर कहा कि काग्रेस और लीग के बीच उद्देश्यो मे पर्याप्त अन्तर है, इसलिये मुस्लिम लीग को काग्रेस की किसी ऐसी नीति मे शामिल नही होना चाहिये जो कि सविधान को तोडने का काम करती हो।[107] मुस्लिम लीग और काग्रेस के बीच शत्रुवत व्यवहार जून 1937 मे अपने चरम पर पहुॅचा, जब झासी हमीरपुर, उरई क्षेत्र मे उपचुनाव होने वाला था। जिन्ना ने इस चुनाव मे इस्लाम धर्म का राजनीतिक दुरुपयोग किया।

1937 के अपने अध्यक्षीय भाषण मे जिन्ना ने काग्रेस के विरुद्ध एक तरह से युद्ध की घोषणा कर दी। उनके भाषण मे काग्रेस को हिन्दुओ का सगठन एव प्रान्तीय काग्रेस सरकारो को हिन्दू राज की सज्ञा दी गयी। जिन्ना ने यह आरोप लगाया कि काग्रेस पूरी तरह से हिन्दूवादी नीति का अनुसरण कर रही है। अपने आरोप को पुष्ट करते हुये उन्होने हिन्दी, वन्देमातरम् और राष्ट्रीय झण्डा जैसे मुद्दो को उठाया। उन्होने कहा कि थोडी सी शक्ति और उत्तरदायित्व मिलने पर बहुसख्यक समुदाय ने यह दिखा दिया है कि हिन्दुस्तान हिन्दुओ के लिये है।[108] बाद मे यही मुस्लिम लीग के पीरपुर रिपोर्ट का आधार बना, जिसमे काग्रेस सरकार के कार्यकलापो पर मुसलमानो की सामूहिक नाराजगी को व्यक्त किया गया। यह रिपोर्ट बहुत हद तक बढा चढा कर प्रस्तुत की गयी थी, लेकिन यह भी मानना पडेगा कि मुसलमानो को मुस्लिम लीग के पक्ष मे लामबन्द करने मे इसकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने पर काग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से सहयोग करने से मना कर दिया क्योकि भारत को काग्रेस की सहमति के बिना ही युद्ध मे झोक दिया गया था। अपना विरोध दिखाने के लिये काग्रेस ने अपनी प्रान्तीय सरकारो को अक्टूबर 1939 मे त्यागपत्र देने का निर्देश दिया। इसे मुस्लिम लीग ने मुक्ति दिवस (22 दिसम्बर 1939) के रूप मे मनाया। इसमे बाबा साहब अम्बेडकर भी सम्मिलित हुये। यह भी मुस्लिम लीग की मुसलमानो के बीच पैठ बनाने की एक चाल थी जिसमे वह

कामयाब रही। इतना ही नही दिसम्बर 1940 के अपने लाहौर अधिवेशन मे लीग ने स्पष्टत पाकिस्तान की मॉग की। लीग ने ब्रिटिश सरकार को युद्ध मे सहयोग देने का प्रस्ताव किया यदि ब्रिटिश सरकार मुसलमानो के हितो के प्रति सजग रहे। इस तरह मुस्लिम लीग का काग्रेस विरोध ब्रिटिश सरकार के लिये किसी भी प्रस्ताव मे वीटो का काम करने लगा। 29 जुलाई 1942 के अपने बम्बई अधिवेशन मे लीग ने प्रस्ताव पारित कर मुसलमानो से भारत छोडो आन्दोलन का प्रबल विरोध करने की अपील की। यद्यपि कि बहुत से मुसलमानो ने व्यक्तिगत रूप से आन्दोलन मे हिस्सेदारी की। फिर भी यह मानना पडेगा कि मुस्लिम लीग और काग्रेस के बीच दूरी घटने के बजाय, लगातार बढती जा रही थी, जिसको पाटने की सभावना उत्तरोत्तर कम होती जा रही थी। इसके बाद 1944 मे सी राजगोपालाचारी द्वारा प्रतिपादित फार्मूला सामने आया जिसमे सिद्धान्त रूप मे पाकिस्तान को स्वीकार कर लिया गया था किन्तु इस आधार पर गॉधी एव जिन्ना के बीच हुई वार्ता असफल हुई।

राजगोपालाचारी ने यह तर्क दिया था कि पाकिस्तान की मॉग भयावह नही है। इन प्रस्तावो के आधार पर यदि बातचीत सफल हो जाती तो बगाल एव पजाब मे जो हिन्दू बहुल क्षेत्र थे वे अलग हो जाते और मुसलमानो को उन्ही क्षेत्रो मे आत्मनिर्णय का सिद्धान्त दिया जाता, जहॉ वे बहुसख्यक थे। सिखो को भी भारत मे ही रहने दिया जाता। इस फार्मूले के तहत सुझाये गये प्रावधान विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद ही लागू होते। इसके द्वारा यह कहा जा सकता है कि जिन्ना को पाकिस्तान के सम्बन्ध मे अपने विचार को और स्पष्ट करने का मौका दिया गया। जिन्ना के लिये भारत की समस्या का एकमात्र निदान या हल भारत के विभाजन पाकिस्तान या हिन्दुस्तान मे निहित था। दूसरी ओर गॉधी का यह दृढ मत था कि मुसलमान एक राष्ट्र नही है। मात्र इस्लाम धर्म के आधार पर उन्होने यह तर्क दिया कि क्या दोनो राष्ट्र एक हो जायेगे, यदि भारत के सभी लोग इस्लाम धर्म को स्वीकार कर ले। भारत के बहुसख्यक मुसलमान वास्तव मे धर्मान्तरित है। इसलिये भी उन्हे अलग राष्ट्र के रूप मे नही देखा जा सकता।

गॉधी–जिन्ना वार्ता की असफलता से पंजाब यूनियनिस्ट पार्टी, सिख समुदाय और हिन्दू महासभा के लोग प्रसन्न हुये। लेकिन लीग से सम्बन्ध रखने वाले भी खुश थे, क्योकि गाधी ने पाकिस्तान की मॉग को

सिद्धान्तत स्वीकार कर लिया था। गाधी–जिन्ना वार्ता ने, जिन्ना का राजनीतिक कद जो कि भारत छोडो आन्दोलन के समय से छोटा हो गया था, को एक बार फिर बढा दिया।

इसके बाद वेवल योजना के तहत भारत के सावैधानिक गतिरोध को दूर करने का प्रयास भी असफल सिद्ध हुआ, क्योकि मुस्लिम लीग ने यह मॉग की कि मुसलमानो को वायसराय की कार्यकारिणी परिषद मे नामित करने का अधिकार सिर्फ लीग को है। काग्रेस इसे कभी स्वीकार नही कर सकती थी। इसलिये यह योजना भी असफल हुई और जिन्ना ने एक बार फिर मुस्लिम साम्प्रदायिकता का राजनीतिक उपयोग किया। इसके बाद कैबिनेट मिशन भारत आया और उसके द्वारा भारत मे सावैधानिक गतिरोध को दूर करने का प्रयास किया गया। कैबिनेट मिशन ने भारत के राजनीतिक नेताओ से गहन विचार–विमर्श के बाद अपनी योजना दी। जिसमे पाकिस्तान की मॉग को यह कहकर ठुकरा दिया गया कि यह न केवल अव्यवहारिक है बल्कि इसे स्वीकार करने से अनेक प्रशासनिक सैनिक और आर्थिक परेशानियॉ सामने आयेगी। इसके अतिरिक्त सिखो की स्थिति भी विचित्र हो जायेगी जो कि पाकिस्तान की मॉग का समर्थन नही करते थे। लेकिन दूसरी ओर ब्रिटिश प्रान्तो को इस तरह से तीन समूहो मे बॉटा गया, जिससे कि पाकिस्तान को स्वीकार करने की ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की इच्छा भी प्रकट होती थी।

काग्रेस ने शुरू मे इस योजना को अस्वीकार कर दिया और मुस्लिम लीग ने इसे स्वीकार कर लिया, लेकिन बाद मे काग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया और वायसराय ने काग्रेस को अन्तरिम सरकार बनाने को कहा। इससे जिन्ना नाराज हुये और उन्होने 29 जुलाई 1946 को मुस्लिम लीग की बैठक मे कैबिनेट मिशन योजना को अस्वीकार करने की घोषणा की। लीग ने 16 अगस्त 1946 को 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस का आयोजन करने का निश्चय किया। जिन्ना ने अपने भाषण मे साफ–साफ कहा कि अब तक मुस्लिम लीग सवैधानिक एव अहिसक नीति का पालन कर रही थी, लेकिन अब वह प्रत्यक्ष कार्यवाही करेगी जो हिसक भी हो सकती है। परिणामस्वरूप 16 अगस्त 1846 को बगाल मे नरसंहार हुआ जिसमे करीब चार हजार लोगो की जाने गयीं जिसे 'ग्रेट कलकत्ता किलिग' के नाम से जाना गया। इसके बाद साम्प्रदायिक दगा बगाल के अधिकाश भागो जैसे नोआखली, टिपेरा आदि में भडक उठा। इन साम्प्रदायिक दगो

का प्रभाव पहले बिहार मे और उसके बाद सयुक्त प्रान्त, बम्बई और अन्त मे पजाब मे मार्च 1947 मे पडा। इन दगो ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत का धार्मिक विभाजन अब नही रोका जा सकता है। वास्तव मे ये दगे विभाजन के लिये ही थे। इस राजनीतिक विवशता को काग्रेस ने समझा और बाद मे जब माउण्टबेटेन गवर्नर जनरल होकर भारत आया और 3 जून 1947 को भारतीय नेताओ के समक्ष विभाजन की योजना रखी तो काग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया। मुस्लिम लीग ने भी इस योजना को स्वीकार किया यद्यपि कि पजाब एव बगाल का बडा भूभाग इस योजना मे सार्वभौम पाकिस्तान के अन्तर्गत नही आता था।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दशक मे पूर्वी उत्तर प्रदेश मे साम्प्रदायिकता का विकास गोरक्षा आन्दोलन से पूरी तरह से जुडा हुआ था। यद्यपि 1880 के दशक मे गोरक्षा आन्दोलन का मुख्य केन्द्र पंजाब एव मध्य प्रान्त था। इस आन्दोलन का सबसे गहरा प्रभाव भोजपुरी भाषी क्षेत्रो मे ज्यादा देखने को मिलता है। यह प्रभाव पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ बलिया और गाजीपुर जिलो मे अत्यधिक था और बिहार के सारन एव शाहाबाद जिलो मे यह उतना ही प्रभावकारी था। पूर्वी उत्तर प्रदेश मे गोरक्षा आन्दोलन अन्तत भीषण साम्प्रदायिक दगे के रूप मे 1893 मे परिणत होता है जो कि बकरीद के अवसर पर हुआ। मऊनाथ भजन जो तत्कालीन आजमगढ जिले मे था, इस दगे का प्रमुख केन्द्र बना। इस क्षेत्र तथा आस–पास के हिन्दुओ ने भारी सख्या मे एकत्र होकर मुसलमानो के ऊपर आक्रमण किया।

फ्रासिस राबिन्सन ने लिखा है कि गोरक्षा आन्दोलन उत्तर प्रदेश मे पजाब से 1886 मे आया, जबकि उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि गाय एक वस्तु नही है और इसलिये मुसलमानो द्वारा गायो की हत्या कानून के दायरे मे नही आता है। उन्होने आगे लिखा है कि बाद मे इस आन्दोलन का प्रभाव शहरो मे हिन्दू हितो की रक्षा के लिये हुआ और इसका गहरा प्रभाव पडा क्योकि उत्तर प्रदेश की शहरी जनसख्या मे मुसलमानो की जनसख्या का अनुपात दो–तिहाई था। इसलिये उग्र हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन के उग्र समर्थक भी शहरो मे ही केन्द्रित थे।[109] जान मैकनेल गोरक्षा आन्दोलन का विश्लेषण करते हुये लिखते हैं कि गोरक्षा आन्दोलन और 1892 के विधान परिषद सुधार कानून के ऊपर काग्रेस और मुसलमानो मे असहमति के कारण साम्प्रदायिक दगे हुये। उनका कहना है कि 1893

के बाद जन भावना बहुत विस्तृत नही थी और हिन्दू नेताओ का यह मानना था कि मुसलमानो का अलगाव किसी भी सभावित लाभ के लिये बहुत भारी कीमत थी।[110] ज्ञान पाण्डेय का तर्क है कि 1892 का अधिनियम और कुछ हिन्दू नेताओ की इच्छा इतने बडे आन्दोलन या इसके बिखराव के लिये बहुत ही सकीर्ण कारण था।[111]

इससे यह स्पष्टत देखा जा सकता है कि औपनिवेशिक शासन के दौरान अधिकाधिक सुविधाओ की प्राप्ति की होड मे साम्प्रदायिक भावनाओ का सहारा लिया गया। इसके पीछे अभिजातवर्ग की अपनी स्थिति को बनाये रखने की कोशिश भी स्पष्टत दिखायी देती है, जिसने ब्रिटिश शासन को यह मौका दिया कि वह अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए अपने स्वार्थो के अनुरूप ऐसे वर्गो का उपयोग करे और ब्रिटिश शासन ने अपनी नीतियो के द्वारा समय–समय पर ऐसी ही किया। लेकिन बाद मे यह देखने को मिलता है कि जैसे–जैसे राजनीतिक चेतना बढती गयी जनसामान्य की भागीदारी बढती गयी और नेतृत्व वर्ग द्वारा उनकी भावनाओ को धार्मिक आधार पर और अधिक तीव्रता से उभारा जाने लगा और यह प्रचार काफी तीव्रता से किया जाने लगा कि उनके हित धार्मिक आधार पर सगठित रहने पर ही सुरक्षित रह सकेगे।

सन्दर्भ

1 पाण्डेय ज्ञान द कन्स्ट्रक्शन आफ कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली 1995

2 सरकार सुमित, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1992, पृ 81.

3 कूपलैण्ड आर, कॉस्टीट्यूशनल प्राब्लम इन इडिया, लदन, 1944, पृ 29.

4 सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ 82

5 कैशमेन आर, द मिथ आफ द लोकमान्य, पृ 78, सुमित सरकार की आधुनिक भारत मे, पृ 83

6 हाली, 'हयात ए जवायद', हसन के एजूकेशनल मूवमेट मे उद्धृत, पृ 69

7 न्यायमूर्ति शाहदीन ने 1904 मे अपना आकलन दिया, जो कि जे एम एस बलजान जूनियर के द रिफार्म एण्ड द रिलीजियस आइडियाज आफ सर सैयद खान मे उद्धृत, लीडेन, 1949, पृ 48

8 राबिन्सन फ्रासिस, सेप्रेटिज्म एमॅग इडियन मुस्लिम्स द पालिटिक्स आफ द यूनाइटेड प्राविन्सेज मुस्लिम्स 1860–1923, लन्दन, 1974, पृ 90

9 ग्राहम, लाइफ एण्ड वर्क आफ सर सैयद अहमद खान, के सी एस आई, न्यू एण्ड रिवाइज एडीशन, लन्दन 1909, पृ 48, फ्रासिस राबिन्सन के सेप्रेटिज्म एमॅग मे उद्धृत पृ 91

10 वही, पृ 28

11 वही, पृ 91

12 यह वक्तव्य हाली के 'हयात ए जवायद' मे उद्धृत है। विस्तृत व्याख्या के लिये हसन का एजूकेशनल मूवमेट, पृ 88–89

13 सैयद अहमद का भाषण गाजीपुर साइन्टिफिक सोसाइटी के उद्घाटन अवसर पर 9 जनवरी 1864 को दिया गया। ग्राहम के पृ 53 पर उद्धृत है।

14 हसन की वही पुस्तक, पृ 88–89.

15 हण्टर, डब्ल्यू, डब्ल्यू, इण्डियन मुसलमान्स, दिल्ली, 1969, पुनर्मुद्रित, सुमित सरकार के आधुनिक भारत मे उद्धृत, पृ 100

16 राबिन्सन फ्रासिस, वही पुस्तक, पृ 131

17 हार्डी पीटर, मुस्लिम्स आफ ब्रिटिश इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1972, पृ 58

18 विस्तृत के लिये जमालुद्दीन अफगानी के ए रिफ्यूटेशन आफ द मेटेरियलिस्ट्स, 1882.

19 ब्रास पाल आर, लैग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1974, पृ 130

20 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 134

21 वही, पृ 135.

22 एकराम एस एस, माडर्न मुस्लिम इडिया एण्ड द बर्थ आफ पाकिस्तान 1858—1951 द्वितीय सस्करण, लाहौर, 1965, पृ 86

23 गुलाम उस सकलेन का लार्ड कर्जन के नाम खुला पत्र, जो पजाब आब्जर्बर (लाहौर) 16 मई 1900 के अक मे प्रकाशित और हमीद अली खान के द वर्नाकुलर कन्ट्रोवर्सी मे उद्धृत, पृ 45

24 अलीगढ इन्स्टीट्यूट गजट, 19 सितम्बर 1901, एम एस जैन के अलीगढ मूवमेन्ट्स वर्जिन एण्ड डेवलपमेट 1858—1906, आगरा, 1965, पृ 149

25 नवाब विकार उल मुल्क का पायोनियर के सम्पादक के नाम पत्र, अगस्त 1903 जो कि लखनऊ से प्रकाशित एडवोकेट मे 22 अगस्त 1903 को उद्धृत।

26 वही

27 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 117.

28 फिलिप सी एच द्वारा सम्पादित इवाल्यूशन आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान 1858—1947, सेलेक्टेड डाक्यूमेट्स, लदन, 1872, पृ 185

29 राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ 141.

30 सेन्ट्रल इन्टेलीजेन्स के निदेशक की साप्ताहिक रिपोर्ट 24 अगस्त 1907, राबिन्सन एफ., के सेप्रेटिज्म एमॅग ... मे उद्धृत, पृ 142.

31 इंडियन पीपुल, इलाहाबाद, 24 अगस्त 1906.

32 मोहसिन उल मुल्क द्वारा आर्चबोल्ड को लिखा पत्र 4 अगस्त 1906 राबिन्सन एफ के सेप्रेटिज्म एमॅग मे, पृ 143

33 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 144

34 सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ 170

35 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 144.

36 सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ 170

37 होम डिपार्टमेट, पब्लिक डिपाजिट, मई 1918, फाइल सख्या 285.

38 वही

39 वही

40 उ प्र राज्य अभिलेखागार जनरल एडमिनेस्ट्रेशन डिपार्टमेट, फाइल सख्या 140/1916.

41 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 350.

42 उ प्र राज्य अभिलेखागार, जीएडी फाइल सख्या 140/1917

43 यूनाइटेड प्राविन्सेज नेटिव न्यूज पेपर्स रिपोर्ट, इण्डियन डेली टेलीग्राफ, 5 अक्टूबर 1916

44 उ प्र राज्य अभिलेखागार, जीएडी फाइल सख्या 140/1917.

45 लीडर, इलाहाबाद, 18 सितम्बर 1917

46 लीडर, इलाहाबाद, 15 नवम्बर 1917

47 लीडर, इलाहाबाद, 4 नवम्बर 1917.

48 एन इण्डियन डायरी, खण्ड 2 पृ 72 माण्टेग्यू पेपर्स, 39.

49 ट्रिब्यून, 10 अगस्त 1918, सर्चलाइट 15 अगस्त 1918.

50 अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के अधिवेशन मे स्वागत समिति के अध्यक्ष डा मुख्तार अहमद असारी का भाषण, दिसम्बर 1918, होम पोलिटिकल, ए, मार्च 1919, फाइल सख्या 251–9.

51 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 290.

52 वही, पृ 289.

53 वही

54 वही

32 मोहसिन उल मुल्क द्वारा आर्चबोल्ड को लिखा पत्र 4 अगस्त 1906, राबिन्सन एफ के सेप्रेटिज्म एमॅग मे, पृ 143

33 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 144

34 सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ 170.

35 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 144.

36 सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ 170.

37 होम डिपार्टमेट, पब्लिक डिपाजिट, मई 1918, फाइल सख्या 285.

38 वही

39 वही

40 उ प्र राज्य अभिलेखागार जनरल एडमिनेस्ट्रेशन डिपार्टमेट, फाइल सख्या 140/1916

41 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 350

42 उ प्र राज्य अभिलेखागार, जीएडी फाइल सख्या 140/1917

43 यूनाइटेड प्राविन्सेज, नेटिव न्यूज पेपर्स रिपोर्ट, इण्डियन डेली टेलीग्राफ, 5 अक्टूबर 1916

44 उ प्र राज्य अभिलेखागार, जीएडी फाइल सख्या 140/1917

45 लीडर, इलाहाबाद, 18 सितम्बर 1917

46 लीडर, इलाहाबाद, 15 नवम्बर 1917

47 लीडर, इलाहाबाद, 4 नवम्बर 1917.

48 एन इण्डियन डायरी, खण्ड 2 पृ 72 माण्टेग्यू पेपर्स, 39

49 ट्रिब्यून, 10 अगस्त 1918, सर्चलाइट 15 अगस्त 1918

50 अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के अधिवेशन मे स्वागत समिति के अध्यक्ष डा मुख्तार अहमद असारी का भाषण, दिसम्बर 1918, होम पोलिटिकल, ए, मार्च 1919, फाइल सख्या 251–9.

51 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 290.

52 वही, पृ 289.

53 वही

54 वही

55 इण्डिपेण्डेन्ट, 12 अक्टूबर 1919.

56 होम पोलिटिकल, बी, अक्टूबर 1919, फाइल सख्या 360—63.

57 वही

58 वही

59 फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, यूपी, अक्टूबर 1919, द्वितीय पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, नवम्बर 1919, फाइल सख्या 16

60 फोर्टनाइटली रिपोर्ट, यूपी, मई 1920, प्रथम पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, जुलाई 1920, फाइल सख्या 94.

61 फोर्टनाइटली रिपोर्ट, यूपी मई 1920, द्वितीय पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, जुलाई 1920, फाइल सख्या 95.

62 होम पोलिटिकल, बी, जुलाई 1920, फाइल सख्या 109

63 होम पोलिटिकल, बी, जुलाई 1920, फाइल सख्या 109

64 वही

65 वही

66 वही

67 फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, यूपी जून 1920, प्रथम पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, जुलाई 1920, फाइल सख्या 96

68 वही

69 वही

70 होम पोलिटिकल, बी, जुलाई 1920, फाइल सख्या 109

71 वही

72 सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ 270.

73 वही, पृ 271.

74 वही

75 होम पोलिटिकल, फाइल सख्या 1/1928, फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, द्वितीय पक्ष, जनवरी 1928.

76 वही

77 नेटिव न्यूजपेपर्स रिपोर्ट 11 फरवरी, 1828 को समाप्त होने वाले सप्ताह के लिये आज तथा लीडर पत्रो की राय।

78 आज, बनारस 30 मार्च

79 होम पोलिटिकल, फाइल सख्या 1/1928, फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, प्रथम पक्ष, नवम्बर 1928.

80 देसाई ए आर , भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन, 1976, पृ 330

81 लीडर, इलाहाबाद, 2 अप्रैल 1929.

82 आज, बनारस, 3 अप्रैल 1929

83 आज, बनारस, 3 अप्रैल 1929.

84 लीडर, इलाहाबाद, 30 जुलाई 1929

85 लीडर, इलाहाबाद, 30 जुलाई 1929

86 लीडर, इलाहाबाद, 3 अप्रैल 1929.

87 होम पोलिटिकल, फाइल सख्या 23/66/1932

88 ग्वेयर एम एण्ड अप्पादुरई ए (सपा), स्पीचेज एण्ड, डाक्यूमेट्स आन द इडियन कॉस्टीट्यूशन (1921–27) भाग 1, आक्सफोर्ड, पृ 386

89 वही, पृ 385

90 वही, पृ 384–85

91 सिह अनीता इन्दर, द वर्जिन्स आफ द पार्टीशन आफ इण्डिया (1936–47) आक्सफोर्ड, 1995, पृ 2

92 वही, पृ 1–2.

93 जैदी जेड एच , मुस्लिम पालिटिक्स, पृ 248–49

94 हग द्वारा लिनलिथगो को 21 मई 1836 को लिखा पत्र, हग करेसपाडेस खण्ड 5, अनीता इन्दर सिह की पुस्तक मे उद्धृत, पृ 6

95 पीरजादा एस एस (सपा), फाउण्डेशन आफ पाकिस्तान आल इण्डिया मुस्लिम लीग डाक्यूमेट्स, खण्ड–2, करॉची, 1970, पृ 235

96 वही, पृ 248–49.

97 सिह अनीता इन्दर, वही पुस्तक पृ 7–8.

98 सेलेक्टेड वर्क्स आफ नेहरू खण्ड 7, पृ 460.

99 वही, पृ 598—614, नेहरू का फैजपुर मे अध्यक्षीय भाषण

100 बाम्बे क्रानिकल, 4 जनवरी 1937, अनीता इन्दर सिह की पुस्तक मे उद्धृत, पृ 9

101 सेलेक्टेड वर्क्स आफ नेहरू, खण्ड 7, पृ 460.

102 सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ 393

103 लीडर, इलाहाबाद, 1 मई 1937.

104 लीडर, इलाहाबाद, 12 मई 1937

105 नेहरू द्वारा पन्त को लिखा 30 मार्च 1937 का पत्र ए आई सी सी फाइल स ई—1, 1936—37, पृ 7

106 लीडर, इलाहाबाद, 10 मई 1937.

107 वही

108 पीरजादा एस एस, वही पुस्तक, पृ 267—68

109 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 78—79

110 मैकनेल जे आर, इण्डियन नेशनलिज्म एण्ड अर्ली कांग्रेस, प्रिस्टन, 1977, पृ 273.

111 पाण्डेय ज्ञान, रैलिग राउण्ड द काऊ सेक्टेरियन स्ट्राइब्स इन द भोजपुरी रीजन, 1888—1977, सब अल्टर्न स्टडीज, खण्ड—दो पृ 62

अध्याय—3

समकालीन प्रादेशिक साहित्य में साम्प्रदायिकता का निरूपण

राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा वैचारिक मथन के लिये विशेष रूप से अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित की गयी। पराधीनता के प्रति गहरे भावात्मक सरोकार की भावात्मक उत्तेजना और परिवर्तन के प्रति बलवती इच्छा ने मानसिक खुलेपन की पृष्ठभूमि तैयार की। उन्नीसवी शताब्दी के सामाजिक सुधार और पुनरुत्थान आन्दोलनो से बीसवी शताब्दी का साहित्य भी अछूता नही रहा, क्योकि यह भारतीयता के स्वाभिमान एव गौरव के उदय का समय था। स्वाभाविक था कि साहित्यकार भी अतीत की विस्मृति से उन सास्कृतिक एव धार्मिक तत्वो की सहज तलाश कर रहे थे, जिनसे कि इस भावना को और अधिक पुष्ट किया जा सके।

इसी क्रम मे धर्म एव साम्प्रदायिकता को लेकर समाज की स्थिति के प्रति उत्तर प्रदेश के हिन्दी साहित्यकार भी सचेत थे और इससे सम्बन्धित मुद्दो से बराबर सवाद स्थापित कर रहे थे। धर्म और साम्प्रदायिकता को लेकर समाज मे विवाद के जो बिन्दु थे, या अतीत से चले आ रहे प्रतीको, आख्यानो का जो उपयोग इस सन्दर्भ मे हो रहा था, साहित्यकारो द्वारा उन्हे अपनी रचना मे स्थान दिया जा रहा था। यह सब सहज अभिव्यक्ति के रूप मे हो रहा था, न कि साम्प्रदायिकता को बढावा देने के लिये क्योकि साहित्यकारो द्वारा धर्म मे व्याप्त पाखण्ड, ढोग और उसकी साम्प्रदायिक अभिव्यक्ति की आलोचना भी की जा रही थी। साम्प्रदायिक फूट को समाप्त कर एकता का प्रयास भी उनके साहित्य द्वारा हो रहा था, साथ ही उसके लिए अपनी खुद की जवाबदेही और ब्रिटिश नीतियो द्वारा वैमनस्य को बढावा देने की प्रवृत्ति का भी पर्दाफाश किया जा रहा था।

इन्ही बिन्दुओ के परिप्रेक्ष्य मे उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो से सम्बन्धित प्रमुख रचनाकारो के साहित्य मे विद्यमान सरोकारो को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

आधुनिक हिन्दी के सर्जक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का रचना ससार बहुआयामी है। साहित्य की कोई विधा उनकी लेखनी से अछूती नही रही। ऐसे

युगपुरुष के कर्तृत्व का विवेचन एक दुरूह कार्य है। इसके लिये भारतेन्दु की रचनाओ के साथ ही उनकी व्यक्तिगत एव वैचारिक पृष्ठभूमि का अवलोकन भी आवश्यक है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850–85) इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द की वश परम्परा मे उत्पन्न हुये थे।[1] भारतेन्दु जी के पिता गोपाल चन्द्र उपनाम गिरधरदास एक सत्कवि हो गये हैं। भारतेन्दु के हिन्दी, फारसी और अग्रेजी के प्रथम शिक्षक, ईश्वरी दत्त तिवारी, मौलवी ताज अली और बापू नन्दकिशोर थे। इन्होने कुछ दिन क्वींस कालेज बनारस मे शिक्षा पायी। इन्होने मराठी, बगला, गुजराती, मारवाडी आदि अनेक भाषाये समय–समय पर स्वय पढ ली। इनके काव्य गुरु प लोकनाथ जी थे 14 वर्ष की अवस्था मे बाबू गुलाब राय की कन्या मन्नो देवी से इनका विवाह हुआ, इनमे स्वेदश प्रेम की मात्रा विशेष थी। इनके काव्यो और कार्यों से स्वदेश प्रेम के सैकडो उदाहरण मिल सकते हैं।[2] भारतेन्दु के आविर्भाव के समय देश का राजनीतिक क्षितिज आर्थिक धुँधलका और सामाजिक रूढि अन्धता की छटपटाहट का परिणाम था। भारतेन्दु और उनका प्रभामण्डल जिसने उस व्यग्रता को वाणी दी थी, तत्कालीन राजनीतिक समझ और राजनीतिक चेतना को स्वर दिया था और जातीय स्तर पर घर कर गये पराधीनता बोध को झकझोरा था।[3]

भारतेन्दु का व्यक्तित्व विविधताओ से भरा हुआ था। कवि होने के साथ–साथ भारतेन्दु पत्रकार भी थे। "कवि वचन सुधा" और "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" उनके सम्पादन मे प्रकाशित होने वाली प्रसिद्ध पत्रिकाये थी।[4] उनके बारे मे डॉ नगेन्द्र लिखते है – "वे राजभक्त होते हुए भी देशभक्त थे।"[5] एक ही साथ वे राजभक्ति और देशभक्ति दोनो का निर्वाह करते दिखायी पडते है। एक ही छन्द की पहली पक्ति मे वे क्राउन के वफादार दिखायी पडते है, तो दूसरी पक्ति मे देश की आर्थिक स्थिति उन्हे सताती है – अग्रेज राज सुख साज, सबै विधि भारी/पै धन विदेश चलि जाति इहै अति ख्वारी।[6]

भारतेन्दु का सम्बन्ध समकालीन राष्ट्रीय राजनीतिज्ञो एव समाज सुधारको से भी रहा। 'सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने जब नेशनल फण्ड खोला और काशी पधारे तब भारतेन्दु ने उनकी सहायता की और एक जलसे मे उनका सत्कार भी किया।[7] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र धार्मिक प्रवृत्ति के थे – "वे परम वैष्णव थे, पर वैष्णवता की व्याख्या उन्होने धार्मिक कूप मण्डूकता से बाहर निकल कर की थी . वैष्णव धर्म को प्राकृत धर्म से जोडकर भारतेन्दु ने पूरी वैष्णव अवधारणा को नया आयाम दिया। उसकी अनेक बन्द खिडकियाँ खोली। ताजी हवा मे वैष्णव धर्म ने साँस ली और एक ऐसी वैष्णवता तैयार हुई, जो गाँधी जी

को भी रारा आयी।"[8] बाबू साहब का धर्म परम वैष्णव था उनके सिद्धान्त मे परम धर्म भगवत्प्रेम था सत्य अहिसा, दया शील, नम्रता और चरित्र को भी धर्म मानते थे, वह सब जगह को ब्रह्ममय और सत्य मानते थे।[9]

भारतेन्दु के समय की परिस्थितियो मे इस पक्ष का विवेचन आवश्यक हो जाता है कि साम्राज्यिक दबावो के बावजूद रचनाकार राष्ट्रभक्ति की बात कैसे कर पाता था। भारतेन्दु के रचना कर्तृत्व से इसे समझा जा सकता है। भारतेन्दु अपने लोकप्रिय भाषण' भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है, मे कहते हैं – "अग्रेजो के राज्य मे सब प्रकार का सामान पाकर अवसर पाकर भी हम लोग इस समय पर उन्नति न करे तो हमारा केवल अभाग्य और परमेश्वर का कोप ही है।"[10] भारतेन्दु यह भी कहते हैं – "सन् 1857 के विद्रोह की घटना भविष्य मे अग्रेजो एव भारतवर्ष के पारस्परिक सम्बन्ध के लिये घातक हुई।"[11] लेकिन वे इस बात पर बल देते हैं कि – "जब महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र पढा गया, लार्ड लिटन के दरबार मे भारत के राजा महाराजाओ ने विक्टोरिया को साम्राज्ञी स्वीकार किया, इडियन कौंसिल एक्ट, हाईकोर्ट एक्ट, स्वायत्त शासन एक्ट आदि के साथ ही सडको, रेलो, तार–डाक विभाग आदि की स्थापना से देश मे एक सूत्रता स्थापित हुई थी और औद्योगिक तथा वैज्ञानिक उन्नति मे बहुत सहायता मिली।"[12] इस सन्दर्भ मे शभूनाथ जोशी का कथन महत्वपूर्ण है – "अपनी ग्यारह वर्ष की उम्र मे जब उन्होने महारानी विक्टोरिया की मृत्यु पर "अन्तर्दीपिका" (1861) लिखी, वे पारम्परिक राजभक्ति से आक्रान्त थे। उन्नीस वर्ष की उम्र मे ड्यूक आफ एडिनबरा के भारत आगमन पर "श्री राजकुमार स्वागत पत्र" लिखा तथा इसके एक साल बाद उनके काशी आने पर सुमनोञ्जलि अर्पित की, इनमे भी प्रचीन सस्कार हावी थे।"[13] इसी तरह की राजभक्ति का परिचय अन्यत्र भी मिलता है। 1884 मे विक्टोरिया के चतुर्थ पुत्र के मरने पर बनारस मे उन्होने टाउन हाल मे एक शोक सभा का आयोजन किया।[14] प्रिन्स आफ वेल्स के आगमन पर भारतेन्दु ने इस प्रकार अपना उद्गार व्यक्त किया – "जिमि रघुवीर आये अवध।"[15]

इसके साथ ही वे साम्राज्यवादी शोषण का खुलासा कर देश के प्रति अपने साहित्यिक कर्मो का निर्वाह भी करते हैं। भारतेन्दु 'भारत दुर्दशा" मे लिखते है – "सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई/हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।[16] इसी तरह "अन्धेर नगरी" मे कहते हैं – हिन्दू चूरन इसका नाम, विलायत पूरन इसका काम/चूरन जब से हिन्द मे आया/इसका धन–बल सभी घटाया"[17] "हिन्दुस्तान के दरिद्र होने का कारण" लेख मे साम्राज्यवादी

शोषण की इसी प्रवृत्ति को व्यक्त किया है – "रेल आदि से भी द्रव्य बढने की आशा नही है, रेलवे कम्पनी वालो ने जो द्रव्य व्यय किया है, उसका ब्याज सरकार को देना पडता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड रूपया बाहर जाता है।"[18] तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो मे राज के प्रति पक्षधरता आम बात थी। प्राय राजनीतिज्ञ भी इसी भावना को व्यक्त कर रहे थे – "रक्षा, शिक्षा एव रेलो के लिहाज से तो अग्रेजी राज्य अच्छा है।"[19] शिव कुमार मिश्र इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते है – "राष्ट्रीयता की जो चिन्ता हममे आज है, उस युग मे सभव नही थी और अपने युग के अनुरूप राष्ट्रीयता की मॉग हम भारतेन्दु बाबू से ही क्यो करे जबकि उस युग के नवजागरण के विचारको मे वह उस रूप मे नही मिल पाती।"[20]

भारतेन्दु के व्यक्तित्व के इन्ही विविध पक्षो के परिप्रेक्ष्य मे, धर्म एव साम्प्रदायिकता के प्रति उनके दृष्टिकोण को समझा जा सकता है। भारतेन्दु राजभक्त एव देशभक्त दोनो थे, अत उस समय के परिवेश को दृष्टिगत रखते हुये उन्होने लिखा। इसके अतिरिक्त उनका एक परम्परागत धार्मिक रूप भी था, अत उसका भी प्रभाव उनके साहित्य पर पडा। उनकी दृष्टि धर्म के विभेद-कारी स्वरूप की ओर भी गयी तथा उनके साहित्य मे ऐसे मिथको एव प्रतीकात्मक शब्दो का प्रयाग भी हुआ, जो तत्कालीन स्थितियो मे साम्प्रदायिक कहे जा सकते है। यद्यपि कि ऐसा करना किसी भी रचनाकार का उद्देश्य नही होता और न ही भारतेन्दु का था। यह इसलिये भी पुष्ट होता है कि उन्होने अपने साहित्य मे सौहार्द, समन्वय एव एकता स्थापित करने की बात भी कही।

भारतेन्दु भारत के गौरवशाली अतीत के ऊपर गर्व करते है क्योकि वर्तमान राजनीतिक दशा से वे क्षुब्ध ही नही थे, बल्कि इसके लिये उत्तरदायी कारणो को भी अच्छी तरह जान रहे थे। इसलिये जहॉ वे उस अतीत गौरव का स्मरण यह कह कर करते हैं – "कहॉ गये विक्रम, भोज, राम, बलि कर्ण, युधिष्ठिर / चन्द्रगुप्त, चाणक्य कहॉ नासे करिकै थिर / कहॅ क्षत्री सब मरे जरे, सब गये कितै गिर रक्षहु अपनो आर्यमग"[21] वही इसके लिये उत्तरदायी कारण 'आपसी कलह" को मानते हैं तथा मुस्लिम शासन के विनाशकारी रूप की ओर सकेत भी करते हैं – पृथ्वीराज, जयचन्द कलह करि जवन बुलाये / तिमिर लग चगेज आदि बहु नरन कटायो / अलादीन, औरगजेब मिलि धरम नसायो / विषय वासना दुसह मुहम्मद सह फैलायो" ।[22] आपसी फूट का सकेत "हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान" कविता मे भी करते है – "लखहु एक कैसे सबै मुसलमान क्रिस्तान / हाय फूटि इक हमहि मे कारन परत न जान।"[23]

भारत दुर्दशा' नाटक मे भी इस फूट की ओर सकेत किया गया है — "करि कलह बुलाई जवन सैन भारी।"[24] इसी नाटक मे 'सत्यानाश फौजदार" से कहलाते है — "होके जयचन्द हमने एक बार/खोल ही दिया हिन्द का द्वार/हलाकू चगेजो तैमूर/हमारे अदना—अदना सूर/दुरानी अहमद नादिर शाह/फौज के मेरे तुच्छ सिपाह।"[25] इसी नाटक मे सत्यानाश फौजदार के माध्यम से कहते हैं — "फिर अन्त मे भिन्नता आयी, इसने ऐसा सबको काई की तरह फाडा कि भाषा, धर्म, चाल, व्यवहार, खाना—पीना सब एक—एक योजन पर अलग कर दिया।"[26] इसी तरह "अँधेर नगरी" नाटक मे "जैसे काजी वैसे पाजी/ रैयत राजी टका सेर भाजी/ले हिन्दूस्तान का मेवा फूट और वैर"[27] कहकर न केवल समकालीन स्थितियो मे साम्राज्यवादी शासन की विभेदकारी नीतियो की ओर सकेत किया है, अपितु अतीत से चली आ रही इस प्रवृत्ति को प्रमाणित भी किया है।

मध्यकाल मे मुस्लिम शासन की स्थापना एव लम्बे शासन के बाद भी हिन्दू उन्हे अपना शासक नही मानते और विदेशी ही समझते हैं क्योकि उनके मन मे कही न कही उनके धर्म विरुद्ध एव अत्याचारी कार्यों की स्मृति बनी हुई थी — 'जेहि दल मल्यो प्रबल दल लेके बहुविधि जवन नरेश/नास्यो धरम—करम सबहिन के मारि उजार्यो देश/पृथ्वीराज के मरे लख्यो सो सुख कबहूँ नैन जदपि जवन गन राज कियो इतही बसिकै सहसाज/पै तिनकौ निज करि नहि जान्यो कबहूँ हिन्द समाज/अकबर करिकै बुद्धिमता कुछ सो मेट्यो सदेह औरहु औरगजेब दिहो दुख सब विधि परम नसाय।[28] मुसलमानो को परदेशी मानने की प्रवृत्ति 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान" कविता मे भी है — "मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहि काम/परदेसी जुलहान को मानहु भयो गुलाम।[29]

मध्ययुगीन सघर्ष एव हिन्दुओ की दुरावस्था का चित्रण भारतेन्दु अपने साहित्य मे करते हैं — "छाई अँधियारी सूझत नहि राह कहुँ हिन्दू के नैन नीर निस दिन बरसावै।"[30] 'भारत जननी' नाटक मे लिखते है — "इतर पदार्थो की गणना, मेरे शरीर का अब रक्त भी शेष नही। यवन सब चूस ले गये।[31] यहॉ सकेत साम्राज्यवादी शोषण की ओर भी है। 'नीलदेवी" नाटक मे हिन्दू—मुस्लिम सघर्ष का स्पष्ट चित्रण किया गया है। इसमे पजाब प्रान्त के शासक सूर्यदेव एव दिल्ली बादशाह के सिपहसालार अब्दुश्शरीफ के बीच सघर्ष से तत्कालीन विद्वेष पूर्ण स्थिति का पता चलता है — "अब्दुश्शरीफ — यहॉ के राजपूत बडे काफिर है। इन कम्बख्तो से खुदा बचाये कभी उस बेईमान से सामने लडकर

फतह नही मिल सकती   अगर खुदा को इस्लाम की रोशनी का जिल्बा हिन्दोस्तान जुल्मत निशान मे दिखाना मजूर है, तो बेशक मेरी मुराद बर जायेगी।'[32] इसी नाटक मे कहते है – "काफिर है पजाब का सरदार खबरदार।"[33] यहॉ भी आपसी फूट का सकेत करते है – 'निज हरि सो ह्वैहै बिमुख भारत भुववासी   तुरकन हित करि हैं हिन्दू सग लराई/यवनन के चरनन रहिहैं सीस चढाई।'[34] लेकिन इस नाटक मे हिन्दुओ की विजय दिखाते है – "कुमार सोमदेव राजपूतो के साथ आते हैं, मुसलमानो को बॉधते और मारते हैं, क्षत्रिय लोग भारत वर्ष की जय, आर्य कुल की जय",[35] का घोष करते हैं।

मुस्लिम शासन की स्थापना के परिणाम स्वरूप शुरू हुई धर्मान्तरण की प्रक्रिया का भी भारतेन्दु ने उल्लेख किया है – "टके के वास्ते ब्राहमण से मुसलमान/टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान/टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनो बेचे।'[36] व्यक्तिगत रूप से भारतेन्दु ने भी यह प्रयास किया था – "अलीजान वेश्या से भारतेन्दु का लगाव था   कभी हिन्दू थी। भारतेन्दु ने उसका शुद्धीकरण कर हिन्दू बना उसका नाम माधवी रखा।'[37]

मुस्लिम शासन के दौरान धर्म के नाम पर जो तोड–फोड एव विग्रहवादी भावनाओ का प्रसार हो रहा था, उसके परिणामस्वरूप हिन्दुओ के भीतर जो पीडा उत्पन्न हो रही थी, भारतेन्दु ने उसे भी स्वर दिया – "जहॉ बिसेसर सोमनाथ माधव के मदिर/तहॅ महजिद बन गयी होत अब अल्लह अकबर।"[38] 'सरयूपार की यात्रा' नामक यात्रावृतान्त मे लिखते हैं – "यह वही अयोध्या है, जो भारतवर्ष मे सबसे पहले राजधानी बनायी गयी थी   सारे ससार के राज लोग इसी अयोध्या की कृपाण से किसी दिन दबते थे, वही अयोध्या अब देखी नही जाती। जहॉ देखो मुसलमानो की कब्रे दिखायी देती है।"[39] इसकी तुलना मे अग्रेजी शासन के धार्मिक दृष्टिकोण को उदार मानते है। 'श्री राजकुमार शुभागमन' कविता मे इसी भाव को व्यक्त किया है – 'जैसे आतप तपित को छाया सुखद सुहात/जवनराज के अन्त तुव आगम तिमि बरसात/मसजिद लखि बिसुनाथ ढिग परे हियो जो घाव/तापर मरहम सरिस यह तुव दरसन नर राव।'[40]

भारतेन्दु वर्तमान समय मे हिन्दू–मुस्लिम सघर्ष पर भी चिन्ता व्यक्त करते हैं – "अबकी बकरीद मे भारतवर्ष के प्राय· अनेक नगरो मे मुसलमानो ने पकाश रुप से जो गोवध किया है, इससे हिन्दुओ की सब प्रकार से जो मान

हानि हुई है वह अकथनीय है। पालिसी परतन्त्र गवर्नमेट पर हिन्दुओ की अकिचनकरता और मुसलमानो की उग्रता भली भॉति विदित है, यही कारण है कि जानबूझकर भी वह कुछ नही बोलती, किन्तु हम लोगो को जो भारतवर्ष मे हिन्दुओ के वीर्य से ही उत्पन्न है, ऐसे अवसर पर गवर्नमेट के कान खोलने का उपाय अवश्य करणीय है। भागलपुर, मिरजापुर, काशी इत्यादि कई स्थानो मे प्रकाश रूप से केवल हमारा जी दुखाने को हॉका कोठी यह अत्याचार हुआ है, जो किसी समाचार पत्र मे प्रकाश भी हुआ है। हिन्दू, उर्दू, बगाली, मराठी, अग्रेजी सब भाषा के पत्रो मे जिनके सपादक हिन्दू हो, एक बेर बडे धूम से इसका आन्दोलन होना अवश्य है, आशा है कि अपने शका भर आप इस विषय मे कोई बात उठा न रखेगे।"[41] स्पष्ट है कि भारतेन्दु न केवल इसके प्रति चिन्तित है अपितु इसके विरुद्ध आन्दोलन छेडने के लिये हिन्दुओ को सगठित करने का प्रयास भी कर रहे थे।

भारतेन्दु जी अपने युग के रचनाकारो की तरह धार्मिक मुद्दो पर भी दृष्टि डालते हैं। इस समय के रचनाकार समस्त भारतवासियो को हिन्दू मानते हैं। इस प्रकार इस परिधि मे अन्य धर्मावलम्बियो को लाकर उनके मन मे शका का बीज बो दिया गया, जो आगे चलकर साम्प्रदायिक त्रासदी को और अधिक घनीभूत करने मे सहायक हुआ। भारतेन्दु के अनुसार — "सबके पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है।"[42] बलिया के अपने प्रसिद्ध भाषण मे कहते है — "भाई हिन्दुओ ! तुम भी मत मतान्तर का आग्रह छोडो। आपस मे प्रेम बढाओ। इस महामत्र का जाप करो। जो हिन्दूस्तान मे रहे, चाहे किसी रग, किसी जाति का क्यो न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो।"[43] मुस्लिम समुदाय को इसी भाषण मे सावधान करते है — "मुसलमान भाइयो को भी उचित है कि इस हिन्दुस्तान मे बसकर वे लोग हिन्दुओ को नीचा समझना छोड दे। ठीक भाइयो की भॉति हिन्दुओ से बरताव करे। ऐसी बात जो हिन्दुओ का जी दुखाने वाली हो, न करे। अभी तक बहुतो को यही ज्ञान है कि दिल्ली, लखनऊ की बादशाहत कायम है। यारो वे दिन गये।"[44]

इसके बावजूद भारतेन्दु–साहित्य का दूसरा पक्ष भी था, जिसमे उन्होने समन्वय सौहार्द एव एकता की बात कही — "यह समय इन झगडो का नही है। हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस मे मिलिये।"[45] इतना ही नही वे हिन्दू मुसलमान का रिश्ता द्योरानी जेठानी का ही मानते थे। "वे हिन्दू–मुसलमानो को आपस मे लडाने की अग्रेजो की नीति को अच्छी तरह समझते थे। अन्त तक वे जातीय एकता के लिये प्रयत्नशील रहे। इस जातीय एकता की भावना

का आधार उनकी व्यापक राष्ट्रीयता थी, जो सर्व धर्म समभाव पर आधारित थी। किसी भी धर्म की अच्छाई को वे नजर अन्दाज नही करते थे। उन्होने कुरान का भी हिन्दी अनुवाद किया था।"[46] यही नही वे अग्रेज शासको से मुस्लिम शासको की तुलना करते हुये कहते है – "मुसलमान लोग अग्रेजो की अपेक्षा सौ गुने अपव्ययी थे, परन्तु वे लोग इस देश के निवासी थे उनके अभिव्यय से भी देशवासियो का उपकार ही होता था।"[47] इस तरह भारतेन्दु अपने हिन्दूवादी आग्रहो के बावजूद दूसरे समुदाय के प्रति सहिष्णु थे।

स्पष्ट है कि भारतेन्दु एक ऐसे युगद्रष्टा रचनाकार थे, जो अपने युग की परिस्थितियो मे घट रही घटनाओ के प्रति न केवल सचेत थे, बल्कि अतीत के इतिहास से सन्दर्भ ग्रहण करते हुये भी पूर्वाग्रहो से मुक्त थे। यही कारण है कि उन्होने यद्यपि कि मध्यमकालीन हिन्दू–मुस्लिम सघर्ष की स्थितियो को विवेचित किया है तथा वर्तमान की तनावग्रस्त स्थितियो पर क्षोभ भी प्रकट किया था, किन्तु इस बात का ध्यान रखा है कि इससे किसी की भावनाये आहत न हो, इसी कारण उनकी रचनाओ मे इस बात पर बल दिया गया है कि पूर्वाग्रहो को छोडकर सौहार्द स्थापित किया जाय क्योकि राजभक्त होने के बावजूद उन्हे साम्राज्यवादी खतरो का अच्छी तरह से ज्ञान था और इससे मुक्ति के लिये एकता की स्थापना उनकी दृष्टि मे सबसे महत्वपूर्ण कदम था।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

अयोध्यासिह उपाध्याय हरिऔध (1856 – 1947) पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ जनपद के एक सनाढ्य ब्राह्मण परिवार मे पैदा हुये। इनके पिता भोला सिह तथा मॉ धार्मिक प्रवृत्ति की थी, जिनका कि इनके व्यक्तित्व पर काफी प्रभाव था। प्रारम्भिक शिक्षा वाराणसी मे हुई और इसके बाद 1884 ई मे निजामाबाद (आजमगढ) के हिन्दी मिडिल स्कूल मे अध्यापक नियुक्त होने के बाद इनकी रुचि काव्य रचना की ओर अधिक हो गयी। "हरिऔध के व्यक्तित्व निर्माण मे प्रतिष्ठित सिख कवि बाबा सुमेर सिह का बहुत बडा हाथ था . सुमेर सिह भारतेन्दु मडल के सदस्य थे। यही उनका (हरिऔध) परिचय भारतेन्दु साहित्य एव "कवि वचन सुधा" तथा "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" की फाइलो से हुआ और हिन्दी साहित्य की ओर उनकी अभिरुचि अत्यन्त तीव्रता से बढी।[48]

हरिऔध सवेदनशील और युगबोध से अनुप्राणित कवि थे। समाज और राष्ट्र की कामनाओ व आवश्यकताओ के स्पन्दन का अनुभव करने मे भी

समर्थ थे। वे देश और जनता की अभिव्यक्ति और आकाक्षाओ के प्रति भी सवेदनशील थे और उस सवेदना को प्रेषणीय बनाकर मुखरित करने मे समर्थ थे। लोक कल्याण, जनकल्याण विधान समाज सुधार आदि की जिस चेतना का दीप भारतेन्दु ने जलाया था, उसकी प्रकाशदीप्ति तथा दीप्ति परिधि को हरिऔध जी फैलाना चाहते थे। साहित्य के अध्ययन से वे जनता को देशकाल के अनुरूप ऊपर उठाना चाहते थे।"[49]

स्पष्ट है कि हरिऔध जी भारतेन्दु युगीन चेतना एव प्रवृत्तियो से प्रभावित थे। उनके काव्य मे उन सभी प्रवृत्तियो का प्रतिबिम्ब मिलता है। ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक है कि हरिऔध के काव्य मे भी अतीत एव हिन्दू धर्म के प्रति झुकाव दृष्टिगत होता है किन्तु उनके काव्य मे उन शब्दो एव प्रतीको का स्पष्ट प्रयोग नही हुआ है, जिससे साम्प्रदायिक भावना फैलाने मे सहायता मिलती है किन्तु जिस जातीयता एव हिन्दुत्व का आग्रह उनकी रचनाओ मे आद्योपान्त मिलता है उससे ऐसा मानस अवश्य तैयार होता है। डॉ कीर्तिलता के अनुसार — "राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम चरण मे तथा उसके पूर्व ही साहित्यकारो ने भारत के गौरवपूर्ण अतीत के वर्णन मे विशेष रुचि ली। आन्दोलन के द्वितीय चरण मे भी भारत के स्वर्णिम अतीत का चित्रण साहित्यकारो का प्रिय विषय रहा। प्रथम चरण मे कवियो ने प्राचीन वैदिक सस्कृति के प्रति विशेष प्रेम प्रकट किया था। इस काल मे साहित्यकारो ने वह क्षेत्र विस्तृत किया। इसमे हरिऔध का विशेष योगदान है।"[50] यहॉ शोध विषय की परिधि मे हरिऔध की उन कविताओ का विवेचन होगा जो हिन्दुत्व एव जातीयता से सम्बन्धित है।

हरिऔध ने अपने काव्य सग्रह 'काव्योपवन' (1909) की 'आर्यपचक" शीर्षक कविता मे भारत के अतीत गौरव का गान किया है। उन्होने लिखा है कि एक दिन वह भी था जब हम बल बुद्धि और विद्या वाले थे, हम भी धीर, वीर और गुणशाली थे। जब कभी हम सामगान करते थे, तो पत्थर भी मोम हो जाते थे। जब हम विजय करने के लिये निकलते थे तो हमारी रण हुँकार सुनकर सभी दहल जाते थे . हमने सभ्यता को जगत मे फैलाया था। जावा मे हिन्दुत्व का रग जमाया था। जापान, चीन, तिब्बत, तातार व मलाया सभी ने हमसे ही धर्म का मर्म पाया था।[51] इसी संग्रह मे हरिऔध का स्पष्ट मत है कि हम लोग हिन्दू रहकर ही भारत के रहते हैं। मुसलमानो मे चाहे हिन्दू रक्त भी हो, फिर भी वे विदेशी सस्कृति से प्रेम करते हैं। इसी प्रकार ईसाई भी यूरोप का ही चाल–ढाल पसन्द करते हैं। ब्रह्म समाजियो और आर्य समाजियों के

लिये भी कवि ने कहा है कि कहने को यह भारतवासी बनते है, परन्तु ये भी यूरोप की बातो पर जाते है और जातीयता इन्हे नही भाती है। ये कलह और फूट फैलाते है।[52]

इससे स्पष्ट है कि कवि की सहानुभूति उन्ही लोगो के साथ है, जो प्राचीन हिन्दू सस्कृति को अपनाने वाले हैं। धर्म और जाति के अतिरिक्त जो भावना मे भी विदेशी सस्कृति को अपनाते हैं, उनसे कवि का विरोध है। आर्य समाज ने यद्यपि विदेशी सस्कृति को स्वीकार नही किया था लेकिन हरिऔध ने सभवत इसीलिए ऐसी टिप्पणी की – "आर्य समाज ने सनातन हिन्दू धर्म मे परिवर्तन करना चाहा था। इस सग्रह की एक लावनी" मे श्राद्ध कर्म के बहाने उसकी महत्ता बताते हुये कौमियत को न छोडने का आग्रह किया है।[53] 'प्रियप्रवास' मे भी हरिऔध ने कहा है कि अपनी जाति को सकट से उबारना मनुष्य का सर्वप्रथम कर्म है। ब्रज मे दावानल लगने पर कृष्ण गोपो से कहते हैं वीरो बढकर स्वजाति का भला करो। हमे दोनो ओर अपार लाभ है, यदि उबार लिया तो स्व कर्तव्य पूरा होगा और यदि भस्म हो गये तो सुकीर्ति मिलेगी।[54]

हरिऔध को जातीयता से विशेष प्रेम है। 'पद्य प्रमोद'' मे 'सुशिक्षा सोपान'' के अन्तर्गत 'अविनय'' शीर्षक कविता मे कवि ने कामना की है कि हमारी नयी पौध की धमनियो मे 'पूत जाति हित' की धारा बहे।[55] 'हमे चाहिए' शीर्षक कविता मे भी कवि ने कहा है कि हमे ऐसा सुधारक चाहिए, जिसकी रुचि जातीय रग के बीच रगी हो।[56] 'सुविचार सग्रह' के अन्तर्गत 'आरम्भ शूरता' कविता मे कवि ने हिन्दू जाति को सम्बोधित करके कहा है कि ज्ञान गौरवमयी हिन्दू जाति आरम्भ शूरता दोष को तजे बिना तू कर्मक्षेत्र मे कभी जयी नही होगी।[57]

हरिऔध हिन्दुओ की भीरु प्रवृत्ति एव आपसी फूट की चर्चा करते है और इसके लिये शिक्षा व्यवस्था को भी दोषी मानते हैं। उन्होने 'पद्य प्रसून' मे लिखा है कि उस विद्यालय को विद्यालय कैसे माने जिसमें कलह और फूट अपनी तान सुनावे ?[58] हिन्दुओ के सन्दर्भ मे कवि का मत है – कायरता होड करके इनसे नाता जोड बैठी है, फूट आज पॉव तोड करके इनके घर बैठी है।[59] लोहा छूते ही हिन्दुओ के हाथ कॉपते हैं। मन मरा हुआ है और तन मे तनिक भी ताब नही रही। वीरता समाप्त हो गयी है और धीरता धरा मे धॅस गयी है। हम बहुत सी जातियो में बॅटे जा रहे हैं और एकता के रग में नही रहेगे। हमारा बुरा हाल है, फिर भी फूट अभी नही छूटी है।[60] हरिऔद्य लिखते हैं कि अब तो

हम कायर और कपूत कहलाते है।[61] बैर ने बहुत पॉव पसारा है और हमे फूट का ही सहारा रह गया है।[62] 'चुभते चौपदे'' मे लिखा है हममे डाह, फूट, बैर आदि सभी अवगुण है।[63] इनसे स्पष्ट होता है कि हरिऔध को अतीत की ऐतिहासिक घटनाओ की पृष्ठभूमि का पूरा ज्ञान था और इसी कारण वे तत्कालीन समय मे भी हिन्दुओ मे व्याप्त ऐसी प्रवृत्तियो को लक्ष्य कर सके।

'पद्यप्रसून' की अधिकाश कविताये हिन्दू जातीयता से भरी पडी हैं। ''जीवन स्रोत'' के अर्न्तगत 'विद्यालय' शीर्षक कविता मे कवि ने कहा है कि आदर्श विद्यालय मे जाति सगठन की शुभ पूजा होगी। वहॉ सरस जातीय तान रस बरसायेगी। उस विद्यालय मे महत्ता कहॉ, जहॉ रही सही जातीयता भी नष्ट हो जाय ? जातीय सभाओ के द्वारा जाति का अध पतन हो रहा है। जाति–जाति के विद्यालय और सभाये अतिनिन्दित हैं, यदि वे सघ शक्ति का सचय न करे। उन विद्यालयो एव सभाओ से क्या होगा जिनसे हिन्दू – गौरव का डोगा डूब जाय। अत मे कवि ने प्रार्थना की है कि देश मे जितने हिन्दू विद्यालय हो सभी एक सूत्र से बॅधे। छात्र जाति – भाव से पूरित हो।[64] इसी सग्रह की 'जीवन – मरण' कविता हिन्दुओ की दीन दशा का चित्रण है। इसमे हरिऔध लिखते है कि मदिर टूटते हैं, परन्तु हमारा कलेजा नही टूटता, ललनाये छिनती हैं, परन्तु हमारा खून नही खौलता, लाल लुटते हैं परन्तु हमारी ऑख तक लाल नही होती।[65] स्पष्ट है कि हरिऔध के मत मे इस्लाम के आगमन और उसके द्वारा हिन्दू धर्म और देवालयो पर किये गये आघात की पीडा थी यद्यपि कि उन्होने स्पष्ट प्रतीक शब्दो के प्रयोग से बचने का प्रयास किया है।

'परिवर्तन' कविता मे हरिऔध ने लिखा है कि हममे परिवर्तन पर परिवर्तन होते है, परन्तु वे जातीय भाव के गौरव को खोते हैं।[66] ''समझ का फेर'' शीर्षक कविता मे कवि ने उस राष्ट्रीय भावना के प्रति क्षोभ प्रकट किया है जो जाति को मिटाती है। उन्होने लिखा है कि जाति मिटी जा रही है तो उससे क्या ? हम तो युनिटी करने मे मस्त है। मॉ – बहन और बेटियॉ लुट जॉय, परन्तु मेल का मुँह देखकर हम उसे भी सह लेते हैं। धडल्ले से मन्दिरो मे सत्याग्रह हो रहा है।[67] 'सेवा' शीर्षक कविता मे लिखते हैं कि अगर जाति की कुछ भी सेवा नही की गयी और ऐसी बात जी मे बनी जिसमे जाति हित का कुछ भी रग न हो तो क्या बनी।[68] 'गौरवगान' शीर्षक कविता में स्वामी दयानन्द की प्रशसा इसलिये करते हैं कि उन्होने हमारे हृदय मे जातीय भाव सजग करके जगाया और देशप्रेम के महामत्र से मुग्ध बनाया। इसी कविता मे

हरिऔध ने मन्दिरो के ध्वस पर अपनी पीडा व्यक्त की है कि मन्दिर धूल मे मिलते है, देवमूर्ति टूटती है और भारत जननी अपनी छाती कलप — कलपकर कूटती है, परन्तु हिन्दू जाग — जागकर आज भी नही जागे।[69] 'प्रेम' शीर्षक कविता मे लिखते है कि बहुत सी जातियो की बहुत सी सभाये बलाये बन गयी हैं। अगर हमे हिन्दू नाम नही प्यारा है तो रसातल क्यो नही चले जायेगे ? अन्त मे कवि ने हिन्दुओ के जागने की कामना की है।[70] स्पष्ट है कि हरिऔध को हिन्दू धर्म के जातिगत भेद से काफी कष्ट था और इसे ही वे उनकी दुरावस्था का कारण मानते थे। इस सन्दर्भ मे डॉ कीर्तिलता को उद्धृत करना समीचीन है — "इस पूरी पुस्तक (पद्य प्रसून) मे कवि का जाति प्रेम व्यक्त हुआ है, कही भी सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रीय कल्पना नहीं मिलती। कवि ने सामाजिक समस्याए आदि भी हिन्दू जाति की ही उठाई हैं।"[71]

हरिऔध की कल्पलता जो कि उनके जीवन के आखिरी वर्षो मे प्रकाशित हुई और साम्प्रदायिक दृष्टि से यह समय अति सवेदनशील भी था, मे हिन्दू जातीयता का स्वर काफी प्रखर है। "सिद्धि साधना" कविता मे लिखते है कि जाति की सख्या प्रतिदिन कम होती जा रही है, देव मन्दिर ढहाये जाते है और मूर्तियॉ टूटती हैं, पर्व और उत्सवो मे अधिकतर बाधा होती है।[72] 'त्यागभूमि' कविता मे लिखा है कि 'आर्य गौरव रवि गत तेज' है।[73] 'शिक्षा का उपयोग' शीर्षक कविता मे शिक्षित युवको मे जातीय भावना के अभाव पर दुख प्रकट करते हुये लिखते हैं कि प्रतिदिन शिक्षित युवक वृन्द बढता जाता है, पर उनमे हम जाति ममता कहॉ पाते हैं।[74] इसी प्रकार का क्षोभ 'मुरली की तान' शीर्षक कविता मे प्रकट किया है कि जो हिन्दू बालक कहलाते हैं, वे हिन्दू कुल काल हैं। वे भारत ललना से लालित है परन्तु भारत के लाल नही हैं। उनका रोम — रोम देश प्रेममय है परन्तु वे जाति से प्यार नही रखते।[75] 'जीवन रणनाद' कविता मे हिन्दुओ से आग्रह करते हैं कि उठकर आपनी धाक जमाओ।[76] ऐसा इसलिए था कि उनकी मन स्थिति मे अतीत का गौरव बसा हुआ था। जैसा कि "राजस्थान" शीर्षक कविता मे उन्होने लिखा है कि वहॉ वीरता मूर्तिमन्त होकर भूतल का भार हरती थी, वहॉ धीरता धर्मधुरीण कठ का हार थी। वीर सदा जाति हित बलिबेदी पर बलिदान होते थे, वहॉ बच्चो ने भी बलवानो के कान काटे थे और वीरबालाये रणभूमि मे करवाल के समान चमकी थी।[77] स्पष्ट है कि अपनी समकालीन परिस्थितियो की साम्प्रदायिक स्थिति से वे रूबरू थे। यही कारण है कि उनकी कविताओ का स्वर जातीय आग्रह से युक्त है।

इस समय के साम्प्रदायिक अलगाव के लिये जिम्मेदार एक प्रमुख कारण गोरक्षा आन्दोलन भी था। हरिऔध ने इस पर भी लिखा है कि गोधन विध्वस हो रहा है और कुल लाल दूध के लिये तरसते है।[78] इसी तरह वे उच्चस्थ हिन्दुओ की आलोचना करते हैं कि जो हिन्दू कुल कलश कहलाते है, सूझ उनकी बहुत आला है, परन्तु हिन्दू उर अन्तर की ज्वाला वे देख नही सकते। हिन्दुओ की नीची गरदन उनको पुलकित करती है। वे देश बन्धुता के प्रेमी और समता के दीवाने है, किन्तु जाति प्रेम के पैमाने वे तपाक से तोडते हैं।[79] इसीलिये वे 'विजया' शीर्षक कविता मे यह कामना करते हैं कि — जाति हित मे शिथिल जन की / है शिथिलता हरे विजयदशमी।[80] "होली" शीर्षक कविता मे हरिऔध ने जातीयता की दीवारे ढह जाने पर क्षोभ व्यक्त करते हुए नवशिक्षितो मे पुन जातीयता को जगाने का आग्रह किया है। कवि के विचार से जाति ही अपनी जाति का भला कर सकती है। जाति अपने कीर्ति चिह्नो को मिटाकर नही जी सकती।[81] इसीलिये 'होलिकादहन' मे वे कामना करते हैं — "रगो रग मे उमग अबीर गुलाल लगाओ/किन्तु अधिक जातीय रगतो की दिखलाओ।"[82] इसके अतिरिक्त इस सग्रह की अन्य कविताये 'कमनीय कामना' "होली के हथकडे", "होली के स्वॉग" आदि मे कवि का हिन्दू जाति एव धर्म के प्रति प्रेम मुखरित हुआ है।

हरिऔध साहित्य के इस सर्वेक्षण द्वारा मैने उनके साहित्य मे आये हिन्दू जातीय स्वर को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध मे डा0 कीर्ति लता का विचार है — "हिन्दू जातीयता का दृष्टिकोण लेकर चलने वाले कवियो मे मैथिलीशरण गुप्त एव हरिऔध प्रधान हैं। मैथिलीशरण गुप्त के दृष्टिकोण मे कुछ कालोपरान्त परिवर्तन होता है और वे हिन्दू — मुस्लिम एकता और राष्ट्रीयता के दृढ समर्थक हो जाते हैं। हरिऔध की हिन्दू भावना मे कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नही होता। उन्हे उन हिन्दुओ से भी सहानुभूति नही जो देशबन्धुता के रग मे रगे हुये है और जिनमे जातीयता का अभाव है।' [83] यद्यपि कि हरिऔध का साहित्य जातीय अग्रह से भरा पडा है किन्तु उन्होने स्पष्ट प्रतीक शब्दो एव मिथको के प्रयोग से बचने की कोशिश की है जैसा कि बाद मे तमाम परवर्ती साहित्यकारो ने किया है, लेकिन जीवन क अन्तिम समय तक उनके विचारो मे कोई परिवर्तन नही हुआ था।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

प्रेमचन्द के साहित्य मे उनके युग के साम्प्रदायिक वातावरण का जीवन्त चित्रण मिलता है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योकि प्रेमचन्द के समय मे राष्ट्रीय राजनीति मे साम्प्रदायिकता का विषवृक्ष महाकार ले चुका था। उन्होने तत्कालीन समाज मे प्रखर रूप से व्याप्त हिन्दू एव मुसलमानो के मध्य साम्प्रदायिक भावना के आधार, उसके प्रतिफल तथा उससे छुटकारा पाने के लिये अपने साकेतिक सुझाव के साथ साम्प्रदायिकता की समस्या को स्थान--स्थान पर उठाया है। प्रेमचन्द जैसे सजग एव सवेदनशील रचनाकार के लिये ऐसा करना स्वाभाविक ही था, क्योकि उन जैसा सजग रचनाकार अपने परिवेश के प्रति तटस्थ रह ही नही सकता था।

प्रेमचन्द हिन्दू--मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। उनकी रचनाओ मे हिन्दू मुसलमानो के विषय मे विस्तार के साथ लिखा गया है, इसलिये उनका साहित्य हिन्दू एव मुसलमान दोनो के बीच समान रूप से लोकप्रिय है। अपने साहित्य मे उन्होने न केवल हिन्दू--मुस्लिम सम्बन्धो को बारीकी से उजागर किया है बल्कि पारस्परिक वैमनस्य और तनाव के समाधान के सकेत भी दिये है।

प्रेमचन्द को हिन्दू--मुस्लिम सस्कृति की गहरी पहचान थी, दोनो सस्कृतियो के सम्बन्धो मे निकटता को वे इस प्रकार विश्लेषित करते है – "हिन्दू मूर्तिपूजक है तो मुसलमान कब्रपूजक और स्थानपूजक नही हैं, ताजिये का शर्बत और सीरीनी कौन चढाता है, मस्जिद को खुदा का घर कौन समझता है ? अगर मुसलमानो मे एक सम्प्रदाय ऐसा है जो बडे--बडे पैगम्बर के सामने सिर झुकाना भी कुफ्र समझता है तो हिन्दुओ मे भी एक सम्प्रदाय ऐसा है जो देवताओ को पत्थर के टुकडे और नदियो को पानी की धारा और धर्म ग्रथो को गपोडे समझता है। यहॉ तक तो हमे दोनो सस्कृतियो मे अन्तर नही दीखता है।"[84]

हिन्दू--मुस्लिम एकता का सवाल राष्ट्रीय एकता का सवाल था। प्रेमचन्द दोनो सम्प्रदायो की मनोवृत्तियो से भलीभॉति परिचित थे। वे उदारवादी हिन्दू थे। अपनी स्वतत्रता के साथ दूसरे को भी स्वतन्त्र देखना चाहते थे। वे हिन्दू समुदाय के अन्धविश्वासो एव रूढि के कट्टर आलोचक थे। चूँकि हिन्दू सम्प्रदाय बहुल था और वे स्वय हिन्दू थे, इसलिये वे सम्प्रदायगत सम्बन्धो को सुधारने मे हिन्दुओ को अधिक सक्रियता से जूझते देखना चाहते थे।[85]

धर्म के आपसी विवाद के कारण हिन्दू और मुसलमानो मे आपस मे कटुता की भावना उत्पन्न हो गया थी, परन्तु प्रेमचन्द इस कटुता को प्रोत्साहन देने के समर्थक नही थे। इस कटुता का विरोध करते हुये प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासो एव कहानियो मे एक ओर विवशतावश इस्लाम अपनाने वाले हिन्दूओ को पुन हिन्दू धर्म की ओर अग्रसर होते दिखाया है तो दूसरी ओर इस्लाम धर्म के प्रचारक हिन्दू धर्म मे निष्ठा रखने वालो के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं। प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक द्वेष और दगो के प्रश्न पर मुक्तभाव से विचार किया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन की सफलता के लिये जहॉ और चीजे महत्वपूर्ण थी, वही राष्ट्रीय एकता एक आधारभूत आवश्यकता थी। प्रेमचन्द ने इस बात को अच्छी तरह पहचाना था।

जब देश के किसी हिस्से से राष्ट्रीय एकता और धार्मिक उदारता की आवाज प्रेमचन्द को सुनायी देती थी, तो वह बडे उत्साह से उसका स्वागत करते थे और अपनी कलम से उसका प्रसार करते थे। बम्बई मुस्लिम स्टूडेन्ट्स यूनियन मे बम्बई सरकार के अर्थ सचिव सर गुलाम हुसेन हिदायतुल्लाह द्वारा दिये व्याख्यान – "बात–बात मे अपने समुदाय के विशेष अधिकारो की हॉक लगाना अपमानजनक है। हमे सिर्फ योग्यता के बल पर आगे बढना चाहिये"[86] पर प्रेमचन्द प्रसन्न होते है और टिप्पणी करते है कि इस साम्प्रदायिक होहल्ले के युग मे यह भाषण चारो तरफ फैले हुये अधकार मे एक दीपक के समान है।[87]

हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रश्न पर प्रेमचन्द को किसी प्रकार का भ्रम नही था। जिन्दगी के हर पहलू मे पारस्परिक एकता होते हुये भी उनमे कुछ विशिष्टता है जो उन्हे दूसरो से अलग करती है। वे घोषणा करते हैं – "हिन्दू और मुसलमान न कभी दूध और चीनी थे, न होगे, न होने चाहिये। दोनो की अलग–अलग सूरते बनी रहनी चाहिये और बनी रहेगी। आवश्यकता इस बात की है कि उनके नेताओ मे परस्पर सहिष्णुता और उत्सर्ग की भावना हो।"[88] साम्प्रदायिकता की समस्या पर प्रेमचन्द का विश्वास है कि जब तक हम अपने इतिहास, सभ्यता व सस्कृति और ऐसे ही दूसरे ढकोसलो पर राष्ट्र के आधारभूत सिद्धान्तो को होम करते रहेगे, उस पल तक यो ही फसाद होते रहेगे। जब तक आरती और नमाज, गोरक्षा और कुर्बानी एव बाजे के मसलो पर जनता मे उत्तेजना फैलाना असभव नहीं हो जायेगा, उस वक्त तक यह मेलजोल का मसला हल नहीं होगा।[89] यह लक्ष्य तब प्राप्त होगा जब हिन्दू–मुस्लिम

मैत्री को सिर्फ राजनीतिक आवश्यकता न समझकर मनुष्य के आचरण और विचारण का अश बना दिया जायेगा। इसी मे राष्ट्र और देश का भविष्य सुरक्षित है।[90]

प्रेमचन्द ने साहित्य को साम्प्रदायिकता जैसे प्रश्न के समाधान का साधन माना। उसको बढावा देने वाले साहित्य के वे विरोधी थे। चतुरसेन शास्त्री द्वारा लिखे गये 'इस्लाम का विषवृक्ष' का विरोध करते हुये उन्होने जैनेन्द्र को लिखा था – "इस चतुरसेन को क्या हो गया है कि 'इस्लाम का विषवृक्ष' लिख डाला। इसकी आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्यूनल प्रोपेगण्डा का जोरो से मुकाबला करना होगा।"[91] उन्होने बनारसी दास जी को भी इस सम्बन्ध मे लिखा – "यह साम्प्रदायिकता फैलाने की एक बेहद शरारतभरी और नीच कोशिश है और उसका पर्दाफाश करना होगा।' [92] यही नही उन्होने 24 जुलाई 1932 को जागरण मे 'इस्लाम का विषवृक्ष' शीर्षक से लेख लिखकर चतुरसेन शास्त्री की साहित्य मण्डल दिल्ली से प्रकाशित इस पुस्तक का घोर विरोध किया था।[93] उन्होने माधुरी 1 जनवरी, 1925 मे 'कर्बला' और 'जमाना' लेख लिखकर साहित्य को साम्प्रदायिकता के पोषक रूप मे न देखकर उसे इस प्रश्न के सुधारक के रूप मे देखा।[94]

प्रेमचन्द ने पत्रकार की हैसियत से हिन्दू–मुस्लिम एकता सम्बन्धी प्रस्तावो का समय–समय पर सहर्ष स्वागत किया है। उनके अनेक लेखो मे इस तरह की भावना के दर्शन होते है।[95] उनके लेखो के माध्यम से साम्प्रदायिक वैमनस्य को दूर करने, सहिष्णुता और एकता को बनाये रखने एव, आपस मे दोनो सम्प्रदायो के सद्भावी बनने पर बल दिया गया है।[96] साम्प्रदायिकता का सबसे बडा हल मानवता के पुजारी प्रेमचन्द हीरालाल के शब्दो मे खोजते है। उनका कहना है – यहॉ तो मानवता के पुजारी हैं, चाहे इस्लाम कहो या हिन्दू धर्म मे, या बौद्ध मे या ईसाई मत मे, अन्यथा मै विधर्मी ही भला। मुझे किसी मनुष्य से इसलिये तो द्वेष नही कि वह मेरा सहधर्मी नही है।[97] व्यक्तिगत जीवन मे प्रेमचन्द हिन्दू–मुसलमान मे भेद नही मानते थे। उन्होने एक बार अपनी पत्नी से कहा था – "मै एक इन्सान हूँ और जो इन्सानियत रखता हो, इन्सान का काम करता हो, मैं वही हूँ और उन्हीं लोगो को चाहता हूँ। मेरे दोस्त अगर हिन्दू है, तो मेरे कम दोस्त मुसलमान नही है और इन दोनो मे मेरे नजदीक कोई खास फर्क नही है, मेरे लिये दोनो बराबर हैं।"[98]

प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक आन्दोलनो के साथ साम्प्रदायिकता पर मुख्य रूप से विचार अपने उपन्यास "कायाकल्प" तथा कहानी 'मन्दिर और

मस्जिद" मे किया है।[99] इनके अलावा उनके साहित्य मे जहॉ साम्प्रदायिकता का उल्लेख हुआ है, उनमे उपन्यासो मे कर्मभूमि और कहानियो मे 'हिसा परमोधर्म' तथा 'मन्त्र' हैं। अपने लेखन कर्म मे न केवल तत्कालीन साम्प्रदायिक स्थिति का चित्रण कर रहे थे बल्कि साम्प्रदायिक तनावो को कम करने की कोशिश भी कर रहे थे। इसीलिए वे धर्म की थोथी मान्यताओ की आलोचना कर रहे थे – "लोग इतने उत्साह से त्रिवेणी के सकरे घाट की ओर गिरते पडते लपके चले जाते थे कि यदि जल की शीतल धारा की जगह अग्नि का जलता कुण्ड होता तो भी लोग उसमे कूदते हुये जरा भी न झिझकते। कितने आदमी कुचल गये, कितने डूब गये, कितने खो गयें, कितने अपग हो गये, इसका अनुमान करना कठिन था, धर्म का विकट सग्राम था।"[100]

सच्चे धर्म का अर्थ समझाते हुये कायाकल्प मे लिखते है – "जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ नही समझेगे, हमारी यही दशा रहेगी, मुश्किल यह है कि जिन महापुरुषो से अच्छी धर्मनिष्ठा की आशा की जाती है, वे अपने अशिक्षित भाइयो से बढकर उदण्ड हो जाते हैं। मै तो नीति को ही धर्म समझता हूँ और सभी सम्प्रदायो की नीति एक सी है, अगर अन्तर है तो बहुत थोडा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते है। हमे कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध सभी महात्माओ का समान आदर करना चाहिये। ये मानव जाति के निर्माता है, जो इनमे से किसी का अनादर करता है या उसकी तुलना करने बैठता है, वह अपनी मूर्खता का परिचयदेता है। बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू। देखना यह चाहिये कि वह कैसा आदमी है न कि यह कि किस धर्म का आदमी है। ससार का भावी धर्म सत्य न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा और अगर ससार मे जीवित रहना है तो अपने हृदय मे इन्ही भावो का सचार करना पडेगा।"[101]

तत्कालीन साम्प्रदायिक दगो की बहुलता के कारण प्रेमचन्द ने व्यापक रूप से अपनी रचनाओ मे इस समस्या को उठाया है। 1916 की लखनऊ काग्रेस मे स्थापित हिन्दू–मुस्लिम हृदयग्राही एकता 1922 तक आते–आते अतीत की स्मृति बन गयी थी। 1921 मे अग्रेजी षडयत्र का दुष्परिणाम मालाबार मे मोपला मुसलमानो के विद्रोह के रूप मे प्रस्फुटित हुआ। जिसका सकेत प्रेमचन्द की कहानी 'मत्र' मे किया गया है। इस कहानी के लीलाधर चौबे हिन्दू महासभा द्वारा हिन्दू–मुस्लिम दगे के सन्दर्भ में मद्रास भेजे जाते हैं।[102]

इस विद्रोह ने साम्प्रदायिक दगो की एक लम्बी श्रृखला को जन्म दिया तो दूसरी ओर आर्य समाजियो का शुद्धि आन्दोलन प्रखरतर होता जा रहा था। प्रेमचन्द इन स्थितियो के प्रति सजग थे। 22 अप्रैल 1923 को मुशी दया नारायण निगम के नाम लिखे गये पत्र मे इस शुद्धि आन्दोलन का विरोध करते हुये प्रेमचन्द ने लिखा था – "मलकाना शुद्धि पर एक मुख्तसर मजमून लिख रहा हूँ। मुझे इस तहरीक से सख्त इख्तिलाफ (विरोध) है। तीन–चार दिन मे भेज सकूँगा। आर्य समाज वाले भिन्नायेगे, लेकिन उम्मीद है आप जमाना मे इस मजमून को जगह देगे।"[103] यह मजमून जमाना के 25 फरवरी 1924 के अक मे प्रकाशित हुआ था। जिसमे प्रेमचन्द ने लिखा था – "हम कहते हैं कि अगर हिन्दुओ मे एक भी किचलू, मुहम्मद अली या शौकत अली होता तो हिन्दू सगठन और शुद्धि की इतनी गर्मबाजारी न होती और इन हगामो मे कमी हो जाती, जो इस वैमनस्य के कारण दिखायी पडते हैं।"[104] इसी लेख मे प्रेमचन्द ने कहा कि हिन्दुओ द्वारा दस–पॉच हजार मलकानो की शुद्धि से उनकी प्रसन्नता व्यर्थ है। हिन्दुओ मे राजनीतिक सहिष्णुता की आवश्यकता है।[105]

कायाकल्प उपन्यास मे आगरे के प्रथम दगे का मूल कारण भावना रूप मे शुद्धि आन्दोलन और व्यवहार मे इसके विरोध मे मुसलमानो द्वारा गो हत्या की योजना है। आगरा शहर मे गाय की कुर्बानी पर फिसाद हो जाता है। इसके पीछे कौन लोग है, प्रेमचन्द ने उन पर प्रकाश डाला है। आगरा हिन्दू सभा के मत्री एव सेवा समिति के सदस्य यशोदान्दन जब बनारस से आगरा आते है, तो एक थानेदार उनका असबाब देखना शुरू करता है। इस पर यशोदानन्दन आश्चर्यपूर्वक पूछते हैं – 'क्यो साहब आज यह सख्ती क्यो है ? थानेदार – "आप लोगो ने जो कॉटे बोये हैं, उन्ही का फल है। शहर मे फिसाद हो गया है।"[106] दूसरी ओर ख्वाजा महमूद (उपन्यास का पात्र) जिसे हिन्दू फरिश्ता सा आदर करते थे, जो हिन्दू–मुसलमान दोनो के सेवा समिति के सदस्य थे, मौलवी दीन मुहम्मद साहब की तकरीर से इतने भावावेश मे आ जाते है कि कुर्बानी के प्रश्न को लेकर होने वाले दगे–फिसाद की बागडोर अपने हाथ मे ले लेते है। यशोदानन्दन इस प्रकार के कायापलट पर कहता है – "अगर महमूद मे सचमुच यह कायापलट हो गयी है, तो मैं यही कहूँगा कि धर्म से ज्यादा द्वेष पेदा करने वाली वस्तु ससार मे नही है।"[107]

मौलवी दीन मुहम्मद के व्याख्यानो से प्रभावित होकर ख्वाजा महमूद कुर्बानी के पक्ष मे दलील देता है – "कुर्बानी करना हमारा हक है। अब तक हम आपके जजबात का लिहाज करते थे, अपने माने हुये हक भूल गये थे, लेकिन

जब आप लोग अपने हको के सामने हमारे जजबात की परवाह नही करते तो कोई वजह नही कि हम अपने हको के सामने आपके जजबात की परवाह करे। मुसलमानो की शुद्धि करने का आपको पूरा हक हासिल है, लेकिन कम से कम पाँच सौ बरसो मे आपके यहॉ शुद्धि की कोई मिसाल नही मिलती। आप लोगो ने एक मुर्दा हक को जिन्दा किया है इसीलिये न कि मुसलमानो की ताकत और असर कम हो जाय।'[108] दूसरी बार के दगे का कारण होली के दिन एक मियाँ के वस्त्रो पर रग के छीटे पड जाना है। होली के दिन मियॉ जी के कपडे पर दो–चार छीटे पड गये।[109] फिर क्या था ? उन्होने मस्जिद मे आकर बॉग दी और मुसलमानो ने जब ललकार सुनी उनकी त्यौरियॉ बदल गयी। दीन का जोश सिर पर सवार हो गया। शाम होते–होते दस हजार आदमी सिरो से कफन लपेटे, तलवारे लिये जामे मस्जिद के सामने आकर दीन के खून का बदला लेने के लिये जमा हो गये।[110] उधर हिन्दू समुदाय मे भी पिचकारी छोड लोगो ने लाठियॉ सँभाली।[111]

'मदिर और मस्जिद' कहानी के साम्प्रदायिक दगे का कारण मुसलमानो द्वारा ठाकुरद्वारे पर आक्रमण है। आधीरात को ठाकुरद्वारे मे कृष्ण का जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। सहसा मुसलमानो का एक दल लाठियॉ लिये हुये आ पहुँचा और मदिर पर पत्थर बरसाना शुरु किया।[112] 'हिसा परमोधर्म' कहानी के साम्प्रदायिक दगे की सभावना का कारण एक मुसलमान की मुर्गी का एक ब्राह्मण के घर मे घुस जाना है।[113] इस कहानी मे दिखाया गया है कि हिन्दू जामिद को शुद्ध करते हैं। एक ब्राहमण द्वारा मुसलमान को पीटे जाने से बचाने के अपराध मे वह हिन्दुओ का कोपभाजन बनता है और फिर एक हिन्दू स्त्री की मुसलमान गुण्डो से रक्षा करने के कारण वह मुसलमानो का शत्रु बनता है।

प्रेमचन्द के साहित्य मे उन स्थितियो की ओर भी सकेत किया गया है जिनके कारण साम्प्रदायिक दगे भडकते थे। साथ ही उन्हे लोगो की मनोवृत्तियो की अच्छी पहचान थी। शुद्धि गोहत्या, मदिर या मस्जिद पर आक्रमण, दो सम्प्रदाय के लोगो के व्यक्तिगत झगडे, लेन – देन आदि कुछ भी इसकी पृष्ठभूमि मे हो सकता था। एक स्थायी कारण की ओर सकेत करते हुये चक्रधर (कायाकल्प का एक पात्र) कहता है – "लोगो का यह ख्याल कि मुसलमान लोग हिन्दुओ पर राज करने का स्वप्न देख रहे है, बिल्कुल गलत है। मुसलमानो को केवल शका हो गयी है कि हिन्दू उनसे पुराना बैर चुकाना चाहते है और उनकी हस्ती मिटा देने की फिक्र कर रहे हैं। इसी कारण वह जरा – जरा सी बात पर तिनक उठते हैं और मरने – मारने पर आमादा हो

जाते है। [114] ख्वाजा महमूद मुसलमानो की ताकत और असर के कम हो जाने की आशका से ग्रस्त हैं।[115] 'कर्मभूमि" के जिला हाकिम मि गजनवी को स्वराज मिल जाने से मुसलमानो की दशा खराब हो जाने का भय है। उनके अनुसार मुझे अगर स्वराज्य से खौफ है तो यह कि मुसलमान की हालत कही और खराब न हो जाय। गलत – गलत तवारीखे पढ – पढ कर दोनो फिरके एक – दूसरे के दुश्मन हो गये हैं और मुमकिन नही कि हिन्दू मौका पाकर मुसलमानो से पुरानी अदावतो का बदला न ले।[116]

प्रेमचन्द अपने लेखन के माध्यम से उन परिस्थितियो को भी उद्घाटित करते है, जिससे साम्प्रदायिक उन्माद फैलता है। 'कायाकल्प' के पच्चीसवे परिच्छेद मे प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक दगा – फिसादो के कारणो, उसके स्वरूप और परिणामो को भलीभॉति दर्शाया है। प्रेमचन्द लिखते हैं – "हिन्दुओ और मुसलमानो मे आये दिन जूतियॉ चलती रहती थी। जरा – जरा सी बात पर दोनो दलो के सिरफिरे जमा हो जाते थे, दो – चार अग भग हो जाते थे। कही बनिये ने डडी मार दी और मुसलमानो ने उसकी दुकान पर धावा बोल दिया। कही किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घडा छू लिया और मुहल्ले मे फौजदारी हो गयी। एक मुहल्ले मे मोहन ने रहीम का कनकौआ लूट लिया, इसी बात पर मुहल्ले भर के हिन्दुओ के घर लुट गये। दूसरे मुहल्लो मे कुत्तो की लडाई पर सैकडो आदमी घायल हुये, क्योकि एक सोहन का कुत्ता था एक सईद का। दानो ही दल मजहब के नशे मे चूर थे। हिन्दुओ ने महावीर दल बनाया मुसलमानो ने अली गोल सजाया ख्वाजा साहब ने फतवा दिया जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय, उसे एक हजार हजो का सबाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पडितो की व्यवस्था मॅगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गोदान से श्रेष्ठ है।"[117]

प्रेमचन्द इसी उपन्यास मे साम्प्रदायिक हिसा की क्रूरता का चित्रण कुछ इस प्रकार करते है – "हिन्दू मुहल्लो के द्वार बन्द हो गये, बेचारे कोठरियो मे बैठ जान की खैर मना रहे थे कि यह सकट हटे। रास्ते मे जो हिन्दू मिला वह पिटा, घर लुटने लगे, हाय – हाय का शोर मच गया, दीन के नाम पर ऐसे – ऐसे कर्म होने लगे जिन पर पशुओ को भी लज्जा आती है, पिशाचो के रोये खडे हो जाते हैं। लेकिन बाबू यशोदानन्दन के मरने की खबर पाते ही सेवादल के युवको का खून खौल उठा। सेवादल के दो सौ युवक तलवारे लेकर निकल पडे और मुसलमान मुहल्ले मे घुसे। दो – चार पिस्तौल और बन्दूके भी खोज निकाली गयी। हिन्दू मुहल्ले मे जो कुछ मुसलमान कर

रहे थे, मुसलमान मुहल्ले मे वही हिन्दू करने लगे। अहिसा ने हिसा के आगे सिर झुका दिया। ये ही सेवा व्रतधारी युवक जो दीनो पर जान देते थे, अनाथो को गले लगाते थे और रोगियो की सुश्रुषा करते थे, इस समय निर्दयता के पुतले बने हुये थे। पाशविक वृत्तियो ने कोमल वृत्तियो का सहार कर दिया था। उन्हे न दीनो पर दया आती थी न अनाथो पर, हॅस – हॅसकर भाले और छुरे चलाते थे, मानो लड़के गुड़िया पीट रहे हो। उचित तो यह था कि दोनो दलो के योद्धा आमने – सामने खडे हो जाते और खूब दिलो के अरमान निकालते, लेकिन कायरो की वीरता और वीरो की वीरता मे बडा अन्तर है।"[118]

एक दूसरे सम्प्रदाय के प्रति शका और स्थायी भय समय पाकर धीरे –धीरे साम्प्रदायिक विप्लव का रूप ग्रहण कर लेता है। प्रेमचन्द साहित्य मे इन कारणो के आधार पर प्रारम्भ मे हुये दगो की सूचना मिलती है। अग्रेज प्रशासक चाहते थे कि भारतवर्ष मे साम्प्रदायिक दगे होते रहे। प्रेमचन्द इस सम्बन्ध मे लिखते है – 'हिन्दू मुस्लिम एकता हुक्काम की नजरो मे कॉटे की तरह खटकती थी। इसीलिये जब धनी – मानी लोग किसी ऐसे आन्दोलन का उत्साह के साथ स्वागत करे, जिससे एकता को नुकसान पहुॅचने का यकीन है तो जाहिर है कि उनका उसमे शरीक होना उनके मन की बात नही, बल्कि किसी की प्रेरणा से होने वाली बात है।"[119] उन्होने दोनो सम्प्रदायो मे ऐसे व्यक्ति पैदा कर दिये थे कि जो अपने स्वार्थ के लिए एक दूसरे सम्प्रदाय को भिडाना चाहते थे। ऐसी मनोवृत्ति का परिचय प्रेमचन्द 'सेवा सदन" मे तेग अली के माध्यम से करवाते है – "आजकल पोलिटिकल मफाद का जोर है, हर ओर इन्साफ का नाम न लीजिये। अगर आप मुदर्रिस हैं तो हिन्दू लडको को फेल कीजिये।तहसीलदार हैं तो हिन्दुओ पर टैक्स लगाइये, मजिस्ट्रेट हैं तो हिन्दुओ का सजा दीजिये। सब इन्सपेक्टर पुलिस हैं तो हिन्दुओ पर झूठे मुकदमे दायर कीजिये। तहकीकात करने जाइये तो हिन्दुओ के बयान गलत लिखिये, अगर आप चोर है तो किसी हिन्दू के घर मे डाका डालिये, अगर आपको हुश्न और इश्क का खब्त है तो किसी हिन्दू नाजनीन को उडाइये। तब आप कौम के खादिम कौम के मुहासिन कौमी किश्ती के नाखुदा, सब कुछ है।"[120]

इस प्रकार की प्रवृत्ति वाले सामाजिक जीवन के सभी महत्वपूर्ण हिस्सो को अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये अपने हित मे ढालने की कोशिश करते हैं। प्रेमचन्द ने इसे 'सेवासदन' के तेग अली के माध्यम से बडे तार्किक ढग से प्रस्तुत किया है – इस वक्त उर्दू – हिन्दी का झगडा, गोकशी का मसला, जुआखाना इन्तखाव खुद का मुआविजा कानून, इन सबो से मजहबी तास्सुब

के भडकाने मे मदद ली जा रही है।''[121] प्रेमचन्द यह भी जानते थे कि दोनो वर्गो मे ऐसे लोग हैं जो अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सम्प्रदायवाद को जीवित रखना चाहते हैं। कायाकल्प के अन्तर्गत ऐसे लोगो का चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। ख्वाजा महमूद के शब्दो मे वे कहते है — ''दोनो कौमो मे कुछ लोग है जिनकी इज्जत और जब्त दोनो को लडाते रहने पर ही कायम है। बस, वह एक न एक शिगूफा छोडा करते है।''[122] प्रेमचन्द यह मानते थे कि लोग अपने स्वार्थ के लिए साम्प्रदायिकता का आधार लेते हैं।[123]

प्रेमचन्द चिन्तित थे कि साम्प्रदायिक समस्या राजनीति को उलझाती जा रही थी। विभिन्न स्थानो पर हुये दगो ने दोनो वर्गो को एक दूसरे का विरोधी बना दिया था और वे राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने लगे थे। भारतीय एकता के विरोधी कभी यह कहते नही थकते कि जब तक हिन्दुओ और मुसलमानो मे हिस्से का समझौता न हो जाय, मुसलमान इस सग्राम मे शामिल नही हो सकते। इस कथन मे कितनी सच्चाई है, इसे मुस्लिम जनता अब समझने लगी है, वह यह कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनो जातियो के वैमनस्य से फायदा उठाती रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा
हिस्से का निश्चय करने के लिए एक से अधिक बार कोशिश की गयी, यहॉ तक कि आज भी सर तेज बहादुर सप्रू सर्वदल सम्मेलन कराने मे लगे हैं। मगर उन कोशिशो का फल क्या निकला ? समझौता न हुआ । हिन्दुस्तान यदि इतने दिनो की गुलामी से कुछ सीख सका है तो वह यह है कि समाज के किसी अग को असतुष्ट रखकर राष्ट्र दुनिया मे उन्नति नही कर सकता
महात्मा गॉधी ने तो यहॉ तक कह दिया है कि मुसलमान जितना चाहे ले ले, इसमे हिस्से का सवाल नही है। स्वराज्य के अधीन राज पद धन कमाने का साधन नही प्रजा की सेवा का साधन होगा।[124]

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के स्थगन के उपरान्त देश मे व्याप्त राजनैतिक अनिश्चितता मे विद्यमान साम्प्रदायिक कलह की प्रवृत्तियो की ओर इगित करते हुये प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं — ''एक तरफ काग्रेस गोलमेज की शर्तों पर विचार कर रही थी, दूसरी ओर काशी मे विद्रोह की आग दहक रही थी और ठीक उस समय कांग्रेस समझौते की स्वीकृति पर अपना फैसला सुनाने जा रही थी। कानपुर मैं भीषण हत्याकाण्ड आरम्भ हो गया था
एक मास के अन्दर काशी, मिर्जापुर, आगरा, कानपुर आदि स्थानों मे जातिगत वैमनस्य का इतना भयकर रूप धारण कर लेना अगर हमें कोई शिक्षा देता है तो वह यह कि मुस्लिम भाइयो को साथ न ले चलने की हमने भूल की। यह

सत्य है कि हमने उनकी सहायता के लिए सदैव हाथ फैलाये रखा, सदैव उनकी सहानुभूति की याचना करते रहे, लेकिन यह भी मानना पडेगा कि बगैर आपस मे समझौता किये हुये सत्याग्रह आन्दोलन का सूत्रपात कर देना हमारे मुस्लिम भाइयो को अप्रिय ही न लगा उसने कुछ सन्देह ही उत्पन्न किया। शायद आन्दोलन की सफलता ने उन्हे भयभीत कर दिया।''[125]

अन्य ऐतिहासिक स्रोतो के आधार पर बिपनचन्द्र भी लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। 1934 तक मुसलमानो के मन मस्तिष्क पर हिन्दूओ का लगभग पूर्णरूपेण कब्जा हो चुका था। विजेता हिन्दुओ के दल असगठित, भ्रमित और हतोत्साहित मुसलमानो के दलो को हिन्दुत्व के घेरे मे समेटने लगे थे।[126] इसी सन्दर्भ मे प्रेमचन्द ने पुन लिखा है — ''हमारे भाइयो मे अब भी एक ऐसा शक्तिशाली समूह है जो स्वराज से डरता है। उसे भय है कि स्वराज मे हिन्दू बहुमत उसे पीस डालेगा। इस समय हमारी सारी कोशिश अपने मुस्लिम भाइयो की सहानुभूति प्राप्त करने, उनके दिलो मे शका और अविश्वास को मिटाने मे लगनी चाहिये। यही हमारे राजनीतिक उद्धार की कुजी है।''[127]

गोजमेज सम्मेलन मे मुस्लिम प्रतिनिधियो की हठधर्मिता के चलते समझौते के सारे प्रयास असफल हो गये। मुस्लिमो की इस नीति से दुखी प्रेमचन्द ने 1931 मे 'गोलमेज परिषद मे गोलमाल'' शीर्षक से लिखा — ''महात्मा जी को यदि मालूम होता कि मुस्लिम मेबर वहॉ अडॅगा लगायेगे तो वह जाते ही क्यो ? हिन्दू बहुमत मे है। किसी हिकमत से भी उनकी सख्या घटाई नही जा सकती। उधर मुसलमान कोई ऐसी व्यवस्था मजूर नही करेगे, जिससे बहुमत से किसी हानि की सभावना हो। इसलिये भारत को जन्म —जन्मान्तर तक इसी पराधीनता की दशा मे रहना होगा। उनकी रक्षा के लिये भारत पर अग्रेजो का शासन अनिवार्य है तो क्या हिन्दू उस वक्त तक चुपचाप बैठे रहे, जब तक उनका बहुमत घटते—घटते अल्पमत न हो जाय

गोलमेज के मुस्लिम प्रतिनिधियो को हिन्दूओ पर विश्वास नही है, अग्रेजो पर विश्वास है, जिनसे उनका चोली — दामन का साथ है, जिनके साथ उनका भाई चारा है, उन पर उन्हे विश्वास नही है।''[128] नवम्बर 1931 मे प्रेमचन्द को विश्वास हो चला था कि — ''जरूरत यह है जैसा हम पहले कह चुके हैं कि हम गलत इतिहास को दिल से निकाल दे और देशकाल का भलीभॉति विचार करके अपनी धारणाये स्थिर करे, तब हम देखेंगे कि जिन्हे हम अपना शत्रु समझते थे, उन्होने वास्तव मे दलितों का उद्धार किया है, हमारे जातिपॉत के कठोर बन्धनो को सरल किया है और हमारी सभ्यता के विकास मे सहायक सिद्ध हुये हैं।''[129]

ब्रिटिश सरकार की साम्प्रदायिक नीति का पर्दाफाश करते हुये प्रेमचन्द ने लिखा – "साम्प्रदायिक भेदनीति आपत्ति जनक है। गवर्नमेट भारत को राष्ट्र नही समझती हम अपने व्यवहार से ऐसा समझने का अवसर नही देते हमे यह दिखाना है कि तुम चाहे हमे कितने टुकडो मे बॉटो हम परवाह नही करते हम एक राष्ट्र है।[130] इसी तरह भारत सरकार के गृह विभाग ने सरकारी नौकरियो के बॅटवारे के सम्बन्ध में जो विज्ञप्ति प्रकाशित की है, उसमे उसकी नीयत का ठीक – ठाक पता लग जाता है। साम्प्रदायिकता के नाम पर मुसलमानो के लिये 25 प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। हमारी समझ मे इसका आशय यही है कि सरकार हमारी राष्ट्रीय प्रगति को कुचलने का प्रयत्न कर रही है।[131]

प्रेमचन्द के रचना कर्म मे साम्प्रदायिकता केवल एक समस्या बनकर नही रह गयी है बल्कि उसके निवारण के कई सुझाव अपने उपन्यासो मे प्रस्तुत किये है। कायाकल्प मे प्रथम बार चक्रधर अपनी जान पर खेलकर दगा बचा लेता है। कुर्बानी के प्रश्न पर चक्रधर कहता है – "हर एक कुर्बानी हिन्दुस्तान के 21 करोड हिन्दुओ के दिलो को जख्मी कर देती है। और इतनी तादात मे दिलो को दुखाती है कि बडी से बडी कौम के लिए भी एक दिन पछतावे का विषय हो सकता है। हिन्दुओ से ज्यादा धीर कौम दुनिया मे नही है, लेकिन जब आप उनकी दिलजारी और महज दिलजारी के लिये कुर्बानी चाहते है, तो उनको सदमा जरूर होता है और उनके दिलो मे जो शोला उठता है, उसका आप ख्याल नही कर सकते। अगर आपको यकीन न आये, देख लीजिये कि इस गाय के साथ एक हिन्दू कितनी खुशी से अपनी जान दे सकता है।[132] चक्रधर का आत्म त्याग सारा मामला शान्त कर देता है।

प्रेमचन्द ने गाय की रक्षा इसलिये नही कराई कि उन्हे गाय से प्रेम था या वे गाय के भक्त थे अथवा वे हिन्दुओ के पक्षपाती थे। आत्म त्याग को वे समस्या के समाधान का एक साधन मानते थे। गॉधी की धारणा थी कि एक गाय की रक्षा के लिये किसी मनुष्य की हत्या हिन्दूपन नही है।[133] प्रेमचन्द का चक्रधर भी यही कहता है – "अहिसा का नियम गायो के लिए ही नही मनुष्यो के लिए भी तो है।' [134] गाय के सम्बन्ध मे गॉधी का कहना था कि हमे अपनी कमियो को दूर करना होगा क्योकि हम गाय की पूजा करते हैं परन्तु बूढा होने पर उन्हे कसाई को दे देते हैं। उनके बछडो को भूखा मारते हैं और गाय को भूखा मरने के लिए छोड देते हैं।[135] प्रेमचन्द का भी यही कहना था 'गोरक्षा के सारे होहल्ले के बावजूद हिन्दुओ ने गोरक्षा का ऐसा कोई सामूहिक प्रयत्न नही

किया जिससे उनके दावे का व्यवहारिक प्रमाण मिल सके। गोरक्षिणी सभाये कायम करके धार्मिक झगडे पैदा करना गोरक्षा नही है।   हम देखते हैं कि बैलो के लिए चारा मयस्सर नही तो गायो के लिए (जब बुड्ढी मरियल, कमजोर हो जाय) चारा इकट्ठा करने की दिक्कत किसी किसान से पूछिये। **वह गायो को भूख से एड़ियॉ रगड – रगडकर मरने के बदले उन्हे कसाई के हवाले कर देना ज्यादा अच्छा समझता है।[136] स्पष्ट है कि प्रेमचन्द गॉधी की भॉंति गाय के नाम पर साम्प्रदायिक दगे के प्रबल विरोधी हैं।**

प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिकता के विरोध का महत्वपूर्ण सोपान 'धर्मान्धता के विरोध' को माना है। उन्होने अपने लेखन मे धार्मिक शिक्षा पर जोर देते हुये इसके लिये मध्ययुगीन इतिहास को स्वस्थ प्रगतिशील दृष्टि से लिखने पर बल दिया है। साम्राज्यवादियो ने भारतीय इतिहास को अपने स्वार्थमयी दृष्टिकोण से लिखा है। मध्ययुगीन लेखको ने हिन्दू राजाओ एव मुस्लिम बादशाहो के वर्णन मे हिन्दू – मुसलमानो के आपसी वैमनस्य को बढा चढाकर लिखा है और आगामी पीढियो के दिलो मे द्वेष और धार्मिक कट्टरता की विषैली भावनाये भरने का प्रयत्न किया है। इस तरह का ज्वलन्त उदाहरण प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास 'कर्मभूमि ' मे स्पष्ट रूप से दर्शाया है। इसमे जिला हाकिम गजनवी तवारीख के सम्बन्ध मे सलीम से कहता है – "गलत तवारीखे पढ – पढकर दोनो फिरके एक दूसरे के दुश्मन हो गये हैं   लेकिन इस ख्याल से तसल्ली होती है कि इस बीसवी सदी मे हिन्दुओ जैसी – पढी लिखी जमात मजहबी गिरोह बन्दी की पनाह नही ले सकती। मजहब का दौर तो खत्म हो गया है। सिर्फ हिन्दुस्तान मे उसमे कुछ – कुछ जान बाकी है। यह तो दौलत का जमाना है।   अब कौम मे अमीर और गरीब, जायदाद वाले और मरभुखे अपनी – अपनी जमायते बनायेग, उनमे कही ज्यादा खूँरेजी होगी। आखिर एक दो सदी के बाद दुनिया मे एक सल्तनत हो जायेगी। सबका एक कानून, एक निजाम होगा, कौम के खादिम कौम पर हुकूमत करेगे, मजहब शख्सी चीज होगी। '[137]

प्रेमचन्द साहित्य मे धर्म व्यक्तिगत आस्था एव विश्वास का विषय है। मदिर और मस्जिद कहानी का दगा मुसलमानो द्वारा मदिर मे आक्रमण से होता है। चौधरी इतर अली का राजपूत चपरासी मदिर मे चौधरी साहब के दामाद की हत्या कर देता है। इकलौते दामाद और जायदाद के वारिस शाहिद हुसैन की हत्या के बाद भी चौधरी साहब का मत है – "मै अगर खुद शैतान के बहकावे मे आकर मदिर मे घुसता और देवता की तौहीन करता और तुम मुझे

पहचानकर भी कत्ल कर देते, तो मैं अपना खून माफ कर देता। किसी दीन घर की तौहीन करने से बडा और कोई गुनाह नही है।'[138] स्पष्ट है प्रेमचन्द किसी के धर्म की तौहीन पसन्द नही करते थे, चाहे वह हिन्दू का हो या मुसलमान का। चौधरी साहब भजनसिह की रक्षा ही नही करते, मुकदमे मे उसकी पैरवी करते हैं और उसे बचा लेते हैं। चौधरी की धारणा है — "मदिर भी खुदा का घर है और मस्जिद भी। मुसलमान किसी मदिर को नापाक करने के लिये जिस सजा के लायक है क्या हिन्दू मस्जिद को नापाक करने के लिये उसी सजा के लायक नही।"[139] साम्प्रदायकिता के सामाधान की ओर इससे अच्छा इशारा और क्या हो सकता है।

प्रेमचन्द राष्ट्रीय स्तर पर साम्प्रदायिक भेदभाव को मिटा देना चाहते थे। उन्होने अक्टूबर 1931 के अक मे हस मे लिखा था — "धर्म का सम्बन्ध मनुष्य से और ईश्वर से है। उसके बीच मे देश जाति और राष्ट्र किसी को भी दखल देने का अधिकार नही है। हम इस विषय मे स्वाधीन हैं। हम मस्जिद मे जायॅ या मन्दिर मे, हिन्दी पढे या उर्दू, धोती बॉधे या पाजामा पहने हम स्वाधीन है, लेकिन धर्म के नाम पर राष्ट्र को भिन्न — भिन्न दलो मे विभक्त करना, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धो को राष्ट्रीय मामलो मे घसीट लाना, राष्ट्रीय भारत कभी गवारा नही करेगा मुट्ठी भर पढे लिखे आदमियो को कोई अधिकार नही कि वह अपने हलवे — माडे के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र का जीवन सकटमय बनावे हॉ वह समय अब दूर नही जब भारत इस नकली आदर्श से विद्रोह करेगा और पृथकता के मकडी के से जाल को छिन्न — भिन्न कर देगा।"[140] प्रेमचन्द यह जानते थे कि राष्ट्र को परस्पर ईर्ष्या और द्वेष के घातक प्रभाव से बचाने के लिए केवल एक ही उपाय है — साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का शमन।[141]

इसके लिये प्रेमचन्द ने दोनो सम्प्रदायो की समस्याओ के समाधान के लिये पचायत का सुझाव दिया है। पचायत व्यवस्था का थोडा सा जिक्र प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास "कायाकल्प" मे किया है। इसमे आपसी झगडो तथा समस्याओ के निपटाने के लिये ख्वाजा महमूद और चक्रधर तय करते हैं — एक पचायत बनायी जाय और आपस के झगडे उसी के माध्यम से तय हुआ करे।[142]

हिन्दू — मुस्लिम एकता के बडे ही मार्मिक चित्र प्रेमचन्द के उपन्यासो मे उपलब्ध है। 'कर्मभूमि' उपन्यास मे सलीम और लाला समरकान्त का साथ बैठकर भोजन करने का दृश्य हिन्दू — मुसलमानो के घायल हृदय पर मरहम — पट्टी का काम करता है — सेठजी सन्ध्या करके लौटे तो देखा, दो कम्बल

बिछे हुये है और दो थालियाँ रखी हुई है। सेठजी ने खुश होकर कहा कि यह तुमने बहुत अच्छा इतजाम किया। सलीम ने हँसकर कहा — "मैने सोचा आपका धर्म क्यो लूँ, नही एक ही कम्बल रखता, अगर यह ख्याल है तो तुम मेरे कम्बल पर आ जाओ। नही मैं ही आता हूँ। वह थाली उठा सलीम के कम्बल पर आ बैठे। अपने विचार से आज उन्होने अपने जीवन का महान त्याग किया। सारी सम्पत्ति दान देकर भी उनका ह्रदय इतना गौरवान्वित न होगा। सलीम ने चुटकी ली — अब तो आप मुसलमान हो गये। सेठ जी बोले — मै मुसलमान नही हुआ, तुम हिन्दू हो गये।"[143]

इस चयनात्मक सर्वेक्षण द्वारा मैंने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक समस्याओ को अपने साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान दिया लेकिन जिस हिन्दू–मुस्लिम एकता की भावना को प्रेमचन्द ने अपने साहित्य लेखन का महत्वपूर्ण विषय बनाया और मानवता को उच्च भावनाओ की जो निधि प्राप्त हुई उसे राष्ट्रवादी आन्दोलन के परवर्ती चरण मे व्यवहार मे नही लाया जा सका। प्रेमचन्द ने जिस हिन्दू–मुस्लिम एकता का सपना देखा था, वह उनके जीवन पर्यन्त तो पूर्ण नही हो सका और न आगे ही, बल्कि उस एकता की नीव गिरती हुई नजर आयी। लेकिन जब तक पेमचन्द साहित्य जीवित है वह साम्प्रदायिकता के समक्ष एक चुनौती है क्योकि प्रेमचन्द ने न केवल इस समस्या को उठाया बल्कि इस महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न का धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक हल खोजने का प्रयत्न भी किया है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

जयशकर प्रसाद (1890–1937) वाराणसी के प्रसिद्ध 'सुँघनी साहू' परिवार मे आविर्भूत हुये थे। परिवार के सात्विक एव धार्मिक सस्कारो का प्रसाद जी पर गभीर प्रभाव पडा था। पिता के साथ कई धार्मिक एव ऐतिहासिक तीर्थयात्राओ मे भाग लेने के कारण भी उनका व्यक्तित्व उदार एव सवेदनशील था। स्कूल की नियमित शिक्षा तो केवल आठवे दर्जे तक प्राप्त की थी, किन्तु स्वाध्याय द्वारा भारतीय इतिहास, सस्कृति, दर्शन, साहित्य और पुराण कथाओ का बहुत गहरा अध्ययन किया जिनका उनके साहित्य — निर्माण मे अप्रतिम योगदान था।

इनकी लेखकीय रुझान के सन्दर्भ मे एक कथा प्रचलित है। अन्नप्राशन सस्कार के बाद उसी पूजा विधि मे पुस्तक, बही, मसिपात्र, लेखनी तथा बच्चे के मन को लुभाने वाली अन्य बहुत सी सतरगी वस्तुओ तथा खेलने योग्य लाल–पीली पदार्थवलियो के बीच शिशु प्रसाद को अपने मन की चीज चुन लेने के लिये छोड दिया गया। लोगो के आश्चर्य का ठिकाना नही रहा, जब सबकुछ छोडकर प्रसाद ने केवल लेखनी उठा ली।[144] बावजूद इसके जब प्रेमचन्द ने 1932 मे हस का आत्मकथाक निकाला, उसके लिये प्रसाद जी से भी आत्मकथा मॉगी, प्रसाद जी पहले तो तैयार नही हुये, किन्तु जब प्रेमचन्द ने बहुत आग्रह किया तो उन्होने अपनी आत्मकथा के नाम पर एक कविता भेज दी, जिसकी अतिम पक्तियॉ है – छोटे से जीवन की कैसी बडी कथाएँ आज कहूँ,/ क्या यह अच्छा नही की औरो की सुनता मैं मौन रहूँ ?/ सुनकर तुम क्या भला करोगे, मेरी भोली आत्मकथा ?/अभी समय भी नही थकी सोई है, मेरी मौन व्यथा।[145]

इससे स्पष्ट होता है कि उनका व्यक्तित्व अन्तर्मुखी एव आत्मप्रचार से दूर था। ऐसी स्थिति मे उनके जीवन सन्दर्भ मे कुछ कहना तथा रचनाओ के सन्दर्भ मे समझ विकसित करना एक दुष्कर प्रयास होगा। फिर भी विषय सम्बन्धित जिस पहलू का विवेचन यहॉ अभीष्ट है, उसके लिये आवश्यक है कि प्रसाद की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि एव वैचारिक मन स्थिति की तलाश की जाय। 1901 ई0 मे प्रसाद जी के पिता देवी प्रसाद की मृत्यु हो गयी कुछ समय पश्चात माता का देहान्त हो गया माता की मृत्यु के लगभग दो वर्षो बाद शभुरत्न जी (बडे भाई) का देहान्त हो गया प्रसाद की अवस्था इस समय 17 वर्ष थी। केवल 5 – 6 वर्षो के भीतर ही तीन अवसान देखे पिता – माता और भाई। वे अकेले रह गये नि सहाय। ऐसे सघर्ष के क्षणो मे भारतीय दर्शन ने प्रसाद जी को बडा सहारा दिया।[146] इससे स्पष्ट होता है कि उनकी व्यक्तिगत परिस्थितियो ने भी उनके वैचारिक सन्दर्भों को प्रभावित किया।

इसी सन्दर्भ मे जब हम प्रसाद को उनके समकालीन मुशी प्रेमचन्द के साथ रखकर देखते हैं तो स्पष्ट होता है कि प्रसाद और प्रेमचन्द अपने जीवन की यन्त्रणाओ के बीच अपनी साहित्यिक रुचि को अभिव्यक्ति देते हैं। यह एक सयोग है कि हिन्दी साहित्य की ये दोनो विभूतियॉ वाराणसी जनपद से ही सम्बन्धित थी और समकालीन भी। इन दोनो विभूतियो का साहित्यिक उद्देश्य भले ही एक रहा हो पर साहित्य की सरचना, स्वरूप तथा स्रोत मे उत्तर – दक्षिण का अन्तर था। प्रसाद जहॉ प्राय. ऐतिहासिक प्रतीको के माध्यम से

वर्तमान समस्याओ का अन्वेषण करते थे, वही प्रेमचन्द प्राय वर्तमान प्रतीको का सहारा लेते थे। उनके समकालीन निकटस्थ मित्र विनोद शकर व्यास लिखते है — "प्रसाद जी का सिद्वान्त बडा अटल था, वह मौन तपस्वी की भॉति अपना कार्य पूर्ण करते गये, कभी प्रचार और ख्याति के लिये लालायित नही हुये अभी तुम घबडा क्यो जाते हो आने वाला युग निर्णय करेगा।"[147] इसीलिये प्रसाद ने अपने सच्चे साथी साहित्य को समाज के सन्दर्भ मे अलग–अलग रूपो मे न केवल प्रस्तुत किया, अपितु एक स्वस्थ समाज का चित्रण कैसे होना चाहिए, इसका रास्ता भी दिखाया। प्रसाद ने इन्दु मे लिखा है — "जब तक समाज के उपकार के लिये कवि की लेखनी ने कुछ कार्य न किया हो, तब तक केवल उसकी उपमा और शब्द वैचित्र्य तथा अलकारो पर भूलकर हम उसे एक ऐसे कवि के आसन पर नही बैठा सकते, जिसने कि अपनी लेखनी से समाज की प्रत्येक कृतियो का स्पन्दित करके उसमे जीवन डालने का उद्योग न किया हो।"[148]

जब हम प्रसाद — साहित्य का विशद अनुशीलन करते हैं तो स्पष्टत कृतियो का स्पन्दन एव जीवन सायास ध्यान आकृष्ट करता है। यहॉ प्रसाद साहित्य के केवल उस पक्ष का विवेचन अभीष्ट है, जिसमे तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान हिन्दू–मस्लिम विभेद / सघर्ष का चित्रण मिलता हो। प्रसाद एक समन्वयवादी साहित्यकार थे, स्पष्ट था कि उनकी कृतियो मे ऐसे प्रसगो का चित्रण किसी पक्षधरता के साथ नही है। यद्यपि प्रसाद जीवन भर धार्मिक दृष्टिकोण वाले बने रहे — 'ईश्वर के प्रति निष्काम भावना और विश्वास प्रसाद मे अतिम समय तक बना रहा। आनन्द और नियतिवादिता का यह घना रिश्ता ईश्वर के माध्यम से ही बनता है। शैव मतावलम्बी जयशकर प्रसाद की सभी कृतियो मे प्राय एक अदृश्य शक्ति के सचालकत्व का तर्क दिखायी पडता है, जो घोर से घोर नास्तिक को अतत आस्तिक बना देता है।[149] किन्तु यहॉ यह स्पष्ट करना उचित है कि उनकी कृतियो मे जहॉ भी हिन्दू — मुस्लिम सघर्ष या समन्वय चित्रित है वहॉ किसी तरह का पूर्वाग्रह नही है। इसी दृष्टि से इन्ही दोनो बिन्दुओ पर उनके साहित्य का विवेचन होगा।

जयशकर प्रसाद अपने समकालीन साहित्यकर्मियो से कई अर्थो मे भिन्न रहे है। उनके साहित्य का सन्दर्भ स्रोत प्राय प्राचीन इतिहास से ग्रहण किया गया है। युगीन परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य मे प्रसाद द्वारा अतीत के स्रोतो से साहित्य सृजन के सन्दर्भ मे यह ध्यान रखना होगा कि यह युग नवोत्थान का युग था, जिसमे प्राय सभी राजनीतिज्ञ एव समाजशास्त्री प्राचीन गौरव को

महिमान्वित कर रहे थे। आर्य सस्कृति के प्रति अतिशय लगाव समाज एव धर्म सुधारको मे भी था। ऐसी पृष्ठभूमि मे प्रसाद का साहित्य स्रोत यदि समकालीन समाज नही है, तो आश्चर्य नही क्योकि समकालीन परिस्थितियो मे एक हताशा भारतीय मन मे छायी हुई थी। जिसके सन्दर्भ मे सुदूर अतीत के प्रति उन्मुखता स्वाभाविक एव अनिवार्य मान ली गयी। विद्या खण्डेलवाल के अनुसार – "सास्कृतिक पराभव, आर्थिक राजनैतिक विफलता और सामाजिक स्थापनाओ एव मूल्यो मे क्षरण के चलते प्रसाद का कलाकार मन दुखी और क्षुब्ध था। साथ ही अतीत कालीन आदर्शो के प्रति अनुराग और श्रद्धा की भावुकता भी प्रसाद मे प्रचुर परिमाण मे थी। इस कारण अपने राष्ट्रीय आदर्शो का चित्र प्रस्तुत करते समय वे न तो अपने युग के पराभूत जीवन को भूल पाते और न सस्कृति की उस शालीनता को जो विविध दर्शनो के माध्यम से फैलकर समस्त राष्ट्र का जीवन स्पन्दन बन चुकी थी।"[150]

यद्यपि कि प्रसाद ने अपने साहित्य सृजन का विषय प्राचीन इतिहास को बनाया, किन्तु वे इतिहासकार की भूमिका मे नही थे। अत उनकी इतिहास दृष्टि को साहित्यकार की दृष्टि से विवेचित करना ही अभीष्ट है। 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध" मे प्रसाद ने लिखा है – "साहित्यकार न तो इतिहासकार है और न धर्मशास्त्र प्रणेता। इन दोनो के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं, साहित्य इन दोनो की कमी को पूरा करने का कार्य करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है ? उसको दिखाते हुये उसमे आदर्शवाद का सामजस्य स्थिर करता है।"[151] ऐसा ही विचार अवधेश प्रसाद सिह का भी है – "प्रसाद जिस अतीत का चित्रण कर रहे थे, वह विकास दिश के निर्धारण हेतु भारतवासियो को आत्मबल प्रदान कर रहा था। प्रसाद विशुद्ध इतिहास नहीं लिख रहे थे। हम इस तथ्य को केन्द्र मे रखकर ही उनकी इतिहास दृष्टि को समझ सकते है, क्योकि प्रसाद की इतिहास दृष्टि मूलत राष्ट्रीय चेतना पर केन्द्रित है और अपनी रचनाओ के माध्यम से वे भारतीय इतिहास के जिन पृष्ठो की खोज पहचान और पुनर्व्याख्या करते है, उसका लक्ष्य मात्र अतीत गौरव नही, बल्कि पुनर्जागरण के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय एतिहासिक सकट का रेखाकन करना है। [152]

प्रसाद की इतिहास दृष्टि को साम्राज्यवादी इतिहासकारो के परिप्रेक्ष्य मे देखना चाहिये क्योकि वे भारत भूमि के इतिहास को एक वैचारिक हथियार के रूप मे प्रयुक्त कर रहे थे। उनकी भेद नीति जो कि आर्य सस्कृति के गौरव को खण्डित कर रही थी, उस पर प्रसाद ने लिखा है – 'हम इस भूमि की

सन्तान नही अपितु हमारे पूर्वज एक बर्बर आक्रान्ता रहे जिन्होने उन्नत द्रविड सस्कृति को ध्वस्त कर उनकी भूमि को अपहृत किया। वे प्रताडित द्रविड दक्षिण भारतीय है, इत्यादि के प्रचार मे देखा जा सकता है कि भेद नीति की कैसी प्रच्छन्न अव्यक्त और आरम्भिक भूमिका, इस भूमि पर पदार्पण करते ही विदेशी शासको ने बनाई थी, जिस भूमि पर उनके द्वारा आरोपित वर्ग द्वेष के कालकूट की विषलहरी आज भी इस महाजाति को मूर्च्छित किया करती है। वे दक्षिण भारत के आर्य केवल अपनी वर्ण श्यामलता से अनार्य बना दिये गये।''[153] यहॉ यह ध्यान रखना होगा कि साम्राज्यवादी शक्तियो द्वारा यह भेद–नीति राष्ट्रीय आन्दोलन के समय मे हिन्दू–मुस्लिम एव सिख समुदायो के सन्दर्भ मे धडल्ले से अपनायी जा रही थी।

यद्यपि प्रसाद की गुलाम जहॉआरा, ममता, स्वर्ग के खॅण्डहर, दासी आदि कहानियॉ एव महाराणा का महत्व, प्रलय की छाया, वीर बालक आदि कविताओ तथा प्रायश्चित नाटक का आधार जहॉ मध्यकाल है, वही कहानी 'गुण्डा' तथा उपन्यास ककाल एव तितली तथा शेरसिह का शस्त्र समर्पण'' कविता ब्रिटिश काल पर आधारित हैं, किन्तु अधिकाश प्रसाद साहित्य अतीत को ही आच्छादित करता है। इसके सन्दर्भ मे प्रसाद लिखते हैं – ''इसके आगे जो समय और समाज है, जिसमे विदेशी धर्म एव सस्कृति एक दूसरे रूप मे प्रबल हैं, जिसके सत्य का उद्घाटन किसी के मर्म पर आघात भी कर सकता है और भी आगे चलकर उत्तर मुगल – कम्पनी काल आता है, जिसे चित्रित करने मे कारावास भी हो सकता है। इस वृहत् कारा की छोटी जेलो को बसाने मे नही तोडने मे विश्वास करता हूँ, इसीलिये मैंने अपनी सीमा बना ली है।''[154] अवधेश प्रसाद सिह ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है –''प्रसाद ने मध्यकालीन इतिहास पर लेखनी नही चलाई। इसका कारण यह था कि प्रसाद मध्य युग को पतन का काल मानते थे। उनकी दृष्टि मे मध्यकालीन समाज अपने स्वार्थ मे इतना लिप्त था कि राष्ट्र या जाति के प्रति उसमे गौरव का भाव आ ही नही सकता था। परिणामत उस काल के सघर्ष के पीछे लोक शक्ति का अभाव है और उस अभाव ने पूरे मध्य युग को अधकार युग बनाकर रख दिया है।''[155]

प्रसाद के साहित्य सृजन मे मिथको एव प्रतीको का प्रयोग इस तरह से है कि वे उनकी साहित्यिक कल्पना मे घुल मिल जाते है। अवधेश प्रसाद सिह के अनुसार – ''प्रसाद मिथको को इतिहास का व्यापक स्रोत मानते थे और उसकी रचनात्मक भूमिका को अच्छी तरह पहचानते थे। इसीलिये मिथको को गभीरता से ग्रहण करते हुये उन्होंने उसके भीतर इतिहास और जीवन के

सत्यो का उद्घाटन किया।' [156] अत प्रसाद अपनी रचनाधर्मिता मे किसी भी मिथक को इतिहास की परिभाषा मे सत्य ठहराने की अनिवार्यता स्वीकार नही करते थे। इसीलिये वे अपने प्राचीन साहित्यिक धरोहरो को इतिवृत्त के रूप मे प्रस्तुत करने के लिये अपने साहित्य का आधार मान लेते हैं। उनके अनुसार — 'आदिम युग के मनुष्यो क प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय मे जो भावपूर्ण इतिवृत्त सग्रहीत किये थे, उन्हे आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है, क्योकि उन चरित्रो के साथ भावनाओ का बीच — बीच मे सम्बन्ध लगा हुआ सा दिखता है। घटनाये कही — कही अतिरजित सी जान पडती हैं   किन्तु उनमे भी कुछ सत्याश घटना से सम्बद्ध है, ऐसा तो मानना ही पडेगा। इसीलिये हमे अपनी प्राचीन श्रुतियो का निरुक्त के द्वारा अर्थग्रहण करना पडा, जिससे कि उन अर्थो को अपनी वर्तमान रुचि से सामजस्य किया जाय।"[157]

यहॉ प्रसाद की अतीतोन्मुखता पर भी विचार आवश्यक है, जैसा कि शिवकुमार मिश्र स्वीकार करते है — "अपने समान धर्माओ मे वे सबसे अधिक अतीतोन्मुख भी लगते हैं, गोकि उनके अनुसार अतीत का उनका सारा मथन वर्तमान के प्रयोजनो की तरह ही है।"[158] रमेशचन्द्र शाह का विचार है — 'उनकी रचनाओ मे अतीत इस तरह स्पन्दित और सृजित है, मानो वह वर्तमान की ही बात हो।"[159] प्रसाद अतीत की घटनाओ मे प्रतीको का प्रयोग ऐसे करते हैं जैसे वे समकालीन समाज की आवश्यकताओ को पूरा कर रहे हो। इसीलिये रामस्वरुप चतुर्वेदी इसे उनकी विशेषता मानते हुये कहते है — "छायावादी काव्य मे पुनर्जागरण की चेतना सीधे लहराती है। गीतो के अतिरिक्त कविताओ के खण्डो मे जागरण का स्वर गूँजता है।"[160]

स्पष्ट है प्रसाद की इतिहास दृष्टि बहुत कुछ अतीत की स्मृतियो के आधार पर बनी हुई थी। जिसका कारण सम्भवत' यह था कि वे समन्वयवादी एव समरस भावना के साहित्यकार थे। इसीलिये उन्होने विवादास्पद मध्यकाल पर लेखनी कम ही चलायी तथा वर्तमान काल भी लगभग इसी कारण अछूता रहा है, फिर भी जहॉ उन्होने इन पर लेखन कार्य किया है, वहॉ उन ऐतिहासिक विभेदो एव सघर्षो का निर्माण करने से बच नही सके हैं यद्यपि कि यहॉ भी सामजस्य एवं सौहार्द स्थापना का प्रयास दिखायी देता है।

इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि प्रसाद के धार्मिक दृष्टिकोण पर भी विचार किया जाय। इस प्रश्न पर उनका विचार मंथन काफी जटिल है।

धर्म का स्वरुप एव उसमे लोगो की आस्था कैसी हो ? धार्मिक ढोग से मुक्ति एव धर्म से राजनीति का सम्बन्ध क्या हो ? आदि प्रश्नो के साथ ही साम्प्रदायिकता के खिलाफ भी प्रतीकात्मक रूप से खडे होते है। व्यक्तिगत जीवन मे प्रसाद हिन्दू – शैव शाखा के अनुयायी थे। वे धर्म के आरम्भिक रुप को ही सत्य स्वीकार करते हैं और उसे पुन स्थापित करने का यत्न करते हैं। आर्य धर्म का आरम्भिक उल्लासमय स्वरूप यद्यपि एक बार भी नष्ट नही हुआ है, फिर भी उसे जगाना पडेगा। वह अलस, अवसादग्रस्त, अपनी कायरता के कारण विवेक का ढोग करने लगा है मुझे ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन आर्यवीर सस्कृति को लौटाने के लिये प्राचीन कर्मो को फिर से करना होगा, जिन्हे विवेक के अतिवाद के कारण मानवता के लिये हानिकर समझ लिया है।"[161]

प्रसाद हिन्दू समाज के अत्यधिक धार्मिक आग्रह पर भी चोट करते है– "देखो ! यह बीसवी शताब्दी मे तीन हजार बी सी का अभिनय, समग्र ससार अपनी स्थिति रखने के लिये चचल है। रोटी का प्रश्न सबके सामने है, फिर भी मूर्ख हिन्दू अपनी पुरानी सभ्यताओ का प्रदर्शन कराकर पुण्य सचय किया चाहते हैं।"[162] इसी प्रकार वे मूर्तिपूजा को भी आवश्यक मानते हैं – 'हिन्दू समाज तुम्हे मूर्ति पूजा करने के लिये बाध्य नही करता तुम अपने को उपयुक्त समझते हो तो उससे उच्चतर उपासना प्रणाली मे सम्मिलित हो जाओ।"[163] धार्मिक आडम्बर का विरोध करते हैं – "मै आडम्बर नही चाहता, व्यक्तिगत श्रद्धा से जो जितना कर सके उतना ही पर्याप्त है।"[164]

प्रसाद धार्मिक सगठनो की उस प्रवृत्ति पर भी प्रहार करते हैं जो युवा शक्ति को सन्यास धर्म धारण करने एव ब्रहमचर्य पर बल देती है। 'देवरथ' कहानी की सुजाता से यही बात व्यक्त करवाते हैं – 'पवित्र गार्हस्थ्य बन्धनो को तोडकर तुम लोग भी वासना तृप्ति के अनुकूल ही तो एक नया घर बनाते हो, जिसका नाम बदल देते हो। तुम्हारी तृष्णा तो साधारण सरल गृहस्थो से भी तीव्र है, क्षुद्र एव निम्न कोटि की है तुम्हारा यह काल्पनिक आडम्बर पूर्ण धर्म भी मरेगा। मनुष्यता का नाश करके कोई धर्म खडा नही रह सकता।' [165] विशाख नाटक मे प्रेमानन्द कहते हैं – "वैराग्य अनुकरण करने की वस्तु नही है, जब वह अन्तरात्मा मे विकसित हो जब तक सुखभोग कर चित्त उनसे उपराम नही होता, मनुष्य पूर्ण वैराग्य नही पाता।"[166] इस प्रकार प्रसाद धर्म को रूढियो से मुक्त कर प्राचीन आर्य धर्म की स्थापना की बात करते हैं। जैसा कि रत्नशकर प्रसाद लिखते हैं – "प्रसाद की प्रमुख चिन्ता दिव्य आर्य

सस्कृति की स्थापना है। यह सस्कृति व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास को मान कर चलती है और विधि निषेध के बन्धनो से मुक्त रखती है। आर्य समाज से प्रभावित होते हुये भी प्रसाद आर्य समाज की शुष्कता से रहित है।''[167]

प्रसाद धर्म की राजनीति करने का विरोध करते हैं, यद्यपि कि राजनीति का एक धर्म मानते हैं, लेकिन दोनो के घाल–मेल के पक्षधर नही हैं। प्रसाद के अन्तिम अपूर्ण उपन्यास 'इरावती'' मे सम्राट बौद्धबिहार मे अधिक रुचि लेते हैं – 'कहो तो धर्म महामात्र की स्थविर से कैसी पटती है ? सम्राट इरावती को रगशाला मे देखना चाहते हैं। धर्म महामात्र ने स्थविर से कहा कि किसी आपत्ति दोष से उसे सघ से बाहर कर दिया जाय, तो उसे रगशाला मे ले जाने मे सुविधा होगी।''[168] प्रसाद शासक की धर्म पर निर्भरता की भी आलोचना करते हैं और इसे ही भारत की पराधीनता का कारण भी मानते हैं – ''धर्मशाला पूछते है आप ? समूचा मगध धर्मशाला ही तो है। जहॉ चाहिये पूछना क्या यही सुनकर तो सुदूर यवन देश से बहुत अतिथि आ गये है।''[169] प्रसाद इस दृष्टिकोण के समर्थक है कि धर्म राजनीति को बचाता है न कि राजनीति धर्म को। धर्म को बचाने के लिये तुम्हे राजशक्ति की आवश्यकता हुई, धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव बल केद्वार सुरक्षित होगा।''[170]

प्रसाद की इसी वैचारिक पृष्ठभूमि मे उनकी रचनाओ मे हिन्दू–मुस्लिम सघर्ष का कुछ चित्रण मिलता है। प्रसाद की कहानियो 'अशोक'', 'दासी'', 'चक्रवर्ती का स्तभ', 'ममता', 'गुलाम', 'स्वर्ग के खण्डहर', 'सलीम' एव 'चित्तौर का उद्धार' मे इसे देखा जा सकता है। इसी प्रकार उनकी कविताओ 'महाराणा का महत्व', 'वीर बालक', 'शेर सिह का शस्त्र समर्पण', 'प्रलय की छाया', नाटक प्रायश्चित, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त एव ककाल तथा तितली जैसे उपन्यासो मे कुछ मे प्रत्यक्ष तथा कुछ मे अप्रत्यक्ष रूप से यह सघर्ष दिखायी पडता है। इनमे प्राय उन प्रतीक शब्दो एव मान्यताओ का प्रयोग हुआ है, जो साम्प्रदायिक सन्दर्भो मे व्यवहृत होते हैं।

अपने निबन्ध सग्रह 'काव्य कला एव अन्य निबन्ध'' मे प्रसाद मध्यकालीन भारत को आतक एवं अस्थिरता का युग बताते हैं। साम्प्रदायिक विद्वेष के लिये ब्रिटिश प्रशासन को दोषी ठहराते हुये कहते हैं – 'तुम दोनो देखो राष्ट्रनीति/शासक बन फैलाओ न भीत।''[171] कहानी 'अशोक' मे बौद्धो द्वारा जैन समुदाय पर अत्याचार का मार्मिक चित्रण है, जो समसामयिक हिन्दू – मुस्लिम साम्प्रदायिक हिसा की ओर संकेत करता है।[172] प्रसाद ने अपनी कहानी

चित्तौर का उद्धार मे यद्यपि कि राजपूतो के आपसी सघर्ष को चित्रित किया है किन्तु हम्मीर की विजय इस प्रकार चित्रित करते है — 'आपको चित्तौर का सिंहासन सुखद हो, देश की श्री वृद्धि हो, हिन्दुओ का सूर्य मेवाड गगन मे एक बार फिर उदित हो। [173] जिससे अप्रत्यक्षत विदेशी शासन के प्रति एकजुट होने का सकेत मिलता है।

प्रसाद की कहानी 'गुलाम' मे हिन्दू — मुसलमानो के बीच के वैमनस्य को उभारा गया है। मुगल बादशाह शाहआलम मराठा सरदार सिन्धिया के प्रभाव मे है — 'भारत के सपूत, हिन्दुओ के उज्ज्वल रत्न छत्रपति महाराज शिवाजी ने जो अध्यवसाय और परिश्रम किया, उसका परिणाम मराठो को अच्छा मिला शाह आलम के दरबार मे क्या भारत मे — आज मराठा वीर सिन्धिया ही नायक समझा जाता है।[174] किन्तु शाहआलम का एक कर्मचारी इस हिन्दू प्रधानता से ईर्ष्या करता है — 'शुभचिन्तक होने पर भी वह सिन्धिया की प्रधानता से भीतर — भीतर जला करता था। मसूर के शब्दो मे — 'हमारे आका शहशाह हिन्द एक काफिर के हाथ की कठपुतली न बने रहे।' [175]

मुस्लिम आक्रान्ताओ द्वारा हिन्दू देवस्थानो की तोड—फोड का जिक्र कहानी चक्रवर्ती का स्तभ मे है — 'किन्तु निष्ठुर सैनिको ने कुछ न सुना। तोड—ताड, लूट—पाट करके सब पुजारियो को, बुतपरस्तो को बॉधकर उनके धर्म विरोध का दण्ड देने के लिये ले चले।' इस पर कहानी का एक पात्र धर्मरक्षित पूछता है— 'सैनिको तुम्हारा भी कोई धर्म है।' एक ने कहा — 'सर्वोत्तम इस्लाम धर्म।' धर्मरक्षित — क्या इसमे दया की आज्ञा नही ? उत्तर न मिला क्या पागल बूढे से बक — बक कर रहे हो ? कोई ऐसी फिक्र करो कि किसी बुत की परस्तिश का ऊँचा मीनार तोडा जाय।''[176] कहानी 'ममता'' मे अफगान शासक शेरशाह द्वारा हिन्दू दुर्ग रोहिताश्व पर छलपूर्वक अधिकार किये जाने का चित्रण है — 'बात बढ गयी। तलवारे खिची, ब्राह्मण वही मारा गया और राजा — रानी और कोष छली शेरशाह के हाथ पडे, निकल गयी ममता। डोली मे भरे हुये पठान सैनिक दुर्ग भर मे फैल गये।''[177] इसी कहानी मे मुगल बादशाह हुमायूँ चौसा युद्ध मे पराजित हो शरण के लिये ममता की झोपडी मे पहुँचता है तो वह सोचने लगी — 'ये सब विधर्मी दया के पात्र नही— मेरे पिता का वध करने वाले आततायी । घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।' [178] यह वर्णन दोनो सम्प्रदायो के बीच वैमनस्य को रेखाकित करता है, यद्यपि कि ममता द्वारा हुमायूँ को शरण दी जाती है।

प्रसाद ने प्राय हिन्दू – मुस्लिम सम्बन्धो के प्रमुख मुद्दो पर ध्यान दिया है, यद्यपि इस सन्दर्भ मे परिमाण मे उनका लेखन कार्य कम ही है। कहानी 'स्वर्ग के खण्डहर' मे सीमान्त पर आक्रमण, मुस्लिम आतक तथा धर्मपरिवर्तन के प्रलोभन तीनो का चित्रण है। यह कहानी चगेज खॉ के आक्रमण के सन्दर्भ मे लिखी गयी है। सीमान्त पर आक्रमण की समस्या को इस प्रकार उठाया गया है – 'वाह्लीक, गाधार, कपिशा और उद्यान मुसलमानो के भयानक आतक मे कॉप रहे थे। गाधार के अतिम आर्य नरपति भीमपाल के साथ ही शाही वश का सौभाग्य अस्त हो गया।''[179] मुस्लिम आतक का चित्रण इस प्रकार है – 'तलवार के बल पर शान्ति स्थापित कर पृथ्वी पर स्वर्ग बनाना चाहता है। पृथ्वी को केवल वसुन्धरा होकर मानव जाति के लिये जीने दो। अपनी आकाक्षा के लिये, कल्पित स्वर्ग के लिये, इस महती को, इस धरणी को नरक न बनाओ, जिससे देवता बनने के प्रलोभन मे पडकर मनुष्य राक्षस न बन जाय शेख ।[180] इसी कहानी मे हिन्दू पात्र लज्जा को शेख प्रलोभन देता है, जो धर्मान्तरण की ओर सकेत करता है – 'उसने कहा तुम ठीक मेरे स्वर्ग की रानी होने योग्य हो। यदि मेरे मत मे तुम्हारा विश्वास हो, तो मैं तुम्हे मुक्त कर सकता हूँ। बोलो।''[181]

महमूद गजनवी के आक्रमण के बाद की स्थितियो का वर्णन कहानी 'दासी' मे मिलता हैं। यद्यपि कि सुल्तान मसऊद के कुछ कर्मचारी हिन्दू हैं जो कि महमूद के साथ ही भारत से गये थे किन्तु उनका विश्वास सुल्तान के प्रति नही है। कहानी का एक पात्र बलराज कहता है – 'कुछ भी हो तुर्क सुल्तान के अपने लोगो मे है और हिन्दू बेगाने ही हैं।''[182] इसी प्रकार का भाव कर्मचारी तिलक मे भी है यद्यपि कि वह एक उच्च पदस्थ कर्मचारी है, लेकिन वह अपने इस जीवन से सतुष्ट नही है इसीलिये हिन्दुस्तान वापस नही जाना चाहता – 'मै हिन्दुस्तान नही जाना चाहता मैं हिन्दू हूँ फिरोजा । आज तक अपनी आकाक्षा मे भूला हुआ अपने आराम मे मस्त . हिन्दुस्तान की अपनी जन्मभूमि को और उसके दुख दर्द को भूल गया। सुल्तान महमूद की लूटो की गिनती करता रहा। उस रक्त रजित धन की तालिका बनाना, हिन्दुस्तान के ही शोषण के लिये सुल्तान को नयी – नयी तरकीबे बताना यही तो मेरा काम था . मै चिर निर्वासित विस्मृत अपराधी ।[183] यह स्वीकारोक्ति न केवल पराधीन स्थिति को दर्शाती है बल्कि उसके लिये अपराध भावना भी है का सकेत भी करती है। इसी कहानी में मुस्लिम अधिकारी नियाल्तगीन बलराज के बहाने हिन्दुओ के बारे मे राय व्यक्त करता है – 'तुम अभी तक हिन्दू बने हो।

पुरानी लकीर पीटने वाले, जगह—जगह झुकने वाले, सबसे दबते हुये, बचते हुये, कतरा कर चलने वाले हिन्दू मन मे नयापन तथा दुनिया का उल्लास नही आने पाता।[184] अन्यत्र यही नियाल्तगीन बलराज को 'धोखेबाज काफिर' [185] का सबोधन भी करता है। स्पष्ट है साथ रहने के बाद भी दोनो धर्मो मे कटुता अवश्य थी।

प्रसाद की कहानी 'सलीम' अतिशय सवेदनायुक्त कहानी है। इसमे अफगानिस्तान के एक गॉव मे रह रहे हिन्दू मुसलमानो के बीच भाईचारे की उत्कृष्ट मिसाल है, किन्तु हिन्दुस्तान से हिजरत कर गया सलीम इसे अच्छा नही मानता क्योकि जब प्रेम कुमारी अपने पडोसी मुस्लिम लडको को खीर का प्रसाद देती है तो वह विरोध करता है — 'उधर वह नवागन्तुक मुसलमान अपनी टूटी — फूटी पश्तो मे लडके से काफिर का प्रसाद खाने की अमीर की धृष्टता का विरोध कर रहा था।'[186] इसका कारण था 'जिसके लिये वह हिजरत कर भारत से चला आया था उस धर्म का मुसलमान देश मे भी यह अपमान।' [187] इसके लिये वह कट्टर वजीरियो द्वारा उस गॉव पर आक्रमण करा देता है, यद्यपि कि शरणार्थी के रूप मे वह उसी हिन्दू घर मे बाद मे रहता भी है।

जयशकर प्रसाद का काव्य कर्म भी ऐसे उद्धरणो से भरा है। 'महाराणा का महत्व' 'वीर बालक' 'प्रलय की छाया' 'शेरसिह का शस्त्र समर्पण' मे इसे देखा जा सकता है। महाराणा का महत्व कविता अकबर एव महाराणा प्रताप के सघर्ष पर आधारित है, जिसमे प्रसाद का स्वर हिन्दू उदात्तता एव महत्ता को स्थापित करता है — अभी देर भी हुई नही उस भूमि मे,/उन दर्पोद्धत यवनो के उस वृन्द को/कानन घोषित हुआ अश्व—पद शब्द से,/लू समान कुछ राजपूत भी आ गये[188] मचा द्वन्द तब घोर उसी रणभूमि मे रुधिर — फुहारा — पूर्ण यवन — कर कट गया घेर लिया शिविका को क्षत्रिय सैन्य ने/जय कुमार श्री अमरसिह के नाद से/कानन घोषित हुआ।[189]

इस कविता मे महाराणा प्रताप को इस प्रकार महिमामडित करते हुये प्रसाद जी ने याद किया है— कहो कौन है ? आर्य जाति के तेज सा देशभक्त जननी का सच्चा पुत्र है। इसीलिये वे उस नाम का स्मरण करने का उद्‌बोधन भी करते है — कर अपने प्रताप को विस्मृत सो गये/अरे कृतघ्न ! बनो मत उसको भूल के यह महत्वमय नाम स्मरण करते रहो।[190] और ऐसा इसलिये कि 'वीर प्रताप दहकता था दावाग्नि सा' [191] मुगलवाहिनी से जब होता सामना/ भिड जाना उसका सन्मुख कर्तव्य था।[192]

'वीर बालक कविता मे गुरू गोविन्द सिह के पुत्रो को मृत्युदण्ड दिये जाते समय धर्मान्तरण का प्रलोभन दिया जाता है, किन्तु वे इन्कार कर देते है — 'यदि पवित्र इस्लाम धर्म स्वीकार है/तुम लोगो को तब तो फिर आनन्द हैं, किन्तु उन वीर पुत्रो द्वारा इसका नकारात्मक उत्तर दिया जाता है — 'कहा यवन क्यो व्यर्थ मुझे समझा रहे/वाह गुरू की शिक्षा मेरी पूर्ण है।'[193] इसी कडी मे 'शेरसिह का शस्त्र समर्पण' कविता मे वर्णित सघर्ष को भी देखा जा सकता है, यद्यपि कि यहॉ ब्रिटिश सेना द्वारा सिखो की पराजय का वर्णन है, किन्तु कविता मे सिखो के गौरवमयी अतीत को याद किया गया है — 'यवनो के हाथो से स्वतन्त्रता छीनकर/खेलता था यौवन विलासी मत्त पचनद'[194] जो ब्रिटिश शासन से पूर्व मुगल सत्ता से सघर्ष की याद दिलाता है।

सुल्तान अलाउद्दीन द्वारा गुजरात पर आक्रमण के आधार पर लिखी गयी कविता 'प्रलय की छाया' मे गुजरात के शासक कर्णदेव की पत्नी कमला को बन्दिनी बनाये जाने का वर्णन है। इस कविता मे तुर्को के अत्याचार का वर्णन है — 'क्रोध सुल्तान का दग्ध करने लगा/दावानल बनकर/हरा भरा कानन प्रफुल्ल गुजरात का/बालको की करुण पुकारे और वृद्धो की/आर्तवाणी /क्रन्दन रमणियो का/[195] इस युद्ध मे गुजरात नरेश परास्त होता है और उसकी रानी बन्दिनी होती है — 'थके सो रहे थे तरु छाया मे हम दोनो/तुर्को का एक दल आया झझावात सा   और हुई बन्दी मे,[196] किन्तु रानी इस प्रतिशोध के साथ दिल्ली आती है कि वह अलाउद्दीन से बदला लेगी, किन्तु वह ऐसा कर नही सकी, और यह कार्य करता है उसका एक नौकर मानिक, जो खुसरो बन गया था—अन्त कर दास राजवश का/लेकर प्रचण्ड प्रतिशोध निज स्वामी का/मानिक ने खुसरू के नाम से/शासन का दण्ड किया ग्रहण सदर्प।[197] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्रसाद ने मध्यकालीन इतिहास पर लेखनी कम ही चलायी है किन्तु जहॉ उन्होने इसे अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाया है वहॉ हिन्दू — मुस्लिम सघर्ष का चित्रण भी हुआ है।

नाटको मे प्राचीन इतिहास की विषय वस्तु अधिक है। अत उनमे हिन्दू — मुस्लिम सघर्ष की प्रत्यक्ष चर्चा नही है, किन्तु प्रसाद उन स्थितियो की ओर सकेत अवश्य करते हैं जिनसे वर्तमान समय मे यह सघर्ष प्रतिफलित हुआ और विदेशियो को भारत मे घुसने का मौका मिला। फूट और ईर्ष्या को बढावा जो कि ब्रिटिश नीति का आधार रही उसे अप्रत्यक्षत 'चन्द्रगुप्त'' नाटक मे देखा जा सकता है। इसमे सिंहरण कहता है — ''उत्तरापथ के खण्ड राज्य द्वेष से जर्जर है। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।''[198] .. .. यवन आक्रमणकारियों के

पुष्कल स्वर्ग से पुलकित होकर, आर्यावर्त की सुख रजनी की शान्ति निद्रा मे, उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य हैं।"[199] अपने को अलग–अलग इकाई के रूप मे समझने की व्याधि का चित्रण है – "हम मागध है और यह मालव'[200] इस पर चाणक्य कहता है – "तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न ?'[201] धार्मिक समुदायो मे व्याप्त विभेद को लक्ष्य कर चाणक्य कहता है – "यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण मे भेद नही करेगे।"[202] चन्द्रगुप्त भी इसका उल्लेख करता है – "दारुण द्वेष से सब जकडे हैं।"[203] ये कथन परोक्ष रूप से हिन्दू – मुस्लिम विभेद की ओर सकेत करते हैं।

इसी तरह के अप्रत्यक्ष सकेत अन्य नाटको स्कन्दगुप्त, अग्निमित्र, अजातशत्रु आदि मे भी मिलता है, किन्तु मध्यकालीन इतिहास के आधार पर लिखे गये नाटक 'प्रायश्चित' मे इसके प्रत्यक्ष सकेत है। इस नाटक मे पृथ्वीराज और एव जयचन्द की आपसी कटुता एव सघर्ष को आधार बनाया गया है जिसके परिणाम स्वरूप जयचन्द द्वारा मुहम्मद मोरी को बुलाया जाता है। जिसका परिणाम होता है – 'हिन्दू साम्राज्य सूर्य इसी, रणभूमि अस्ताचल मे डूबा है। चौहान कुलभूषण पृथ्वीराज का इसी युद्ध मे सर्वस्वान्त हुआ।"[204] यह सब इसलिये हुआ कि – "जामाता से प्रकाश्य युद्ध कैसे हो, इसलिये यवन बुलाये गये और आर्य साम्राज्य का नाश किया गया।"[205]

दूसरी ओर इस सघर्ष मे विजयी मुसलमानो मे खुशी व्याप्त है क्योकि अब तुर्क महमूद गजनवी की तरह केवल लूटपाट के लिये हिन्दुस्तान नही आये थे बल्कि इस पर अपना शासन स्थापित करना चाहते थे। मुहम्मद गोरी कहता है – "बहादुर शफकत ! आज सचमुच हिन्दुस्तान हलाली झण्डे के नीचे आ गया। और यह सब तो एक बात है, दरअसल खुदाये पाक को अपने पाक मजहब को जीनत देना मजूर है। नही तो भला इन फौलादी देवजादे हिन्दुओ पर फतह पाना क्या मुमकिन था   हकीकत मे वह शख्स काबिल तारीफ था और मुसलमानो को भी ऐसा ही मजहब का पक्का होना चाहिये। देखो कितनी बेरहमी से उसका कत्ल किया गया, मगर उस काफिर ने पाक दीन इस्लाम कबूल नही किया।'[206] जिस आपसी फूट के कारण मुसलमानो का आगमन हुआ उस जयचन्द के बारे मे उनकी धारणा से यहाँ पर उनके शासन स्थापना के विचार का पता चलता है – 'काफिर जयचन्द भी खूब छका। उसने समझ रखा था कि तख्ते देहली हमी को मिलेगा। आपके जवाब ने तो उस पर

कहर ढहा दिया होगा।'[207] इस प्रकार इस नाटक मे आपसी फूट की चरम स्थिति का चित्रण है क्योकि इसी के परिणाम रूप मे विदेशियो का शासन स्थापित हुआ। साथ ही दोनो सम्प्रदायो के बीच धर्म के आधार पर वैमनस्य का चित्रण एव इस्लाम अनुयाइयो मे अपने धर्म के प्रसार की भावना भी है।

प्रसाद के साहित्य मे हिन्दू – मुस्लिम सघर्षो के साथ ही उनमे वर्तमान राजनीति की आवश्यकता के अनुरूप समन्वय स्थापित करने का प्रयास भी दिखता है। प्रसाद अपनी कविता 'महाराणा का महत्व' मे हिन्दू मुस्लिम एकता की बात करते है –'दो महत्वमय ह्रदय जब एक हो गये/ फैलेगा फिर यह महान सौरभ यहॉ/ जिसके सुखमय गध प्रेम मे मत्त हो/ भारत के नर गावेगे यश आपका'।[208] सच्चे मुसलमानो की प्रसाद प्रशसा भी करते है– 'सच्चे तुर्क न होते कभी कृतघ्न है।'[209] इसी प्रकार प्रसाद अपनी कहानी 'ममता' मे हिन्दू नायिका को विधर्मी मुगल को शरण देते हुये दिखाते हैं – 'तुम चाहे कोई हो मै तुम्हे आश्रय देती हूँ, मै ब्राह्मण कुमारी हूँ सब अपना धर्म छोड दे तो मै भी क्यो छोड़ूँ।'[210] प्रसाद की कहानी 'सलीम' हिन्दू – मुस्लिम एकता की स्थापना की दृष्टि से एक सवेदनशील कहानी है, यद्यपि कि इसके एक पात्र सलीम द्वारा कट्टर वजीरियो से मिलकर उस अफगान गॉव पर आक्रमण किया जाता है जहॉ हिन्दू परिवार रहता है किन्तु गॉव का पठान मुखिया एव अन्य मुसलमान मिलकर न केवल हिन्दू परिवार की रक्षा करते हैं, बल्कि दण्डस्वरूप सलीम को अपग भी बना देते हैं और सलीम कुछ दिन तक उसी हिन्दू परिवार की शरण मे रहता भी है किन्तु जब उसे पठानो द्वारा गॉव छोडने के लिये कहा जाता है तब भी वह हिन्दू नायिका को अपने अतिम समय तक 'बुते काफिर'[211] के रूप मे याद करता है।

इस प्रकार जहॉ प्रसाद साहित्य मे सघर्षो का चित्रण है वही हिन्दू – मुस्लिम धर्म की विकृतियो का परिष्करण करके एक मानवता वादी धर्म की स्थापना का प्रयास भी है। उनके नाटको पर हिन्दूवादी मान्यताओ के आरोप के उत्तर मे विद्या खण्डेलवाल कहती है' – ''प्रसाद जी के नाटकों की राष्ट्रीयता को हिन्दुत्व या किसी सम्प्रदाय अथवा जाति के खूँटे से बँधा हुआ नही कहा जा सकता।''[212] इसी प्रकार शभूनाथ स्वीकार करते हैं – ''प्रकृति हो या इतिहास प्रसाद का मुख्य सरोकार था अपने समय एवं समाज को बदलना। जितना सवेदनशील वे प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति थे, उतना ही सचेत राजनीति के प्रति

थे। उनका साहित्य राजनीतिक घटनाओ की प्रतिक्रिया नही है, पर जातीय स्वतन्त्रता, स्त्री मुक्ति, साम्प्रदायिक सप्रीति, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, समरसता की प्रतिध्वनियॉ, उनकी रचनाओ मे नही है यह कौन कहेगा।''[213] इस प्रकार निष्कषर्त यह स्थापित होता है कि समस्या के दोनो पक्षो पर उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी का ही रहा है और यही उनका मूलस्वर भी था।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला (1896 – 1961) का व्यक्तित्व तमाम जटिलताओ से निर्मित हुआ था, जिसमे भारतीय सस्कृति की विविधता सश्लिष्ट रुप मे झलकती थी। इसमे उनके विभिन्न स्थानो पर प्रवास का प्रभाव भी था। निराला मूलत अवध क्षेत्र के गढाकोला (उन्नाव) के निवासी थे, किन्तु आजीविका की तलाश मे पिता बगाल के महिषादल (मेदिनीपुर) मे प्रवास कर रहे थे। निराला का जन्म यही हुआ और बचपन मे ही माता के देहान्त से उन्हे स्नेहिल सरक्षण का अभाव झेलना पडा। बचपन मे ही परिणय सूत्र मे बॅधे किन्तु यह साथ भी अधिक दिनो का नही रहा। 1920 तक पत्नी, पिता तथा परिवार के कई अन्य सदस्य असमय काल कवलित हुये। इन परिस्थितयो एव कलकत्ता, लखनऊ तथा इलाहाबाद मे लम्बे प्रवास से उनका व्यक्तित्व विविधताओ का सगम हो गया। उनकी रचनाओ के विवेचन मे इनका ध्यान आवश्यक है। यहॉ विषय की परिधि मे उनकी रचनाओ मे साम्प्रदायिक तत्वो की ही तलाश होगी।

इसके लिये आवश्यक है कि निराला की मानसिक बनावट एव चिन्तन को स्पष्ट किया जाय। भारतीय साहित्यविद् कमला रत्नम् के शब्दो मे – 'उनके चरित्र व्यक्तित्व एव विचारो का गठन बगाल के सास्कृतिक पुनरुत्थान के प्रभाव मे हुआ था।[214] निराला की मानसिक बनावट मे पुनरुत्थान वादी चेतना का बहुत कुछ हाथ था। रामकृष्ण मिशन मे 'समन्वय' के हिन्दी सस्करण मे काम करने के कारण वे सक्रिय रूप से इस वैचारिक मथन मे सम्मिलित हुये थे।[215] नन्दकिशोर नवल उनके चिन्तन पर विवेकानन्द एव वेदान्त का असर देखते हैं। उनके कई निबन्धो के आधार पर इसका विश्लेषण करते हैं। अपने जीवन के बिल्कुल आरम्भ मे निराला स्वतन्त्रता को दो रूपो मे देखते थे – बाहरी स्वतन्त्रता और भीतरी स्वतन्त्रता। इन दोनों के बीच द्वन्दात्मक सम्बन्ध की कल्पना करने मे असमर्थ थे। अपने 'बाहर और भीतर' शीर्षक निबन्ध मे वे सामाजिक स्वतन्त्रता को बाहरी स्वतन्त्रता और भौतिक उन्नति का लक्ष्य ध्वस

बताते है। इसी तरह 'शक्ति परिचय' निबन्ध मे कहते है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता ही समष्टिगत स्वाधीनता की जननी है और इस दृष्टि से आज भी भारत मे अन्य देशो की अपेक्षा स्वाधीन मनुष्यो की सख्या अधिक होगी। मतलब यह कि आत्मा माया के बन्धनो से स्वतन्त्र है, तो मनुष्य स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र होने के लिये सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्वतन्त्रता नही बल्कि आत्मा की स्वतन्त्रता चाहिये। वह मिल गयी तो बाहरी स्वतन्त्रता अवश्यभावी है। आश्चर्य नही कि 'प्रवाह' शीर्षक निबन्ध मे निराला ने यह कहा कि आत्मवाद या मुक्ति ही भारत के जातीय जीवन का लक्ष्य है। मुक्ति प्रवाह या माया के अधिकारो से अलग है और बिना मुक्त हुये जीव स्वतन्त्र नही हो सकता।[216] इस प्रकार स्पष्ट है कि निराला की विचारधारा के निर्माण मे वेदान्त की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी, जिसका प्रभाव उनकी रचनाओ पर भी है।

नीलाभ के अनुसार — "निराला के निजी जीवन सघर्ष के अनगिनत चित्र, अनगिनत भावाभिव्यक्तियाँ उनकी कविता मे मौजूद हैं। इर्द — गिर्द के जीवन की विषमता से जनित आक्रोश और अवसाद के अप्रतिम रेखाकन वहाँ मिलते हैं, प्रकृति की रगारग छवियाँ वहाँ नजर आती हैं, मगर सब कुछ अन्तत हिन्दू धार्मिक परम्परा और निराला के वैष्णवी सस्कारो के दायरे मे ही है। निराला के समय के अनेक महत्वपूर्ण मुद्दे, इसी सीमा के कारण छूट गये है।[217]

इन्ही बातो को नीलाभ निराला के कुछ निबन्धो के आधार पर और अधिक स्पष्ट करते है — शुरू से ही निराला की मूल मनोभूमि धर्मनिरपेक्ष न होकर हिन्दू सस्कारिकता से रजित है। वे मध्यकाल के तरह — तरह के सघर्षो को जो राजनीतिक रहे हो या आर्थिक, हिन्दू — मुस्लिम सघर्षो के रूप मे चित्रित करते हैं। 'हमारा समाज' शीर्षक लेख मे वह लिखते हैं — 'फिर हजार वर्षो से हिन्दू — मुस्लिम युद्ध चलने लगा।' 'महर्षि दयानन्द और युगान्तर' जैसा लेख हो या 'सामाजिक पराधीनता' 'वर्तमान हिन्दू समाज' और 'हमारा समाज' जैसी टिप्पणियाँ निराला का रुख एक ऐसे उदारमना हिन्दू का सा है जो वर्णाश्रम धर्म और हिन्दू धर्म के अन्तर्विरोधों को देखकर दुखी हो रहा है और कभी इसे आध्यात्मिकता और ज्ञान के लोप का नतीजा मान रहा है, कभी प्राचीन सस्कारो के विलोप का।' 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थित' मे भी वह जब यह कहते हैं — 'क्या तमाम राजनीतिक अधिकार मुसलमानो की तरह हिन्दुस्तान की छाती पर रहकर भोग करना पारसियों के डंडे का फल है? या इसी लेख मे मुसलमानो को भारतवर्ष की छाती के पीपल' की सज्ञा देते हैं, तो वह अपना हिन्दूवादी झुकाव स्पष्ट करते हैं।[218]

निराला काव्य का व्यापक अनुशीलन करने पर उनमे हिन्दू धार्मिक पुराण कथाओ और प्रतीको का प्रयोग मिलता है। 'भारति वन्दना' हो या 'सरोज स्मृति', 'वसन वासन्ती लेगी' गीत हो या 'राम की शक्ति पूजा' जैसी लम्बी कविता, जगह – जगह हिन्दू मिथको की भरमार मिलती है। "जागो फिर एक बार", तुलसीदास" और "शिवाजी का पत्र" तो स्पष्टत निराला के हिन्दूवादी रुझान को स्पष्ट एव पुष्ट करती मालूम होती हैं। अतीत के मिथको एव प्रतीको के आधार पर बुनी इन कविताओ से अतीत की सस्कृति के प्रति उनकी धारणा का भी ज्ञान होता है।

दूधनाथ सिह निराला काव्य मे प्रयुक्त उपमाओ के आधार पर निराला मे पुनरुत्थान का स्वर देखते हैं – "इन्ही सारी उपमाओ से निराला की सास्कृतिक धारणाये भी धीरे – धीरे स्पष्ट होती दिखायी देती है। इसमे कोई शक नही कि उनकी इस तरह की कविताओ मे जो सास्कृतिक धारणा उभरकर सामने आती है, वह अतीतोन्मुख है। उनके इस तरह के उद्‌गारो से कही – कही उनके अतीतजीवी होने का भ्रम भी हो जाता है। लेकिन वे अतीतजीवी है नही, दरअसल वे भारत के सास्कृतिक अध पतन का कोई विकल्प चाहते है। इस विकल्प की खोज मे वे भारतीयता को पहले स्थान पर रखते हैं। इसीलिये वे बार – बार भारतीय सस्कृति की उन तमाम विशेषताओ को बिम्बात्मक शब्द बन्ध मे अपनी कविता मे उतारते हैं। इस विकल्प की खोज मे भारत के गौरवमयी अतीत मे पैठना और वहॉ से छानकर सास्कृतिक पुनरुत्थान के किसी विकल्प को निकालना उन्हे अधिक सुविधाजनक लगता है। सुविधाजनक भी क्यो कहे, दरअसल वे किसी दूसरे विकल्प की परिकल्पना नही कर पाते। इस रूप मे वे पुनरुत्थानवादी और पुनर्जागरणवादी अधिक लगते हैं।"[219]

यहॉ निराला काव्य मे आये ऐसे तत्वो की व्याख्या दो दृष्टिकोणो से करना समीचीन है – (1) ये तत्व (हिन्दू प्रतीक, एव उपमान) निराला की कविताओ मे किस तरह प्रयुक्त हुये हैं और (2) क्या उनका काव्य इनसे साम्प्रदायिक हो जाता है या क्या निराला साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से साहित्य सृजन कर रहे थे। इसी परिप्रेक्ष्य मे निराला के हिन्दू – मुस्लिम सम्बन्ध के प्रति दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जा सकता है।

पहली धारणा के अनुरूप यदि हम निराला साहित्य का विवेचन करते हैं, तो तमाम बाते एव सवाल उभरते हैं। जिस भारतीय संस्कृति की चर्चा निराला अपनी कविताओ मे करते हैं उसका स्वरूप क्या है ? उनकी कविताओ

मे जो बिम्ब एव प्रतीक प्रयुक्त हुये है, उनका आशय क्या है ? जिस जाति – जीवन की चर्चा वे करते है उसका भारतीयता एव राष्ट्रीयता से क्या सम्बन्ध है ? हिन्दू एव मुसलमान के सन्दर्भ मे उनके इस 'जाति' शब्द का अर्थ क्या है ? इन्ही प्रश्नो के आलोक मे उनके दृष्टिकोण को समझा जा सकता है। इस सन्दर्भ मे दूधनाथ सिह का मत है – "सस्कृति की उनकी धारणा मे मिश्रित सस्कृति की वास्तविकता उनकी समझ मे नही आती, वे अक्सर शुद्ध सस्कृति के पोषक लगते हैं। उनकी समझ मे शुद्ध आर्य सस्कृति नामक कोई वस्तु है, जिसे पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। उसी के अध पतन के कारण भारतीयता का विनाश हुआ है। 'शिवाजी का पत्र' मे बार – बार इस सनातन धर्म तथा शुद्ध भारतीयता की चर्चा करते है। उनकी नजर मे इसको नापाक करने वाले मुसलमान, यवन एव म्लेच्छ है। इसके अतिरिक्त निराला धर्म, सभ्यता और सस्कृति मे घालमेल करते हुये भी दिखायी देते है। उनकी रचनाओ मे अक्सर इनका फर्क नही मिलेगा। इसी सन्दर्भ मे उन्होने बार – बार जाति जीवन का भी सवाल उठाया है।[220]

जाति जीवन को निरामय
वह सदाशयता प्रखर दो।

दूधनाथ सिह इसको इस प्रकार विस्तार देते है – "मैने बार – बार उनके इस जाति शब्द को समझने की कोशिश की है मुझे लगा वह भारतीय मात्र के लिये प्रयुक्त शब्द नही है। जाति का प्रथम अर्थ तो उन्होने हिन्दू से लिया है – हिन्दू जाति, फिर वे वर्ण व्यवस्था पर उतर आते है – ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियॉ जिस जाति जीवन के निरामय होने का वरदान निराला मॉगते हैं वह कौन सी जाति है क्या वह सम्पूर्ण हिन्दू जाति या उसमे भी द्विजवर्ण है ?"[221] इन सन्दर्भो को समझने के लिये निराला की ऐसी कविताओ को परखना आवश्यक है। 'शिवाजी का पत्र' मे निराला प्रकारान्तर से हिन्दू भारत की कल्पना करते हैं – फैले समवेदना/एक ओर हिन्दू, एक ओर मुसलमान हो/ व्यक्ति का खिचाव यदि जातिगत हो जाय/देखो परिणाम फिर/ स्थिर रहेगे न पैर फिर यवनो के/ पस्त होगा हौसला/ध्वस्त होगा साम्राज्य।[202]

कवि हिन्दुओ की सभ्यता को विलीन होता देखता है तो प्राचीन बातो की याद दिलाकर उनमे सोये हुये व्यक्तित्व को जगाता है, जिस प्रकार महाराज शिवाजी महाराज जयसिह को उसके हिन्दू भाइयो के लिये जगाते

है— कितना आश्चर्य है, मुट्ठी भर मुसलमान/ पले आतक से है/ भारत के अक पर,/ अपनी प्रभुता मे/ है मानते इस देश को जकड रहा वह जिनसे हिन्दुओ के पैर/ हिन्दुओ का काटता है सीस/ हिन्दुओ की तलवार ले,/ याद रहे/ बरबाद जाता है हिन्दू धर्म हिन्दुस्तान/ मरजाद चाहती है आत्म त्याग।[223]

इस सन्दर्भ मे दूधनाथ सिह लिखते है — "इसे साम्राज्यवादियो के प्रतीकार्थ मे प्रयुक्त मानकर टाला या सन्तोष नहीं किया जा सकता। इसके पक्ष मे यह तर्क भी पूरा नही पडता कि शिवाजी के चरित्र और उस समय की ऐतिहासिक अनिवार्यताओ के अनुकूल यही विचारधारा उचित जान पडती है। यह तर्क इसलिये कम पड रहा है कि निराला उस हिन्दुस्तान मे रह रहे है, जहॉ मुसलमान विदेशी नही है, जहॉ शुद्ध सस्कृति की बात भी सोची नही जा सकती या ऐसा सोचना यथार्थ को झुठलाना है और यह भी कि मुसलमान एक ऐसा शब्द है, इतना सेन्सटिव शब्द कि उसे प्रतीकार्थ मे चाहे जितना प्रयुक्त किया जाय वह रहेगा मुसलमान ही। यवन या म्लेच्छ शब्द अपनी अर्थवत्ता मे मुलायम और अमूर्त हो चुके है। इसलिये उनमे तो यही प्रतीकात्मकता चल सकती है, लेकिन मुसलमान शब्द मे नही चल सकती है। इसलिये मै कहता हूँ शिवाजी के प्रसग मे हिन्दू मुसलमान की यह जातिगत धारणा चाहे कितनी सच क्यो न हो, उसे इस रूप मे कविता मे लाना निहायत खतरनाक है। जिन्ना की तरह निराला भी गॉधीजी पर अपने इटरव्यू मे यह आरोप लगाते है कि 'मै समझता हूँ नेता हिन्दुओ का नेता तो बन ही चुका था, मुसलमानो का भी बनना चाहता था।' यही आरोप निराला पर भी लगाया जा सकता है कि वह हिन्दुओ का कवि था।"[224]

यही नही इस तरह के प्रसग इस कविता मे कई जगह आये है। पत्र लेखक शिवाजी भारतीय सस्कृति की सुरक्षा एव चिन्ता से ग्रस्त थे। उनके लिये भारतीय सस्कृति का अर्थ हिन्दू सस्कृति है, सनातन धर्म है, हिन्दुत्व है। उनके लिये इस सास्कृतिक विनाश के लिये मुसलमान जिम्मेदार है और वे हिन्दुस्तान और सस्कृति की सुरक्षा के लिये कटिबद्ध हैं। इसीलिये निराला जयसिह के अतीत की, उनके क्षत्रियत्व की उनकी शूरवीरता की याद शिवाजी के माध्यम से करवाते हैं और सूक्ष्म व्यग्य करने से भी नही चूकते हैं — और विकर्षण मयसारा / ससार हिन्दुओं के लिये / धोखा है अपनी ही छाया से / ठगते वे अपने ही भाइयो को, / लूटकर उन्हे ही वे भरते हैं अपना घर।[225] इसीलिये वे सचेत करते हैं कि— चाहते हो क्या तुम/ सनातन धर्म धारा शुद्ध/भारत से बह जाय चिरकाल के लिये।[226]

इसीलिये वे शिवाजी के माध्यम से जयसिह को सबोधित करते है कुछ लाछना एव प्रताडना के स्वर मे – काफिर तो कहते न होगे तुम्हे वे/ विजित भी न होगे तुम औ गुलाम भी नही ?/ कैसा परिणाम यह सेवा का।/ लोभ भी न होगा तुम्हे मेवा का महाराज/ सीमा के राज राजेश्वर ! /भाइयो के शेर और क्रीत दास तुर्कों के।[227]

जब मुसलमानो के द्वारा हिन्दुओ पर अत्याचार हो रहे थे, क्षत्रियो की शक्ति क्षीण होती जा रही थी उसी अतीत का स्मरण कवि कराता है और सगठित होने के लिए प्रेरित करता है – सगठित हो जाओ/आओ बाहुओ मे भर/ भूले हुये भाइयो का/अपनाओ अपना आदर्श तुम हिन्दुओ की लुप्त कीर्ति/फिर से जग जायेगी/ आयेगी महाराज/भारत की गयी ज्योति/ प्राची के भाल पर। स्वर्ग सूर्योदय होगा/ तिमिर आवरण/फट जायेगा मिहिर से/ टूट पडो – बह जाओ/दूर तक फैलाओ अपना श्री, अपना रग / अपना रूप, अपना राग।[228]

जिस सास्कृतिक क्षय की चिन्ता निराला को शिवाजी के पत्र मे सालती है वही सास्कृतिक अधकार के रूप मे तुलसी दास मे भी व्यक्त है। 'शिवाजी का पत्र' मे जिस घातक आक्रमण को निराला ने – 'मोगल – दल – विगलित – बल/हो रहे हैं राजपूत/बाबर के वश की/देखो राजलक्ष्मी/प्रखर से प्रखरतर दीखती'[229] कहकर व्यक्त करते है उसे ही वे तुलसीदास मे – मोगल–दल–बल के जलद–यान/ दर्पित–पद, उन्मद – नद पठान/ हैं बहा रहे दिग्देशज्ञान शर–खरतर/ छाया ऊपर घन–अन्धकार/टूटता वज्र यह दुर्निवार[230] कहकर स्वर देते हैं।

इस प्रकार निराला के काव्य मे इस तरह के जो वर्णन आये हैं यद्यपि कि समकालीन सन्दर्भो मे साम्राज्यवादी शक्तियो के विरुद्ध प्रतीकात्मक रूप मे ग्रहण किये गये हैं लेकिन कही न कही वे उससे पहले के शासन एव सघर्ष की ओर भी सकेत करते हैं। इसे उनके काव्य मे प्रयुक्त पौराणिक, धार्मिक प्रतीको के स्वरूप द्वारा भी समझा जा सकता है। छत्रपति शिवाजी का पत्र मे निराला की ये पक्तियॉ 'तुमने ही रेणु को सुमेरु बना रखा है'[231] द्वारा सुमेरु पर्वत की पौराणिकता के बहाने शिवाजी जयसिह को समझाते है कि जो औरगजेब धूल के कण के समान था उसे तुमने सुमेरु बना दिया है। यहॉ पर निराला ने औरगजेब को सुमेरु का प्रतीक माना है। दूसरे प्रतीकात्मक उदाहरणो के आधार पर इस सन्दर्भ मे निराला की भावना को और स्पष्ट किया जा सकता

है — किन्तु क्या अन्ध तुम भी हो गये ? राक्षस वह रखते हो नीति का भरोसा तुम।[232] निराला ने इस पक्ति मे औरगजेब को राक्षस का प्रतीक माना है। जिस प्रकार पौराणिक कथाओ मे राक्षसो के अत्याचारो को दिखाया गया है उन्ही अत्याचारो को दर्शाते हुए निराला ने औरगजेब की आदतो से उसे राक्षस का प्रतीक माना है। पौराणिक प्रतीको के माध्यम से वे औरगजेब के अत्याचार, अन्याय एव नृशसता की पूरी — पूरी व्यजना करते हैं।

'अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिग्मडल'[233] यहाँ तमस्तूर्य दिग्मडल को निराला ने भारत की विघटित सस्कृति का प्रतीक माना है। हमारी सस्कृति का पतन तथा हमारी दिशाये अन्धकारमय हो गयी हैं और इसका कारण मानते हैं — उर के शासन पर शिरस्त्राण/शासन करते हैं मुसलमान'[234] यहाँ तत्कालीन विदेशी शासको का प्रतीक मध्यकालीन मुगल शासक है। शासक के वास्तविक धर्म से च्युत मुसलमान नरेश भारतीयो को प्रताडित करते हैं — 'मोगल दल बल के जलद यान/दर्पित — पद उन्मद — नद पठान[235] यहाँ निराला ने मुसलमानो की दुर्निवार शक्ति का 'मुगल' के बजाय 'मोगल' का प्रयोग करके किया है। इसमे निराला की प्रतीक योजना वैशिष्ट्य पूर्ण है। मुगलो की सेना बादल है तथा दर्प से भरे पठान जल से भरे नद हैं।

भारत मे मुगल सेना का विस्तार घने अन्धकार का प्रतीक है — "छाया ऊपर धन अन्धकार/ढूढता वज्र यह दुर्निवार/नीचे प्लावन की प्रलय धार, ध्वनि हर — हर"[236] ध्यातव्य है तुलसी दास मे निराला ने भारतीय जीवन की जडता का परिचय दिया तथा सास्कृतिक ह्रास के बारे मे जाग्रत किया है। इसके लिये प्रतीक उन्होने मध्यकाल से उठाये तथा प्रतीकात्मक शब्द व्यजना के सहारे अपने व्यक्तित्व की जीवन्तता एव सारी सक्रियता का परिचय दिया है। इस बात का वे शिवाजी का पत्र' मे भी उठाते हैं — 'छोडो यह हीनता/सर्प आस्तीन का/फेको दूर/मिलो भाइयो से/व्याधि भारत की छूट जाय'[237] यहाँ निराला ने साँप को औरगजेब को और व्याधि को गुलामी का प्रतीक कहा है। इसीलिए वे 'मिलो भाइयो से' कहकर सगठित होने का आह्वान करते है।

निराला की पहली प्रकाशित कविता 'मातृ भूमि' की आरम्भिक पक्तियाँ — बदूँ तव अमल — कमल/चिर—सेवित चरण — युगल' देवी रूप की स्थापना करती है, फिर चाहे मातृभूमि हो या उसके बहुत बाद की 'भारति वदना' दोनो कविताओ मे निराला प्रमुखत· भारत का एक भौगोलिक रेखाकन ही प्रस्तुत करते है। अगर "भारति वन्दना" मे यह भौगोलिक रेखाकन सास्कृतिक रेखाकन के अभिप्राय ग्रहण करता जान भी पडता है तो भी वह उनकी हिन्दू सास्कारिकता की सीमाये पार नही कर पाता।[238]

निराला की दो अन्य कविताओ ''राम की शक्ति पूजा'' और ''जागो फिर एक बार' मे 'पूजा' पौराणिक आख्यान पर आधारित है और 'जागो फिर एक बार' उद्‌बोधन प्रकृति की कविता है। इनकी विषय वस्तु एव शैली से भी निराला के रूढमन का पता चलता है। 'राम की शक्ति पूजा' की समीक्षा मे चन्द्रकान्त वादिवडेकर लिखते हैं — ''जहाँ तक भारत की धार्मिक सवेदना का प्रश्न है निराला के व्यक्तित्व मे उनके प्रति टकराहट की अनिवार्यता उत्पन्न हुई नही दीखती। सामाजिक रूढियो का विरोध उन्होने उसी सीमा तक किया है, जहाँ तक भारतीय सस्कृति के मूल विश्वासो को धक्का लगाये बिना निभ सकता था।''[239] वे यह भी लिखते है कि ''आवश्यकता से अधिक स्थान ग्रहण करने वाली हनुमान जी की अन्तर्कथा को ग्राह्य कर पाना मुश्किल ही नही असम्भव है निराला ने इस पौराणिक कथा को ज्यो का त्यो स्वीकार किया है, इससे उनके रूढि विश्वासी मन का ही प्रमाण मिलता है।''[240] इसी प्रकार दूधनाथ सिह को 'जागो फिर एक बार' कविता 'शिवाजी का पत्र' का एक अश लगती है।[241] क्योकिं उनकी दृष्टि मे यह उद्‌बोधन साधारण भारतीय को कोलाहलपूर्ण उत्तेजना की ओर ले जाता है।

इस परिप्रेक्ष्य मे यहाँ निराला की इतिहास दृष्टि की चर्चा भी अपेक्षित है। इस सन्दर्भ मे नीलाभ कहते हैं — 'शिवाजी हो या गुरू गोविन्द सिह दिल्ली बादशाहत से उनका सघर्ष, हिन्दू — मुस्लिम विग्रह से कही ज्यादा एक केन्द्रीय सत्ता और राज्यो की आपसी कशमकश थी। अगर ऐसा न होता तो शिवाजी ने औरगजेब के विरुद्ध गोलकुण्डा के मुस्लिम शासको के साथ सन्धि न की होती तथा सूरत और पूना को लूटने के दौरान लूट पाट मे भी हिन्दू — मुसलमान का भेद किया होता। लेकिन निराला ने शिवाजी और औरगजेब के सघर्ष को केवल हिन्दू—मुस्लिम सघर्ष के रूप मे देखा। दरअसल निराला की यह भावभूमि उनके हिन्दू सस्कारी स्वभाव का ही अग थी। शुद्ध सनातन धर्मधारा की यह परिकल्पना बार — बार निराला की कविताओ मे उभरती है। 'खण्डहर से' 'दिल्ली', 'भगवान बुद्ध के प्रति' या 'सहस्राब्दी' जैसी कविताओ मे वे अतीत से मोहग्रस्त कवि के रूप मे आते हैं।[242]

निराला काव्य मे आये हिन्दू प्रतीको, मिथको आख्यानो एव मध्यकालीन इतिहास के कतिपय मुस्लिम पात्रो के प्रति दृष्टिकोण के विवेचन से उनकी छवि एक पुनरुत्थानवादी कवि के रूप में उभरती है किन्तु इसके बावजूद उन्हें साम्प्रदायिक अर्थों में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता और न ही किसी हिन्दूवादी खेमे के प्रवक्ता के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है क्योकि

इसके इतर परिमाण मे अधिक निराला का रचना ससार उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण को प्रमाणित करता है। अत आवश्यक है उनके इस पक्ष का विवेचन किया जाय अन्यथा निराला एक साम्प्रदायिक कवि के रूप मे ही दिखेगे।

निराला के अपने निजी सस्कारो एव परिवेश से सवलित उनकी रचनाओ के आधार पर उन्हे साम्प्रदायिक रचनाकार की श्रेणी मे रख दिया जाता है। ऐसा आक्षेप प्रथमत हिन्दी के चर्चित कवि विष्णु खरे द्वारा लगाया गया है।[243] लेकिन व्यवहारिक जीवन मे मुसलमानो के प्रति उनका दृष्टिकोण सदैव उदार रहा है। निराला लिखते हैं – "हिन्दू और मसलमान अब दगाबाजो को खूब समझ गये हैं। अब वे दिन लद गये जब आप लोग फाख्ता उडाते थे, अब वे दिन आ रहे है जब आप लोगो को भी बोरिया बिस्तर बॉधना समेटना होगा।"[244]

अपने उपन्यास 'कुल्ली भाट' मे निराला नायक (कुल्ली भाट) का विवाह एक मुस्लिम महिला से करने का उल्लेख करते हैं और उसकी प्रशसा करते है – "ये जितने काग्रेस वाले हैं, अधिकाश ये मूर्ख एव गवॉर है, फिर कुल्ली सबसे आगे है, खुल्लमखुल्ला मुसलमानिन बैठाये है।"[245] यही नही कुल्ली के मुस्लिम महिला से विवाह करने पर जब लोग उसका सामाजिक बहिष्कार करते है, तो निराला अपने नायक से कहलवाते है – "हिन्दू बडे नालायक है।"[246] कुल्ली की मृत्यु पर अन्तिम सस्कार के लिये कोई पुरोहित न मिलने पर निराला जो इस कथा के एक पात्र स्वय लगते है, कहते है – "वह न आयेगे तो मैं हवन करा दूँगा।"[247] इसी प्रकार 'कमला' कहानी मे हिन्दू–मुस्लिम दगो के चित्रण मे निराला की तटस्थता देखी जा सकती है – "दोनो तरफ के अनेक घर लुटे – फुँके और ढहा दिये गये। हजारो आदमी काम आये, जो हिन्दू मुसलमानो की बस्ती मे थे उनके घर फूँककर माल लूटकर, आदमियो को मारकर या जख्मी कर अपने घरो मे डाल दिया। ऐसा ही हिन्दुओ ने भी किया।"[248]

निराला के दृष्टिकोण का जो प्रतिबिम्बन 'महाराज शिवाजी का पत्र' मे हुआ है, उस आधार पर नीलाभ ने एक लेख मे उनकी इतिहास दृष्टि पर प्रश्न उठाया है।[249] ध्यातव्य यह है कि पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन का अवलोकन करें तो स्पष्ट होता है कि ऐसे प्रतीकों का प्रयोग राष्ट्रीय आन्दोलन मे राजनीतिक लामबन्दी के लिये किया गया था। प्रायः रचनाकार ही नही, राजनीतिज्ञ भी इस प्रक्रिया में उत्साह से सम्मिलित होते थे। तिलक का शिवाजी एव गणपित

उत्सव, स्वदेशी आन्दोलन मे राखी बॉधना एव गगा मे डुबकी लगाना, गॉधी जी की रामराज्य की कल्पना, क्रान्तिकारी आन्दोलनो मे देवी एव शक्ति प्रतीको का वैचारिक उपयोग आदि ऐसे माध्यम थे, जो धार्मिक दृष्टिकोण से युक्त थे। अत निराला के मुगल साम्राज्य के अतिप्रसार को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के रूप मे देखना चाहिए। जब वे कहते हैं — 'ध्वस्त होगा साम्राज्य / हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से / दासता के पाश कट जायेगे / शत्रु को मौका न दो / अरे कितना समझाऊँ मैं,[250] तो उनका उद्देश्य समकालीन ब्रिटिश साम्राज्य को ध्वस्त करना था, जो भारत का विभिन्न उपक्रमो से शोषण कर रहा था। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि शिवाजी के चरित्र मे जिन मिथको का प्रयोग किया गया था, वे सामान्य जन मे लोकप्रिय थे जिसे निराला ने ऐतिहासिक तथ्य से अलग किये बिना प्रस्तुत किया।

निराला पर अन्य समीक्षको के आरोप भी इस विश्लेषण के दायरे मे है। दूधनाथ सिह उन्हे अतीतजीवी सिद्ध करते हुये, इसके लिये 'विकल्प हीनता'[251] की बात करते हैं। नीलाभ उन्हे परम्परा प्रिय कवि के रूप मे प्रतिष्ठित करते हुये इस बात पर बल देते हैं कि 'प्रयास करने के बाद भी वे अपने को इससे मुक्त नही कर पाये।'[252] कॅवल भारती के अनुसार निराला अपने चिन्तन मे प्रगतिवाद के मूल चिन्तन के विरुद्ध हैं। वेदान्ती होने के नाते वर्ण व्यवस्था के समर्थक है तथा दलित विरोधी, हिन्दुत्ववादी और पुनरुत्थानवादी हैं।''[253]

निराला के ऊपर इन आरोपो के आलोक मे तत्कालीन युगीन परिस्थितियो एव उनके परिवेशगत सस्कारो को समझना होगा। कात्यायनी के अनुसार — ''भारत मे राष्ट्रवाद के प्रारम्भिक दौर मे अतीत से प्रेरणा लेते हुये अतीतोन्मुख हो जाने, हिन्दुत्व के गौरव की पुनर्स्थापना की बात करने, पौराणिक गाथाओ एव धार्मिक उत्सवो के माध्यम से अपनी स्वतन्त्र राष्ट्रीय पहचान की तलाश करने तथा मध्यकाल के मुस्लिम हमलावरो या दिल्ली मे स्थापित सल्तनत से मोर्चा लेने वाले महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल या गुरू गोविन्द सिह को राष्ट्रीय नायको के रूप मे प्रस्तुत करने की आम प्रवृत्ति राजनीतिक क्षेत्र मे भी मौजूद थी और सास्कृतिक साहित्यिक क्षेत्र मे भी, पर इस वैचारिक विचलन के वस्तुगत आधार थे।''[254] यदि निराला को साम्प्रदायिक हिन्दूवादी एव परम्परामोही मान लिया जाय तो इस दृष्टि से दयानन्द की वेद प्रियता विवेकानन्द की वेदान्तिकता, तिलक के शिवाजी एव गणपति उत्सव तथा गॉधी की रामराज्य की परिकल्पना को इसी खेमे मे रखना होगा। कात्यायनी के अनुसार — अपने रचना काल के दौरान तीस के दशक के

पूर्वार्द्ध तक निराला जहाँ कही राष्ट्रीय जीवन की दुरावस्था की पीडा, राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान की तडप या भारत के सास्कृतिक अध पतन के विकल्प की खोज से जूझते है वही अतीत की ओर देखते नजर आते है। पुनर्जागरण एव प्रबोधन के दर्शन के अभाव मे औपनिवेशिक समाज की दुरावस्था का विकल्प वे गौरवमयी अतीत मे खोजने की कोशिश करते हैं।"[255]

इस सन्दर्भ मे हम राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर दृष्टिपात करे तो स्पष्ट होता है कि वहाँ अतीतोन्मुखता कितनी लोकप्रिय एव गतिशील थी। दादाभाई नौरोजी, आर सी दत्त, गोपाल कृष्ण गोखले एव एम जी रानाडे ने जिस उदारवादी विचारधारा का प्रवर्तन कर ब्रिटिश आर्थिक शोषण को उद्घाटित करते हुये भी उसके सरक्षण मे स्वायत्तता की मॉग की वह अपने समय मे लोकप्रिय नही हो सकी। जबकि बाल गगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, बिपिन चन्द्र पाल एव अरविन्द घोष उग्रपथी विचारधारा के समर्थक थे तथा होमरूल एव स्वराज की बात करते हुये क्रान्तिकारी आन्दोलन एव विचारो को सरक्षण प्रदान किया। जाति एव धर्म के बारे मे यह समूह अतीतोन्मुख ही था, किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन मे यही वर्ग लोकप्रिय हुआ। इस प्रकार निराला की रचनाओ मे प्रतिक्रियावादी विचारो की उपस्थिति तथा उसका गौरव गान उन्हे अप्रासगिक सिद्ध नहीं करता। अतीत का महिमामडन भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की विशेषता थी। इसी आलोक मे रचनाकारो द्वारा इसे साहित्यिक रणनीति के रूप मे अगीकार किया गया था। महादेवी वर्मा के शब्दो मे – "निराला की यह मौलिक स्फूर्तता उन्हे क्रान्तिकारी रूप देती है। निराला जी विचार से क्रान्तिदर्शी और आचरण से क्रान्तिकारी है। जिसे वे उपयोगी नही मानते उसके प्रति उनका किचित मात्र भी मोह नही है, चाहे तोडने योग्य वस्तुओ के साथ रक्षा योग्य वस्तुये भी नष्ट हो जावे।"[256]

वर्तमान के लिये अतीत का उपयोग निराला वही तक करते हैं, जहॉ तक उसकी प्रासगिकता है। वे अतीत के सम्पूर्ण प्रतिमानो के अन्धभक्त नही हैं। अत निराला की अतीतोन्मुखता रूढिवादिता का प्रतीक नही है। निराला 'गीतिका' शीर्षक कविता मे कहते हैं – 'जला दे जीर्ण – शीर्ण – प्राचीन / क्या करुँगा तन जीवन हीन।'[257] इसी प्रकार उन्होने लिखा है – "इस समय सबसे बडा सुधार जो समाज को चाहिये वह है मस्तिष्क को हर तरह की रूढियो से मुक्त कर देना।'[258] हम बहुत पहले से कह रहे हैं कि 'समाज का आमूल परिवर्तन बहुत जरूरी है।"[259]

जहॉ तक निराला को पुनरुत्थानवादी एव हिन्दुत्व समर्थक सिद्ध करने के लिये वेदान्ती होने का आरोप लगाया जाता है, तो स्पष्ट है कि उनके ऊपर विवेकानन्द एव वेदान्त का प्रभाव था, किन्तु यह नितान्त परिवर्तित एव प्रगतिशील सन्दर्भो मे। इस सन्दर्भ मे कात्यायनी अपने लेख मे वेदान्त को अपरिवर्तनशील शरणि नही स्वीकारती, बल्कि उनके अनुसार वेदान्त अपने युग के अनुरूप हमेशा परिवर्तित होता रहा है। बादरायण से लेकर शकराचार्य होते हुये विवेकानन्द तक पहुँचते – पहुँचते वेदान्त अपने सामयिक युग के अनुरूप था। विवेकानन्द ने जब उन्नीसवी शताब्दी मे वेदान्त की व्याख्या की तो विज्ञान एव टेक्नोलॉजी के विकास के रूप मे आधुनिक पूँजीवाद की उपलब्धियॉ उनके सामने थी विवेकानन्द उपनिवेशवाद और उसके द्वारा पोषित सामन्तवाद उसके रूढ धार्मिक, सास्कृतिक मूल्यो का विरोध करते हुये नये राष्ट्रवाद की वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार करने मे अहम भूमिका निभाते हैं। इसी रूपान्तरित वेदान्त को निराला अपने साहित्य जीवन मे अपनाते हैं।[260] निराला विवेकानन्द के बारे मे टिप्पडी भी करते हैं – 'प्राचीन सस्कारो के बडे खिलाफ थे, यदि उनके पीछे ज्ञान न रहा नवीन भारत का क्या रूप होना चाहिये, इसके वे सच्चे मित्र है।''[261] स्पष्ट है कि निराला ने प्राचीन मूल्यो एव प्रतीको को नये सन्दर्भो एव उपयोगी दृष्टि से ग्रहण किया था और इनके प्रयोग मे उनके प्रति पूर्वाग्रह नही था।

निराला अपने साहित्य कर्म मे हिन्दुत्व एव अतीत के प्रतीको को ग्रहण कर रहे थे, किन्तु उनकी दृष्टि मे साम्प्रदायिकता जैसी कोई वस्तु थी, ऐसा नही लगता है। ध्यातव्य है कि निराला साहित्य सृजन कर रहे थे, न कि इतिहास लेखन और यह भी कि उन्होने अपने साहित्य मे हिन्दू – मुस्लिम सौहार्द की वकालत भी की है। इसके लिये वे बहुसख्यक हिन्दुओ से प्रश्न भी करते है कि– ''मुसलमानो को उपदेश देने से पहले हमे अपने ही यहॉ तलाश करके देखना चाहिये कि हमने मुसलमानो के साथ सहयोग करने की कितनी तैयारी की है, अवश्य ही इस प्रश्न के उत्तर मे हमे बडी निराशा होगी।''[262] इसीलिए डॉ रामविलास शर्मा स्वीकार करते हैं – ''समाज मे ऊँच – नीच का भेद मिटाकर अन्धविश्वास और रूढियो से मुक्त होकर, व्यापक मानवतावाद की भूमि पर हिन्दू और मुसलमान अपनी राष्ट्रीय एकता दृढ कर सकते हैं, निराला की शिक्षा का यही सार तत्व था।''[263]

नीलाभ जिन्होने निराला कीं कुछ कविताओं मे हिन्दुत्व एव पुनरुत्थान वाद का स्वर पाया है कहते है – ''निराला की सारी हिन्दू सास्कारिकता और

आध्यात्मिकता के बावजूद उन्हे न तो हम किसी हिन्दूवादी दल के खेमे मे डाल सकते है, न कोई साम्प्रदायिक सस्था ही उन्हे अपने पक्ष मे इस्तेमाल कर सकती है निराला मे परिवर्तन के प्रति जो अडिग निष्ठा है भलेही वह समय – समय पर नैराश्य और हताशा की स्थितियो मे क्षरित होती है, वह भी किसी ऐसी साम्प्रदायिक पार्टी को स्वीकार नही होगी, जो सामाजिक सरचना को यथावत बनाये रखने की हामी हो। निराला मे दबे – कुचलो के प्रति जो हमदर्दी है और उनकी प्रतिष्ठा और उन्नयन के प्रति जो चिन्ता है वह भी किसी हिन्दू साम्प्रदायिक दल को मजूर नही होगी।"[264]

स्पष्टत निराला एक महान रचनाकार थे, यद्यपि कि उनकी कविताओ मे हिन्दू आख्यान, मिथक एव मान्यताओ का प्रयोग हुआ किन्तु वे हिन्दू – मुस्लिम सौहार्द के भी उतने ही बडे पक्षधर थे। जिसका चित्रण उनके साहित्य मे मिलता है। अत उनका मूल्याकन युगीन परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य मे ही किया जा सकता है और तब वे एक ऐसे सर्जक व्यक्तित्व के रुप मे सामने आते है, जिसकी चिन्ता समन्वय के प्रति है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

श्याम नारायण पाण्डेय (1907 – 1989 ई0) एक ऐसे कवि थे, जिन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान अपनी कविताओ से देशभक्ति की भावना प्रसारित करने का कार्य किया। इस सन्दर्भ मे उनकी दो रचनाये हल्दी घाटी (1941) तथा जौहर (1944) काफी महत्वपूर्ण हैं। ये रचनाये उस समय प्रकाशित हुई जब राष्ट्रीय आन्दोलन अपने चरम पर था और जिसकी जडे सामान्य जनमानस मे काफी गहराई तक पैठ चुकी थी। पाण्डेय की रचनाओ का कथानक मध्यकालीन इतिहास के राजपूत नायको के कृतित्व पर आधारित है। जिसमे उस दौर के मुस्लिम शासन के विरुद्ध उनके सघर्ष को रूपायित किया गया है। स्वाभाविक है कि उनका झुकाव हिन्दूवादी है, यद्यपि कि इसके पीछे कोई पूर्वाग्रह नही बल्कि स्थितियो की सहज अभिव्यक्ति है। यहॉ पर प्रसिद्ध हिन्दी समीक्षक शिवप्रसाद सिह के विचारों को उद्धृत करना समीचीन है – "मैं अगर शेक्सपीयर की निन्दा ऍग्लो सेक्शन की उच्चता पर अपेक्षाकृत अधिक बल देने के लिये नही कर सकता तो श्याम नारायण पाण्डेय की हल्दी घाटी और जौहर को मैं अराष्ट्रीय कहने का झूठ कैसे बोलूॅ ?"[265]

इसी पृष्ठभूमि मे पाण्डेय जी के वैचारिक पहलू को समझा जा सकता है। जौहर की भूमिका मे वे लिखते है – "जौहर अपनी आर्य सस्कृति के सरक्षण मे सहायक होगा और सस्कृति के पुजारियो की कमी नही। इसलिये इसका प्रचार स्वयसिद्ध है।"[266] अपने इस लेखन कर्म से वे खुद को गौरवान्वित महसूस करते है – "मुझे इस बात का अभिमान है कि जौहर लिखकर मैने अपनी सस्कृति की पूजा की है।"[267] ऐसा इसलिये कि वे भारतीय सस्कृति के अनुरूप प्रताप एव पद्मिनी को आदर्श रूप मे प्रस्तुत करते है – "हल्दी घाटी लिखकर मैंने जनता के सामने एक भारतीय वीर पुरुष का आदर्श रखा और 'जौहर' लिखकर एक भारतीय सती नारी का, इसलिये नही कि कोई छन्दो के प्रवाह मे झूम उठे बल्कि इसलिये कि भारतीय पुरुष प्रताप को समझे और भारतीय नारियॉ पद्मिनी को पहचाने।"[268]

मध्यकालीन इतिहास के एक प्रमुख चरित्र मेवाड के महाराणा प्रताप के माध्यम से उस समय की राजनीतिक स्थिति एव सघर्ष को उन्होने बडे प्रभावी ढग से अभिव्यक्ति दी है। यद्यपि कि हिन्दू मुस्लिम सघर्ष को सीधे–सीधे साम्प्रदायिक रूप मे उन्होने वर्णित नही किया है, किन्तु वर्तमान समय मे उनकी भाषा, शैली एव प्रतीको का प्रयोग इस सामाजिक सच की ओर न केवल इशारा करता है बल्कि बढाने मे भी सहायक था। पाण्डेय जी ने इतिहास की जिन घटनाओ को विषय बनाया है उन्हे पढकर किसी भी पाठक के अन्दर स्वाभाविक उत्तेजना फैल सकती है। महाराणा प्रताप को उन्होने एक ऐसे राष्ट्रीय नायक के रूप मे प्रस्तुत किया है जो विदेशी शासन (मुगल शासन) के विरुद्ध सघर्षरत है। वह भी ऐसी स्थिति मे जबकि तमाम राजाओ ने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली है – "मेरे सेनापति ! क्या तू नही जानता था कि मुगल सम्राट अकबर तुझको निगल जाना चाहता है ? क्या तुझको नही मालूम था कि अपने गौरव और अभिमान को लात मारकर कितने राजपूत महीप मुगलो की चरण सेवा कर रहे हैं।'[269]

पाण्डेय जी मध्यकालीन इतिहास की स्थिति से व्यथित थे, इसलिये उन्होने अपने नायक (राणा प्रताप) को उस स्थिति से देश को उबारने के लिये सघर्ष करते हुये दिखाया है – "तूने उसी दिन राजपूत सरदारो के सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक मेरी रगो मे रक्त प्रवाहित होता रहेगा, धर्म को तिलाञ्जलि नही दे सकता वैभव के लोभ से शिशोदिया कुल को कलकित नही कर सकता, क्षणिक सुख की लालसा से मॉ के पवित्र दूध का तिरस्कार मुझसे नही होगा, भगवान एकलिग को छोडकर ससार के किसी भी सम्राट के सामने

मेवाड अपना मस्तक नही झुका सकता।"[270] पराजित होने के बाद भी उनके मन मे पराधीनता की पीडा बसी है – "या बॅधी हुई है अरि की/जिसके कर मे हथकडियॉ/उस पराधीन जननी की/बिखरी ऑसू की लडियॉ"[271] फिर भी मन मे लडने का सकल्प है – "पर हॉ जब तक हाथो मे/मेरी तलवार बनी है तब तक अरि दीप बुझाना/है बन–बन कर परवाना"।[272] स्पष्ट है कि पाण्डेय जी ने इस सघर्ष को केवल मध्यकाल मे नही देखा है बल्कि सतत सघर्ष के रूप मे देखा है क्योकि जौहर मे भी इसी तरह का भाव व्यक्त किया है। जहॉ अलाउद्दीन को रावण एव उसकी सेना को डाकू दल के रूप मे चित्रित किया है – "जागो सदल बल रावण आया"[273] और "उठो डाकुओ ने जननी की/निधियो पर डाका डाला।"[274] इस प्रकार एक धर्म विशेष के लोगो को वर्तमान काल मे ऐसा सम्बोधन खटकने वाली बात है।

श्याम नारायण पाण्डेय ने उन स्थितियो की भी चर्चा की है, जिसमे मुस्लिम शासन को स्थापित होने का अवसर मिला, इसके लिये वे आन्तरिक फूट को जिम्मेदार मानते हैं। हल्दी घाटी मे वे ऐसे शासको को धर्मपतित मानते है, जिन्होने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली है और सघर्ष करने वाले राणा प्रताप उनके लिये जाति, धर्म एव स्वतत्रता के रक्षक हैं – "धर्मवीर ! उदय सागर के तट पर धर्मपतित मानसिह का तूने इसलिये तिरस्कार किया था कि वह अपने साथ तुझको भी भोजन कराकर धर्मच्युत बनाना चाहता था क्योकि वह अपने ही भाइयो के रक्त से सीचकर मुगल साम्राज्य को पुष्ट कर रहा था।"[275] वह स्वय महाराणा प्रताप से कहलाते हैं – "कहॉ रहे जब स्वतन्त्रता का/मेरा बिगुल बजा था/जाति धर्म के मुझ रक्षक को/तुमने क्या समझा था।"[276] इतना ही नही धार्मिक विद्वेष की स्थिति की चर्चा भी इस रूप मे करते हैं कि केवल मुगलो की अधीनता स्वीकार कर लेने मात्र से ही राणा उसे धर्मभ्रष्ट भी मान लेते हैं – "इधर महाराणा प्रताप ने/सारा घर खुदवाया/धर्मभीरु ने बार–बार/गगा जल से धुलवाया।"[277] इस तरह के वर्णन वर्तमान परिवेश मे सकारात्मक नही कहे जा सकते। यहॉ ध्यातव्य है कि राणा का भाई शक्ति सिह उनसे रुष्ट होकर अकबर के खेमे मे चला गया है, यद्यपि कि उसे अपने इस कृत्य पर अफसोस है – शिशोदिया मे जन्म लिया/यद्यपि यह है कर्तव्य नही,[278] किन्तु आपसी घृणा का हाल यह है कि – "क्राध हुताशन मे आहुति/मेवाड देश की दूँगा मै।"[279] बावजूद इसके पाण्डेय जी राणा की प्रशसा करते है – "गया बन्धु ! पर गया न गौरव/अपनी कुल परिपाटी का।'[280] स्पष्ट है कि पाण्डेय जी का रुख हिन्दुत्व एव उसके उद्धारको के समर्थन का था।

हल्दी घाटी के युद्ध प्रसग मे पाण्डेय जी ने उन तमाम स्थितियो का वर्णन ऐसे शब्दो एव प्रतीको के माध्यम से किया है जिन्हे पढकर साम्प्रदायिक विक्षोभ फैल सकता है। इस युद्ध के भय से उत्पन्न धर्मान्तरण की चर्चा भी उन्होने की है — "इसी समर के भय से/कितने देवालय मसजीद हुये।' [281] इसके साथ ही राणा द्वारा मानसिह का अपमान मात्र इसलिये नही होता कि उसने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली है बल्कि इसमे धार्मिक दृष्टिकोण भी निहित था क्योकि राणा द्वारा उसका सम्बोधन इस प्रकार किया जाता है — 'अरे तुर्क ! बकवाद करो मत/खाना हो तो खाओ/या बधना का ही शीतल/जल पीना हो तो जाओ।"[282] स्वय मानसिह जिन शब्दो मे अपने अपमान की सूचना अकबर को देता है, उससे उसके प्रति राणा की घृणा की सूचना मिलती है — "तेरे दर्शन से सताप/तुझको छूने से है पाप/हिन्दू जनता का परिताप/तू है अम्बर कुल पर शाप।"[283] ऐसा इसलिये है कि उसने अकबर का दासत्व स्वीकार किया है — "स्वामी है अकबर सुल्तान/तेरे साथी मुगल पठान/ म्लेच्छ वश का तू सरदार/तू अपने कुल का अगार।"[284] इस प्रकार का वर्णन साम्प्रदायिकता से मुक्त नही कहा जा सकता है।

इस बात की पुष्टि पाण्डेय जी के विचारो से भी होती है। उनकी दृष्टि मे यह सघर्ष धर्म की रक्षा के लिये हो रहा था — "इसलिये कि कही अधर्म की वेदी पर धर्म का बलिदान न हो जाय।"[285] इसलिये वे राणा को 'हिन्दू सूर्य'[286] का सम्बोधन करते है तथा इस बात पर बल देते है — "तेरे जीवन की एक—एक घटना ससार के लिये एक आदर्श है और हिन्दुत्व के लिये गर्व की वस्तु है।' [287] इसीलिये वे हल्दीघाटी युद्ध मे राणा द्वारा विशेष शत्रु मानसिह की खोज का वर्णन करते हैं, जिसने, धर्म, जाति एव देश के साथ अपघात किया है — "महाकाल ! यह था देश द्रोही मानसिह, जिसकी तलवार अपनी ही जाति के रक्त की प्यास से व्याकुल हो रही थी, जिसको मेवाड की स्वतन्त्रता खटक रही थी, जिसको अपनी जाति का गौरव अखर रहा था और जिसका हृदय हिन्दुत्व को मिटाकर ही सतुष्ट होना चाहता था।"[288] जब मानसिह ने भागती मुगल सेना को रोककर राणा के पराजय की पृष्ठभूमि बना दी तो पाण्डेय जी उसकी भर्त्सना करते हैं — "भगती सेना को रोक तुरत/ लगवा दी भैरव काय तोप/ उस राजपूत कुल घातक ने/ हा महाप्रलय सा दिया रोप। [289] स्पष्ट है कि पाण्डेय जी को न केवल विदेशी शासन के प्रति क्षोभ है बल्कि उसका साथ देने वाले स्वधर्मी लोगो के प्रति रोष भी है।

इसी तरह जौहर का कथानक तेरहवी शताब्दी के इतिहास से लिया गया है। इसमे खिलजी सुल्तान अलाउद्दीन की रूप लिप्सा के बहाने तत्कालीन सघर्ष को स्वर दिया गया है। मेवाड नरेश रावल रतन सिह की रूपसी पत्नी पद्मिनी को प्राप्त करने के लिये अलाउद्दीन द्वारा मेवाड पर आक्रमण किया जाता है। यद्यपि यह महाकाव्य वीर एव करुण रस का अद्भुत समन्वय है, किन्तु जिस प्रकार का वर्णन किया गया है उससे सहज धार्मिक एव साम्प्रदायिक उद्वेलन से इन्कार नही किया जा सकता। जब रावल रतन सिह को छल द्वारा बन्दी बना लिया जाता है, तो पद्मिनी राजपूतो को ललकारती है – "आखेट खेलते हुये रावल का शत्रु की हथकडियो मे बँधकर कारागृह मे बन्द रहना आश्चर्य नही है, आश्चर्य है उनकी मुक्ति जो तुम्हारी तलवारो के साथ म्यानो मे सो रही है।"[290] इतना ही नही वह इस स्थिति को कलक मानती है – "क्षत्राणियो के सीने का दूध कलकित करके राजपूतो का जीना मृत्यु से भी भयकर एव घृणित है।"[291] इस पर उसके सैनिको का प्रत्युत्तर भी कम उत्तेजक नही है – "देवि ! तू इशारा कर हम दुश्मनो के ऊपर मौत की तरह दौडे हम विद्युत गति से निकले और खिलजी के पडावो मे आग लगा दे।"[292]

दूसरी ओर अलाउद्दीन की निर्दयता एव नृशसता का वर्णन किसी भी सामान्य पाठक को साम्प्रदायिक मन स्थिति मे ला सकता है। अलाउद्दीन की यह घोषणा भी इसी कोटि की है – "चितौड को ध्वस किये बिना जीते जी मै दिल्ली मे पैर नही रखूँगा और राजपूतो के खून से नहाये बिना जो कोई लौटेगा उसकी बोटी–बोटी काटकर कुत्तो के सामने डाल दूँगा।"[293] इसके पहले भी वह राजपूतो को धमकी देता है – 'राजपूतो तो समझ लो जान लो/ धूल मे मिल जायेगी राजधानी।"[294] लेकिन इस धमकी से राजपूत विचलित नही होते और युद्ध करते हैं तो पाण्डेय जी उनकी प्रशसा करते हैं – "दावा सी अरि की सेना थी/तरु के समान थे राजपूत/जल गये खडे पर कभी एक/ डग भी न हटे पीछे सपूत।"[295] इतना ही नही अलाउद्दीन की निर्दयता के कारण ही चित्तौड की नारियॉ अपनी रानी के साथ जौहर व्रत करने के लिये विवश हुई – "जौहर व्रत के लिये विकल/इस ओर सरोरुह मुखी हुई।"[296] मध्यकालीन यह नृशसता इतनी त्रासद थी कि इस कथा को सुनने वाला पथिक उत्तेजित हो जाता है – "अभी–अभी उसकी पशुता का/मानव तो बदला लूँगा/निष्ठुर के पाषाण हृदय मे/भाला नोक हला दूँगा।"[297] इससे सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इस रचना को पढने के बाद कैसा भाव उत्पन्न हो सकता है।

इतना ही नही पाण्डेय जी अपनी इन सर्जनाओ पर गौरव की अनुभूति करते है, लेकिन वर्तमान स्थिति पर उन्हे क्षोम था क्योकि उनका उद्देश्य हिन्दुओ मे जागृत उत्पन्न करना था, किन्तु उनकी दृष्टि मे ऐसा नही हो सका – "लेकिन खेद डरपोक हिन्दुओ मे न वैसी जागृति ही देखने को मिली, न वैसा जोश ही। राजपूतो की वीरता अब कहानी सी रह गयी है, कहने सुनने के लिये।"[298] इतना ही नही उनकी नायिका (जौहर की पद्मिनी) अपनी कापुरुष सन्तानो से घृणा भी करती है – "प्रथम घृणा करती, पर फिर/चिन्ता से व्याकुल होती/अपनी हिजडी सन्तानो पर/फूट–फूटकर रोती है।"[299] क्योकि तमाम प्रोत्साहनो के बाद भी – "तुडवा सकी न कापुरुषो से/जननी की जजीरो को/समाधियो से जगा रही है/जौहर के रणधीरो को।"[300] यहाॅ स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर मे लिखी गयी इस रचना से केवल वर्तमान की पराधीनता से ही सरोकार नही है, बल्कि पूर्व की गलती को सुधारने का भी आह्वान है क्योकि हल्दीघाटी मे उन्होने लिखा है – "मानसिह की फूफी से/अकबर ने कर ली थी शादी/अहो तभी से भाग रही है/हमसे कोसो आजादी।'[301]

यद्यपि पाण्डेय जी की रचनाओ मे उनका झुकाव हिन्दू नायको की तरफ है किन्तु उन्होने दूसरे पक्ष के उत्तम गुणो को भी श्लाघ्य माना है। अकबर की प्रशसा मे वे कहते हैं – "अखिल हिन्द का था सुल्तान/मुगल राजकुल का अभिमान/बढा चढा था गौरवमान/उसका कही न था उपमान।"[302] उसकी धार्मिक नीति की भी प्रशसा करते हैं – "इससे बढा सुयश विस्तार/दीन इलाही का सत्कार/बुध–जन को तज–राज विचार/सबने किया सभय स्वीकार।"[303] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रतिपक्ष का जो वर्णन किया है वह साक्ष्यो के आलोक मे न की किसी पूर्वाग्रह के कारण।

यहाॅ शिवप्रसाद सिह को उद्धृत करना प्रासगिक है – "कोई किसी को पूजे, उसके वर्चस्व का गान करे वह उसका व्यक्तिगत अधिकार है। चर्चा एकागी तब होती है जब हम भूल जाते हैं कि राष्ट्रनायको को भुलाना समीक्षको के लिये वरेण्य भले ही हो जनता उस वरेण्यता पर निरर्थकता का ठप्पा लगाकर एक तरफ फेक देती है। इसी जनमानस को हिलोरकर उसमे ज्वार–भाटा उठाने की क्षमता कविवर श्याम नारायण पाण्डेय मे थी और इसी कारण उनके दो महाकाव्य हल्दीघाटी और जौहर अधिविस्मरणीय बने रहेगे।"[304]

निश्चित रूप से राष्ट्रीय सघर्ष के दौर मे इन महाकाव्यो से लोगो को प्रेरणा मिली, किन्तु इसके साथ ही यह ध्यान देना भी, आवश्यक है कि जिस समय इन रचनाओ का प्रकाशन हुआ "दो राष्ट्र सिद्धान्त" अस्तित्व मे आ चुका था और साम्प्रदायिक दृष्टि से देश की स्थिति काफी सवेदनशील थी, ऐसे मे इन रचनाओ मे जिन प्रतीको एव शैली का प्रयोग किया गया है, वह खटकने वाली बात है।

सन्दर्भ

1 नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, 1966, पृ 462

2 सरस्वती, इलाहाबाद, अप्रैल 1910, पृ 169

3 शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, भारतेन्दु समग्र, हिन्दी प्रचारक सस्थान, वाराणसी, तृतीय सस्करण 1989, पृ 13

4 नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ 462

5 वही

6 शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, भारतेन्दु समग्र, पृ 15

7 अग्रवाल मीना, बग्ला नवजागरण और भारतेन्दु, भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण सपा शभूनाथ, अशोक जोशी मे, आनेवाला कल प्रकाशन, कलकत्ता, 1986, पृ 51

8 शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, पृ 28

9 व्यास रामशकर, भारतेन्दु की जीवनी, भारतेन्दु समग्र, पृ 1112

10 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है ? भारतेन्दु समग्र, पृ 1011

11 शर्मा रामविलास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1956, पृ 113

12 वही, पृ 21–22

13 शभू नाथ, 1857 का राष्ट्रीय जागरण और भारतेन्दु, भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, पृ 27

14 वही, पृ 36

15 वही पृ 28

16 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, भारत दुर्दशा, भारतेन्दु समग्र, पृ 461

17 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, अधेर नगरी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 531

18 उद्धृत, रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

19 सीतारमैया, पी, काग्रेस का इतिहास, अनुवादक — श्री हरिभाऊ उपाध्याय, सस्ता साहित्य मडल, दिल्ली, 1936, पृ 40

20. मिश्र शिवकुमार, भारतेन्दु अन्तर्विरोधो के बीच, भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, पृ 62

21 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, प्रबोधिनी, भारतेन्दु समग्र, पृ 211, यह कविता 1874 मे पहली बार 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' मे प्रकाशित हुई

22 वही, पृ 211, ये पक्तियॉ भारतेन्दु के 'भारत जननी' नाटक मे भी मिलती है। भारतेन्दु समग्र, पृ 473

23 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान, भारतेन्दु समग्र, पृ 228, यह कविता 1877 मे हिन्दी वर्द्धिनी सभा मे हिन्दी के प्रचारार्थ लिखी गयी

24 भारत दुर्दशा, भारतेन्दु समग्र, पृ 461

25 वही, पृ 462

26 वही, पृ 463

27 अधेर नगरी, भारतेन्दु समग्र, पृ 531

28 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, मान सोपायन, भारतेन्दु समग्र, पृ 225, यह कविता 1888 मे प्रिन्स आफ वेल्स क आगमन पर उन्हे समर्पित की गयी थी

29 हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान, भारतेन्दु समग्र, पृ 229

30 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, कुतुबुद्दीन का राज, भारतेन्दु समग्र, पृ 267

31 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, भारत जननी', भारतेन्दु समग्र, पृ 475, यह नाटक पहली बार 1877 मे 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' मे प्रकाशित हुआ था

32 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु नीलदेवी, भारतेन्दु समग्र, पृ 479, यह नाटक पहली बार 1881 मे प्रकाशित

33 वही, पृ 480

34 वही, पृ 483

35 वही 488

36 अधेर नगरी, भारतेन्दु समग्र, पृ 531

37 शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, भारतेन्दु समग्र, पृ 34

38 प्रबोधिनी, भारतेन्दु समग्र, पृ 211

39 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, सरयूपार की यात्रा, भारतेन्दु समग्र, पृ 1039, यह यात्रा वृतान्त 1879 मे हरिश्चन्द्र चन्द्रिका मे छपा था।

40 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, श्री राजकुमार शुभागमन, भारतेन्दु समग्र, पृ 216, यह कविता 1875 मे प्रिन्स आफ वेल्स के आगमन पर लिखी गयी थी

41 श्री बाबू रामदीन सिह को भारतेन्दु द्वारा लिखा पत्र,भारतेन्दु समग्र, पृ0 1077

42 भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है ? भारतेन्दु समग्र, पृ 1012

43 वही, पृ 1013

44 वही

45 वही

46 शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन भारतेन्दु समग्र, पृ 25

47 उद्धृत, रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ 61

48 श्रीवास्तव शिखा, अयोध्या सिह उपाध्याय हरिऔध की भाषा का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन (अप्रकाशित) डी फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, इ वि वि, 1982 पृ 15

49 वही, पृ 46

50 कीर्ति लता, भारतीय स्वातत्र्य आन्दोलन और हिन्दी साहित्य', हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1967, पृ 67

51 हरिऔध अयोध्या सिह उपाध्याय, आर्यपचक, काव्योपवन, सगविलास प्रेस, बॉकीपुर, 1909, पृ 162—63

52 वही पृ 167

53 वही पृ 164—66

54 हरिऔध, प्रियप्रवास, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, 1941, (प्रथम सस्करण 1914) पृ 181

55 हरिऔध, सुशिक्षा सोपान, पद्य प्रमोद, प्रकाशक ग्रन्थमाला, बॉकीपुर, 1917, पृ 102

56 हमे चाहिये, प प्रमोद, पृ 167

57 आरम्भ शूरता, सुविचार सग्रह, पृ 35

58 हरिऔध, जीवन स्रोत, विद्यालय, पद्य प्रसून, हिन्दी पुस्तक भडार, लौहरिया सराय, दरभगा, 1925, पृ 29

59 जातीयता ज्योति, जीवन—मरण, पद्य प्रसून, पृ 30—32

60 दिल के फफोले, पद्य प्रसून, पृ 55—56

61 क्या से क्या, पद्य प्रसून, पृ 167

62 प्रेम, पद्य प्रसून, पृ 171

63 हरिऔध, चुभते चौपदे, सगविलास प्रेस, पटना, 1924, पृ 237

64 जीवनस्रोत, विद्यालय, पद्य प्रसून,पृ 27—30

65 जीवन—मरण, पद्य प्रसून, पृ 35

66 परिवर्तन, पद्य प्रसून, पृ 43

67 समझ का फेर, पद्य प्रसून, पृ 61

68. सेवा, पद्य प्रसून, पृ 66

69 जातीयता ज्योति, गौरव गान, पद्य प्रसून, पृ 150—51

70 प्रेम, पद्य प्रसून, पृ 171—75

71 कीर्ति लता, वही पुस्तक, पृ 195

72 हरिऔध, मत्र साधन, सिद्धि साधना, कल्पलता, गगा ग्रथागार, 1937, पृ 134

73 त्यागभूमि, कल्पलता, पृ 39

74 शिक्षा का उपयोग, कल्पलता, पृ. 41

75 मुरली की तान, कल्पलता, पृ 74

76 जीवन सग्राम, जीवन रणनाद, कल्पलता, पृ 125.

77 राजस्थान, कल्पलता, पृ 134

78 हृदय वेदना, कल्पलता, पृ 27

79 दीपमाला, कल्पलता, पृ 145—46

80 हरिऔध, विजया पवित्र पर्व, प्रका राम नारायण लाल, इलाहाबाद, 1941, पृ 4

81 होली, पवित्र पर्व, पृ 50—51

82 होलिका दहन, पवित्र पर्व, पृ 53

83 कीर्तिलता, वही पुस्तक, पृ 24

84 प्रेम चन्द, साम्प्रदायिकता एव सस्कृति, विविध प्रसग, भाग 3, हस प्रकाशन, इलाहाबाद,पृ 232

85 युगेश्वर डॉ, सबके प्रेमचन्द, भारतीय साहित्य आस्थान, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 1983, पृ 84

86 जनाब हिदायतुल्लाह का भाषण, 18 दिसम्बर 1933 के जागरण मे विस्तार से दिया गया है

87 जागरण, 22 जनवरी 1934

88 जमाना, फरवरी 1924

89 जागरण, 11 दिसम्बर 1933

90 हस, इलाहाबाद, मार्च 1931

91 चिट्ठी पत्री, भाग दो, पृ 32

92 वही, पृ. 82

93 प्रेम चन्द, इस्लाम का विषवृक्ष, विविध प्रसग, भाग दो, हस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ 414—16

94 वही, पृ 357—63

95 इस सम्बन्ध मे नवम्बर 1931 के हस का हिन्दू—मुस्लिम एकता, 19 अक्टूबर 1932 के जागरण का मुस्लिम सर्वदल सम्मेलन, 31 अक्टूबर 1932 के जागरण का एकता सम्मेलन, दिसम्बर 1932 के हस का प्रयाग सम्मेलन तथा 12 दिसम्बर 1932 के जागरण के 'मुस्लिम जनता मे एकता सम्मेलन का समर्थन' लेख द्रष्टव्य हैं

96. इस सम्बन्ध मे जमाना, फरवरी 1924 का 'मनुष्यता का अकाल', हस मार्च 1921, का नवयुग, जागरण 26 अक्टूबर 1932 का राष्ट्रीय समन्वय लेख, द्रष्टव्य हैं

97 प्रेम चन्द, स्मृति का पुजारी, मानसरोवर भाग 4, हस प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ 298

98 देवी शिवरानी, प्रेमचन्द घर मे, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1983, पृ 96

99 कायाकल्प उपन्यास का रचनाकाल 1924–25 है और मदिर–मस्जिद कहानी अप्रैल 1925 मे माधुरी मे प्रकाशित हुई थी

100 कायाकल्प, प्रेमचन्द रचनावली खण्ड 4,पृ 131

101 वही, पृ 275–76

102 मत्र, मानसरोवर, भाग 5, पृ 49–60

103 चिट्ठी पत्री, भाग 1, पृ 132

104 जमाना, फरवरी 1924, विविध प्रसग भाग 2, हस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ 352

105 वही

106 कायाकल्प, पृ 29

107 वही, पृ 31

108 वही, पृ 23

109 वही, पृ 188

110 वही

111 वही

112 मदिर और मस्जिद, गुप्तधन भाग दो, हस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ 161

113 हिसा परमोधर्म, मानसरोवर, भाग 5, पृ 61

114 कायाकल्प, पृ 40

115 वही, पृ 23

116 प्रेम चन्द, कर्मभूमि, हस प्रकाशन, 1981, पृ 312

117 कायाकल्प, पृ 265–66

118 वही, पृ 266

119 विविध प्रसग, भाग दो, पृ 356.

120 प्रेम चन्द, सेवासदन, हस प्रकाशन, 1962, पृ. 174

121 वही पृ 249

122 जमाना, 18 फरवरी 1924, कायाकल्प, पृ 313

123 साम्प्रदायिकता और स्वार्थ, विविध प्रसग, भाग दो, पृ 43–51

124 हस, अप्रैल 1930, पृ 65

125 हस, मार्च 1931, पृ 61

126 चन्द्र बिपन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली 1996, पृ 173

127 हस, सितम्बर 1931, पृ 73–74

128 हस, अक्टूबर 1931, पृ 61–62

129 हस, नवम्बर 1931, पृ 66

130 विविध प्रसग भाग दो,पृ 380

131 हस, जुलाई 1934, पृ 66

132 कायाकल्प पृ 27

133 गाधी महात्मा, यग इडिया, 28 जुलाई 1921, देखिये, प्यारेलाल, महात्मा गाधी लास्ट फेज, द्वितीय भाग, अहमदाबाद, 1958, पृ 129

134 कायाकल्प, पृ 24

135 प्यारे लाल, वही पुस्तक, पृ 120

136 जमाना, फरवरी 1924, विविध प्रसग, भाग दो, पृ 352

137 कर्मभूमि, पृ 222–23

138 मदिर और मस्जिद, गुप्त धन, भाग दो, पृ 163

139 वही, पृ 167

140 विविध प्रसग, भाग दो, पृ 374

141 जागरण 29 अगस्त 1932, विविध प्रसग भाग दो, पृ 382

142 कायाकल्प, पृ 44

143 कर्मभूमि

144 शर्मा, राजेन्द्र नारायण, सुमित्रा पत्रिका, जुलाई 1915, उद्धृत पृ 18

145 प्रेम शकर, प्रसाद का काव्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1998, पृ 43

146 वही पृ 32–32

147 व्यास विनोद शकर, प्रसाद और उनके समकालीन, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी,स 2017,पृ 36

148 इन्दुकला–3, किरण–5, अप्रैल 1912, पृ 402

149 **प्रसाद, रत्न शकर (सपा), प्रसाद वाड्मय खण्ड 3, लोकभारती, इलाहाबाद, 1986, प्राक्कथन सत्यप्रकाश मिश्र द्वारा, पृ 11**

150 **प्रेमशकर, वही पुस्तक, पृ 324**

151 प्रसाद, जयशकर, काव्य कला एव अन्य निबन्ध, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1939, पृ 146

152 सिह अवधेश प्रसाद, प्रसाद की इतिहास दृष्टि, समकालीन सृजन, राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन और प्रसाद, सयुक्ताक 4–6 अक्टूबर 88, जून 89, सपा शभूनाथ, पृ 325

153 प्रसाद रत्न शकर, प्राक्कथन, प्रसाद वाड्मय 3, पृ 88

154 वही, पृ 91

155 सिह अवधेश प्रसाद, वही पुस्तक, पृ 329

156 वही, पृ 330

157 प्रसाद जयशकर, आमुख, कामायनी, प्रकाशन सस्थान, नई दिल्ली, 1993, पृ 3

158 मिश्र शिवकुमार, राष्ट्रीय नवजागरण के आलोक मे प्रसाद, शभूनाथ सपादित वही पुस्तक, पृ 65

159 शाह रमेश चन्द्र, गीत सृष्टि, प्रसाद की प्रतिभा, सपा इन्द्रनाथ मदान, नेशनल पब्लिशिग हाउस, 1971, पृ 12

160 चतुर्वेदी रामस्वरूप, 'प्रसाद निराला अज्ञेय', लोकभारती, इलाहाबाद, 1997, पृ 18

161 इरावती, प्रसाद वाडमय–3, पृ 449

162 ककाल, प्रसाद वाडमय–3 पृ. 72

163 वही, पृ 57

164 वही पृ 131

165 प्रसाद जयशकर, देवरथ, इन्द्रजाल, लीडर प्रेस इलाहाबाद, 1936 पृ 116

166 प्रसाद रत्न शकर (सपा) विशाख, प्रसाद वाडमय–2, लोकभारती इलाहाबाद, 1985, पृ 166

167 प्राक्कथन, प्रसाद वाडमय–3, पृ 11

168 इरावती, प्रसाद वाडमय–3, पृ 483

169 वही, पृ 490

170 स्कन्द गुप्त, प्रसाद वाडमय–2, पृ 573

171 प्रसाद जयशकर, कामायनी, पृ 116

172 प्रसाद रत्न शकर, (सपा) अशोक, प्रसाद वाङ्मय–4, लोकभारती, इलाहाबाद, 1999, पृ 36

173 चित्तौर का उद्धार, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ 35

174 गुलाम, प्रसाद, वाङ्मय–4, पृ 47

175 वही, पृ 47

176 चक्रवर्ती का स्तम्भ, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ 102–103

177 ममता, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ 124

178 वही

179 स्वर्ग के खण्डहर, वाङ्मय–4, पृ 131

180 वही, पृ 135

181 वही

182 दासी, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ 233

183 वही, पृ 236

184 वही, पृ 240

185 वही, पृ 241

186 सलीम, प्रसाद वाङ्मय–4, पृ 298

187 वही पृ 299

188 प्रसाद रत्नशकर (सपा) महाराणा का महत्व, प्रसाद वाङ्मय–1, लोकभारती, इलाहाबाद, 1977, पृ 131

189 वही, पृ 132

190 वही, पृ 133

191 वही, पृ 137

192 वही, पृ 141

193 वीर बालक, कानन कुसुम, प्रसाद वाङ्मय—1, पृ 223—24

194 शेरसिह का शस्त्र समर्पण, लहर, प्रसाद वाङ्मय—1, पृ 376

195 प्रलय की छाया, लहर, प्रसाद वाङ्मय—1, पृ 385

196 वही, पृ 386

197 वही, पृ 394

198 चन्द्रगुप्त, प्रसाद वाङ्मय—2, पृ 621

199 वही, पृ 622

200 वही, पृ 623

201 वही, पृ 624

202 वही, पृ 636

203 वही, पृ 664

204 प्रायश्चित, प्रसाद वाङ्मय—2, पृ 57

205 वही, पृ 57

206 वही, पृ 61

207 वही, पृ 62

208 महाराणा का महत्व प्रसाद वाङमय—1, पृ 142

209 वही, पृ 137

210 ममता, आकाशदीप, प्रसाद वाङ्मय—4, पृ 125

211 सलीम, इन्द्रजाल, प्रसाद वाङ्मय—4, पृ 302—304

212 खण्डेलवाल विद्या, प्रसाद के नाटको मे राष्ट्रीय भावना, भारत बुक डिपो, 1986, पृ 87

213 शभूनाथ, (सपा), वही पुस्तक, पृ 11

214 चेलिसेव येपे, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1982, पृ 18

215 वर्मा अर्चना, निराला का अद्वैत और स्वाधीनता सघर्ष सेमिनार, 16–19 सितम्बर 1997, इडियन इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडी, शिमला (अप्रकाशित) पृ 1

216 नवल नन्द किशोर, स्वाधीनता आन्दोलन और निराला की कविता (अप्रकाशित) सेमिनार 16–19 सितम्बर 1997, इडियन इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडी, शिमला, पृ 1

217 नीलाभ, परम्परा मोह और अपने समय से सघर्ष, आजकल, जुलाई 1997, पृ 8

218 नीलाभ, वही, पृ 9, निराला के सम्पूर्ण निबन्ध 'प्रबन्धप्रतिमा' मे सकलित है, जिसमे उन्होने अन्य समस्याओ के साथ हिन्दू–मुस्लिम समस्या पर भी विचार किया है।

219 सिह दूधनाथ, निराला आत्महन्ता आस्था, लोकभारती, इलाहाबाद, 1972, पृ 141

220 वही

221 वही, पृ 141–42

222 निराला सूर्यकान्त त्रिपाठी, शिवाजी का पत्र, परिमल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1997 (पुनरावृत्ति) पृ 181

223 वही, पृ 176–77

224 सिह दूधनाथ, वही पुस्तक, पृ 142

225 निराला, शिवाजी का पत्र, परिमल, पृ 181

226 वही, पृ 176

227 वही, पृ 188

228 वही पृ 177–79

229 वही, पृ 166

230 निराला, तुलसीदास, पृ 11

231 निराला, शिवाजी का पत्र, पृ 179

232 वही पृ 175

233 निराला तुलसीदास, पृ 11

234 वही, पृ 11

235 वही पृ 12

236 वही

237 निराला, शिवाजी का पत्र, पृ 179

238 नीलाभ, वही लेख, पृ 8

239 वर्मा अर्चना के लेख मे उद्धृत, पृ 1

240 वही, पृ 1

241 सिह दूधनाथ, वही पुस्तक, पृ 144

242 नीलाभ, वही लेख, पृ 10

243 खरे विष्णु, उद्धृत, निराला की राष्ट्रीय चेतना, कात्यायनी, सेमिनार 16–19 सितम्बर 1997, इडियन इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडी, शिमला, पृ 1

244 नवल नन्द किशोर (सपा), निराला रचनावली, भाग–6, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृ 306

245 नवल नन्दकिशोर (सपा) निराला रचनावली, भाग 4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृ 63

246 वही, पृ 65

247 वही, पृ 66.

248 वही, पृ 396

249 नीलाभ, वही लेख

250 निराला, शिवाजी का पत्र, पृ 181–82

251 सिह दूधनाथ, वही पुस्तक, पृ 141

252 नीलाभ वही लेख पृ 9–10

253 कॅवल भारती, उद्धृत निराला की मुक्ति चेतना, कात्यायनी, आजकल, जुलाई 1997, पृ 18

254 कात्यायनी, निराला की राष्ट्रीय चेतना, पृ. 3

255 वही, पृ 7–8

256 पाण्डेय गगा प्रसाद महाप्राण निराला, साहित्यकार ससद प्रयाग सवत् 2006 महादेवी वर्मा का कथन,पृ 9

257 नवल नन्दकिशोर (सपा), निराला रचनावली भाग 1, राजकमला प्रकाशन दिल्ली, 1983, पृ 232

258 निराला रचनावली, भाग 6, पृ 433

259 वही, पृ 403

260 कात्यायनी, वही लेख मुक्तिचेतना–, पृ 19

261 निराला रचनावली, भाग 6, पृ 146

262 वही, पृ 383

263 शर्मा रामविलास, निराला की साहित्य साधना भाग–2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1972, पृ 52

264 नीलाभ, वही लेख, पृ 10

265 सिह शिवप्रसाद, जौहर एक पुरानी सवेदना का नवीन आख्यान, उद्धृत जौहर, श्याम नारायण पाण्डेय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय सस्करण 1997, पृ 7

266 पाण्डेय श्याम नारायण, आवृत्ति पर आवृत्ति, जौहर, पृ 12

267 कथावस्तु, जौहर, पृ 29

268 वही, पृ 28

269 पाण्डेय श्याम नारायण, हल्दीघाटी, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, सस्करण 1998 भूमिका, पृ 7

270 वही, पृ 10

271 वही, पृ 165

272 वही, पृ 166

273 जौहर, पृ 182

274 वही

275 भूमिका, हल्दीघाटी, पृ. 11

276 हल्दीघाटी, पृ 72

277 वही, पृ 74

278 वही, पृ 38

279 वही

280 वही, पृ 40

281 वही पृ 18

282 वही, पृ 72

283 वही, पृ 80

284 वही

285 भूमिका हल्दीघाटी, पृ 19

286 वही, पृ 17

287 वही, पृ 18

288 वही, पृ 15

289 हल्दीघाटी, पृ 126

290 कथावस्तु, जौहर, पृ 14

291 वही, पृ 15

292 वही

293 वही पृ 14

294 जौहर, पृ 52

295 वही, पृ 78

296 वही, पृ 137

297 वही, पृ 125

298 भूमिका हल्दीघाटी, पृ 26

299 जौहर, पृ 188

300 वही, पृ 182

301 हल्दीघाटी पृ 43

302 वही, पृ 51

303 वही, पृ 59

304 सिह शिवप्रसाद, वही लेख पृ 10

अध्याय—4

आर्थिक परिदृश्य, दलीय राजनीति एवं साम्प्रदायिकता का बदलता स्वरूप

साम्प्रदायिकता के विकास को समझने के लिये आवश्यक है कि सम्बन्धित क्षेत्र की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया जाय। इससे अलगाववादी प्रवृत्तियो को विश्लेषित करने मे सहायता मिलती है। इसे पहले सयुक्त प्रान्त एव उसी क्रम मे पूर्वी उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ मे विवेचित किया जायेगा। इसके साथ ही उन कारको का विवेचन किया जायेगा, जिसके कारण हिन्दू एव मुस्लिम समुदाय मे सघर्ष की स्थितियॉ पैदा हुई।

हाल के वर्षो मे पाल ब्रास[1] और फ्रासिस राबिन्सन[2] ने सयुक्त प्रान्त मे मुस्लिम अलगाववाद के प्रश्न पर अपने विचार प्रस्तुत किये है। ब्रास का यह तर्क है कि सयुक्त प्रान्त के मुसलमान उस समय हिन्दुओ की अपेक्षा अधिक तीव्रता से आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे सम्मिलित हो रहे थे। यह इससे पता चलता है कि सरकारी नौकरियो मे मुस्लिम भागीदारी उनकी जनसख्या के अनुपात मे चौदह प्रतिशत थी। ब्रास ने यह तर्क भी दिया है कि मुस्लिम नेताओ ने मुसलमानो के पिछडेपन को एक मिथक के रूप मे देखा, क्योकि इसी के द्वारा वे (मुस्लिम अभिजात वर्ग) अपनी विशेष स्थिति को बचाये रख सकते थे। लेकिन फ्रासिस राबिन्सन इस तर्क कि मुस्लिम पिछडापन एक मिथक था, से पहले तो असहमत होते हैं किन्तु यह भी दिखाने की कोशिश करते है कि मुस्लिम राजनीतिक नेतृत्व ने धार्मिक एव सास्कृतिक मान्यताओ को न केवल सरक्षित किया, अपितु उसके अनुसार ही आगे की कार्यवाही का निर्धारण भी किया।

यह स्पष्ट है कि उन्नीसवी शताब्दी के अन्त एव बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ तक मुस्लिम अभिजात वर्ग एक सगठित वर्ग के रूप मे विकसित नही हुआ था, क्योकि इस समय मुस्लिम राजनीति अलीगढ कालेज के नियत्रण एव मुस्लिम लीग के नेतृत्व के प्रश्न पर उलझी हुई थी। इसके साथ ही मुस्लिम राजनीति मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न 'मधे सहाबा' का भी था। यह समस्या 1906 मे उद्‌भूत हुई जब सुन्नी मुसलमानो ने मुहर्रम जुलूस मे पहले तीन खलीफाओ की प्रशसा मे नारे लगाये, जो कि शियाओ की धार्मिक भावनाओ पर आघात था। लेकिन यह भी सत्य है कि मुस्लिम राजनेताओ ने उन मुसलमानो की आर्थिक

एव शैक्षणिक दशाओ पर ध्यान दिया था, विशेषत जिस वर्ग से वे स्वय आते थे। जैसे कि जमीदार वर्ग, व्यवसायी वर्ग एव सरकारी कर्मचारी।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे सयुक्त प्रान्त मे मुस्लिम अभिजात वर्ग को एक के बाद एक कुठाराघात झेलने पडे, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर हुई। मुस्लिम अभिजात वर्ग की आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव डालने वाली कार्यवाही सयुक्त प्रान्त के लेफ्टीनेट गवर्नर एन्थोनी मैकडॉनेल (1986—1901) की उस कार्यवाही से हुई जिसमें उसके द्वारा सरकारी कामकाज की भाषा एव नौकरियो मे नियुक्ति सम्बन्धी नीति मे परिवर्तन किया गया। मैकडॉनेल की इस नीति ने जिसमे कि नवनियुक्त सरकारी कर्मचारियो को देवनागरी एव फारसी दोनो लिपियो का ज्ञान होना आवश्यक था, उन मुस्लिम परिवारो के समक्ष गभीर समस्या उत्पन्न कर दी जो पहले से ही सरकारी नौकरियो मे थे।

जनसख्या विवरण 1911 एव 1921 को उद्धृत करते हुये पाल ब्रास ने यह दिखाने की कोशिश की है कि सरकारी नौकरियो एव व्यवसाय मे मुसलमानो की सख्या उनकी जनसख्या की तुलना मे अधिक थी। उनके अनुसार पुलिस बल मे मुसलमानो की सख्या हिन्दुओ की अपेक्षा अधिक थी एव करीब 26 प्रतिशत जमीदार मुस्लिम वर्ग से आते थे। किन्तु लास ब्रेनेन इससे असहमति प्रकट करते हुये स्थिति को स्पष्ट करते हैं कि 1911 तक भारतीय सयुक्त प्रान्त के उच्च प्रशासकीय स्तर पर पहुँच नही पाये थे। उदाहरण के लिये इस तरह की सत्रह भारतीय नियुक्तियो मे 10 हिन्दू, 6 मुसलमान एव एक पारसी था।[3] दस हिन्दुओ मे से 6 ने आई सी एस की परीक्षा इग्लैड मे रहकर उत्तीर्ण की थी, जबकि एक मुस्लिम ही इसे उत्तीर्ण कर सका था। चार मुसलमानो का मनोनयन स्टेट्यूरी सिविल सेवा मे हुआ था, जबकि छठा एक न्यायधीश था और वह भी नीचे से प्रोन्नत होकर आया था। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सरकारी नौकरी मे मुसलमान अपनी योग्यता के बल पर नही, बल्कि मनोनयन के द्वारा आये थे। इसके अतिरिक्त भारतीय शिक्षा सेवा एव लोक निर्माण विभाग के उच्च पदो पर भी मुसलमानो की सख्या हिन्दुओ की तुलना मे कम थी।[4]

पुलिस सेवा मे यद्यपि कि मुसलमानो की सख्या हिन्दुओ की तुलना मे बहुत अधिक थी, किन्तु यह आधिक्य अधीनस्थ पदो पर था क्योकि 1911 मे 78 अधीक्षको एव प्रथम ग्रेड सहायक अधीक्षको मे मात्र एक मुसलमान था। इस

तरह पुलिस बल मे भी सख्या मे अधिक होने के बाद भी इसके निर्देशन को प्रभावित करने की स्थिति मे नही थे। सरकारी नौकरियो मे साधारण मुसलमानो की सवेदनशीलता के बावजूद मुस्लिम अभिजात वर्ग का एक बडा तबका अपने आय के मुख्य स्रोत के लिये भूमि पर निर्भर था। 1911 के जनसख्या विवरण के अनुसार एक लाख पचहत्तर हजार मुसलमानो की आय का मुख्य स्रोत भूमि था। जोकि सरकारी नौकरियो मे कार्यरत मुसलमानो की सख्या का तीन गुना था। लेकिन आय से बढकर भूमि का महत्व था। जैसा कि नील ने स्पष्ट किया है कि भूमि का मतलब शासन करना है और भू—स्वामित्व का अर्थ स्थानीय राजनीतिक प्रभाव एव सामाजिक प्रतिष्ठा थी।[5]

उन्नीसवी शताब्दी के दौरान अग्रेज सरकार के कुछ कदमो ने मुस्लिम भूस्वामित्व के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव डाला। सयुक्त प्रान्त मे अग्रेजो की विस्तार नीति के कारण मुसलमानो का राजनीतिक पतन हुआ और इसका दूसरा पहलू यह भी था कि उनके द्वारा सरक्षित मुस्लिम भूस्वामियो की स्थिति भी कमजोर हुई। उदाहरण के लिये 1774 से 1805 के बीच ब्रिटिश हस्तक्षेप के कारण रुहेलखण्ड से बडे पैमाने पर मुस्लिम भू स्वामियो को हटा दिया गया। इसी प्रकार 1858 मे उन मुस्लिम भूस्वामियो की जमीन जब्त कर ली गयी जहॉ 1857 के विद्रोह मे उन्होने भागीदारी की थी। इस तरह की कार्यवाही ने मुस्लिम भूस्वामियो की आर्थिक स्थिति को प्रभावित किया।

इस तरह सयुक्त प्रान्त के मुस्लिम अभिजात वर्ग की समस्याओ पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक तक उनकी स्थिति विषम थी। आर्थिक रूप से वे अस्थिर थे, क्योकि प्रान्तीय सेवा, पुलिस बल और जमीदारी इन तीनो ही क्षेत्रो मे उनकी स्थिति पहले से ही कमजोर होती जा रही थी। मुसलमान आधुनिक शिक्षा को उतनी तेजी से ग्रहण नही कर रहे थे, जैसे हिन्दू कर रहे थे। इसके अतिरिक्त उनकी मातृभाषा उर्दू को अति उत्साही हिन्दुओ का विरोध भी झेलना पड़ रहा था। साथ ही उनके ऊपर भारतीय राष्ट्रीयता द्वारा राजनीतिक शक्ति के लिये सघर्ष भी एक दबाव का कार्य कर रहा था, क्योकि अल्पसख्यक होने के कारण किसी भी जनतात्रिक पद्धति मे उनकी स्थिति अच्छी नही होने वाली थी।

1893 मे प्रारम्भ हुई सीमित निर्वाचन पद्धति द्वारा सयुक्त प्रान्त मे कोई भी मुसलमान विधान परिषद मे नही चुना जा सका। किन्तु 1930 के दशक मे सयुक्त प्रान्त मे मुस्लिम अभिजात वर्ग ने अपनी स्थिति को सुदृढ कर लिया था,

जिसमे पृथक निर्वाचन पद्धति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। राजनीतिक प्रभाव एव मुसलमानो के हित सरक्षण के लिये उनके सघर्ष ने साम्प्रदायिक तनाव पैदा किया, जिसे शुद्धि, तबलीग और तजीम आन्दोलनो ने और हवा दी। इसके साथ ही मुसलमानो के बीच शिक्षा का प्रसार भी हुआ। अलीगढ मे मोहम्मडन एग्लो ओरियटल कालेज का खुलना और 1920 मे विश्वविद्यालय के रूप मे स्थापित होना, मुसलमानो के बीच शिक्षा के प्रसार एव महत्व को इगित करता है, यद्यपि कि इस समय तक यह सरकारी नियत्रण मे था। मुस्लिम राजनेताओ को यह लगातार शिकायत थी कि हिन्दू नियत्रित स्थानीय निकायो द्वारा मुस्लिम बच्चो की शिक्षा के लिये पर्याप्त कदम नही उठाया जा रहा है क्योकि न तो मुस्लिम शिक्षको की नियुक्ति की गयी थी, न उर्दू भाषा का उपयोग किया जा रहा था, न मिश्रित स्कूलो मे धार्मिक शिक्षा दी जा रही थी।[6]

पूर्वी उत्तर प्रदेश की सामाजिक आर्थिक स्थितियॉ भी कमोवेश इसी प्रकार की थी। इस समय की अर्थव्यवस्था पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होता है कि शेष भारत की तरह यहॉ भी जमीदारो का प्रभाव अत्यधिक था और शेष भारत की तरह इस क्षेत्र मे भी सामाजिक और आर्थिक ताने–बाने को औपनिवेशिक शासन ने बुरी तरह प्रभावित किया था। यह क्षेत्र तीन विशिष्टताओ के लिए पहचाना जाता है– 1 कृषि एव पशुपालन यहॉ के लोगो का मुख्य व्यवसाय था, 2 कुछ भूस्वामी वर्ग का स्पष्ट प्रभुत्व था 3 औपनिवेशिक शासन के दौरान अन्य क्षेत्रो की भॉति यहॉ के भी सामाजिक आर्थिक सम्बन्धो मे दरार आयी। बनारस ही केवल एक ऐसा शहर था जिसकी जनसख्या तीस एव चालीस हजार के बीच थी। दो अन्य शहरो मिर्जापुर, जौनपुर मे जनसख्या तीस एव चालीस हजार के बीच थी, जबकि गाजीपुर मे बीस हजार से कुछ अधिक थी। इन शहरो का विकास व्यापार, हस्तशिल्प तथा तीर्थस्थान के कारण हुआ था। इस क्षेत्र मे कार्यरत जनता का करीब 80 प्रतिशत कृषि से सम्बन्धित था और मात्र 5 प्रतिशत लोगो की भागीदारी उद्योगो मे थी। उदाहरण के लिये बनारस सभाग मे जहॉ कि उद्योगो का सकेन्द्रण अच्छा था, वहॉ पर भी 70 प्रतिशत कार्यरत जनता कृषि पर आश्रित थी और मात्र 10 प्रतिशत लोग ही उद्योग धन्धो मे संलग्न थे। इस क्षेत्र मे नगरो का प्रायः अभाव था। कुछ नगरीय तथा अर्द्धनगरीय सकेन्द्रण था– टाण्डा, मऊ और मुबारकपुर का बुनकर केन्द्र जहॉ कि 1911 मे जनसख्या क्रमश 19378, 16751 तथा

12562 थी।[7] इनमे आजमगढ के मऊ, मुबारकपुर एव मुहम्मदाबाद मे मुसलमान बहुसख्यक थे, जबकि कोपागज चिरैयाकोट और आजमगढ के अन्य क्षेत्रो मे इनकी सख्या अल्पसख्यक होने के बाद भी अच्छी थी।

भूमि आर्थिक ससाधन का प्राथमिक स्रोत था। भूमि और उसके उत्पाद के ऊपर अधिकार के लिये ही यहॉ विभिन्न जातियो एव समुदायो के बीच सघर्ष होता था। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक राजपूत, भूमिहार और ब्राह्मणो ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। लेकिन इसी समय इनको कुछ गॉवो पर नियत्रण के लिये मुसलमान समूहो से सघर्ष करना पड रहा था। ऐसे मुसलमान समूहो मे स्थानीय धर्मान्तरित मुसलमान एव बाहर से आये नये मुसलमान शामिल थे। ये लोग समय–समय पर विभिन्न मुस्लिम शासको से अपने पक्ष मे हस्तक्षेप करवाते रहे थे। इस तरह का सघर्ष उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। मुस्लिम जमीदारो के पास अब भी कुछ जमीने थी, जिनके ऊपर उनका पूर्ण नियत्रण था, विशेषकर ऐसे क्षेत्रो मे जो मुस्लिम प्रशासन के पुराने केन्द्र थे। जैसे– आजमगढ, गाजीपुर और जौनपुर के कुछ क्षेत्र।

राजपूत ब्राह्मण और भूमिहारो का आर्थिक प्रभुत्व उनकी अधिक सख्या के कारण भी था। यदि राजपूत ब्राह्मण और भूमिहार को पूर्वी उत्तर प्रदेश के जमीदार वर्ग के रूप मे माना जाय तो अहीर, कुर्मी और कोइरी ऐसी जातियॉ थी, जो कृषि का कार्य करती थी, जबकि चमार और दुसाध जैसे अछूत लोग कृषक मजदूरी और ऐसे ही निम्न कार्य किया करते थे। इस क्षेत्र मे मोटे तौर पर समाज को दो वर्गो मे बॉटा जा सकता है। 1 शरीफ या अशरफ – जो अभिजात लोगो का समूह था और इसीलिए काफी प्रभावशाली था। 2 राजिल या मेहनतकश लोग। अशरफ मे ब्राह्मण, राजपूत भूमिहार, सैय्यद, शेख और वैसे पठान जो पहले राजपूत थे तथा कुछ हिन्दू जातियॉ जैसे कायस्थ। शेष अन्य अहीर से लेकर कुर्मी तक और मुसलमानो मे भी ऐसे ही समुदाय जैसे रौतारा तथा कोरी एव जुलाहा तथा चमार आदि राजिल वर्ग मे रखे जा सकते थे।

बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक तक आते–आते मध्यवर्गीय कृषक जातियॉ जैसे अहीर, कुर्मी, कोइरी ने समाज मे अपने स्तर सुधारने के लिये सभी तरह के सामाजिक और आर्थिक उत्पीडन के विरुद्ध आवाज उठायी थी। उनके इस आन्दोलन ने 1901 मे एक निश्चित सगठनात्मक आकार लिया, जब 1901 की जनगणना मे विभिन्न जातियो को सामाजिक वरीयता के आधार पर

चिह्नित किया गया। भूमिहार और कायस्थ इस बात से नाराज थे कि उन्हे वैश्य वर्ग मे कुर्मी अहीर, मल्लाह, हज्जाम और कहार के साथ रखा गया था। वैसे अहीर और कुर्मी जो सम्पन्न थे, ने भी नाराजगी जाहिर की कि उन्हे हज्जाम एव कहार के साथ रखा गया है।[9]

इसी तरह मुस्लिम समाज मे निम्न वर्ग के मुसलमान अपने सामाजिक स्तर को सुधारने के लिये कुछ पारम्परिक प्रतीको को छोडने के लिये तैयार थे। जमीदार या रौतारा ने अशरफ वर्ग मे दाखिला का दावा किया। 1901 और 1911 के बीच मुसलमान राजपूत अचानक अपने आपको पठान कहने लगे और उपनाम सिह की जगह खान लिखने लगे। ऐसे निम्नवर्गीय मुसलमान जुलाहा, तेली,नाई आदि ने भी शेख के समकक्ष अपने सामाजिक स्तर को लाने का प्रयास किया, यद्यपि उच्च वर्ग मुसलमान इसको मान्यता नही देते थे।

सामाजिक स्तर को सुधारने के लिये किये गये आन्दोलन का व्यवसाय मे परिवर्तन के साथ इसी तरह का सम्बन्ध पहले भी रहा था।[10] यातायात व्यवस्था मे सुधार और नये औपनिवेशिक सरक्षको का यह प्रयास कि लोगो के पारम्परिक स्तर को रिकार्ड किया जाय ने ऐसे आन्दोलनो को आगे बढाया। कुछ हद तक यह हिन्दू एव मुसलमानो मे धार्मिक सुधार और पुनरुद्धार के लिये किये गये आन्दोलनो का भी जवाब था। इस तरह के सामाजिक तनाव एव सघर्ष के बीच कुछ नयी एव सगठित मॉगे भी इस क्षेत्र मे की गयी जिन्होने साम्प्रदायिक स्थिति को अत्यधिक जटिल बनाया। जैसे कि हिन्दू एव मुसलमानो की शैक्षणिक सस्थाओ का खोलना तथा देवनागरी लिपि को सरकारी कार्यकलाप की भाषा के रूप मे अपनाना। इसी प्रकार गोरक्षा का प्रसार एक महत्वपूर्ण मुद्दे के रूप मे उभरा, जिससे समाज के विभिन्न वर्ग इससे जुडे तथा इसके कारण पूर्वी उत्तर प्रदेश और प0 बिहार मे गभीर परिणाम हुये।

सस्कृतनिष्ठ हिन्दी और उर्दू भाषा का प्रश्न एक महत्वपूर्ण विवाद का विषय था, जिसने हिन्दुओ एव मुसलमानो के बीच वैमनस्य बढाने मे महती भूमिका निभाई। जहॉ एक ओर कट्टर हिन्दू सस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा को अपनाये जाने और उसके प्रचार—प्रसार के पक्षधर थे, वही दूसरी ओर मुसलमान उर्दू के पक्ष मे लामबन्द हो रहे थे। यद्यपि सच यह है कि उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक हिन्दुओ मे जो अभिजात वर्ग था, उसकी भी उर्दू भाषा के ऊपर अच्छी पकड थी। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक उत्तर प्रदेश के शहरो के प्रमुख लोग न केवल उर्दू भाषा बोलते थे बल्कि लिखते भी थे। उर्दू भाषा मे ही

अधिकाश पुस्तके लिखी गयी थी, अधिकाश अखबार भी उर्दू मे प्रकाशित होते थे और उस समय के जो प्रमुख सघ थे, अपनी कार्यवाहियो का लेखा—जोखा उर्दू मे रखते थे। उर्दू बोलने वाली सस्कृति के प्रमुख केन्द्र आगरा, इलाहाबाद, मेरठ, मुरादाबाद, बरेली और लखनऊ थे, क्योकि इन शहरो मे ही मुसलमानो की अच्छी जनसख्या थी साथ ही ये सरकार के केन्द्र भी थे।[11]

उन्नीसवी शताब्दी का जो प्रभावी वर्ग था, वह जमीदारो और सरकारी नौकरशाहो का वर्ग था, क्योकि मुख्यत वे उर्दू भाषा के जानकार थे और इसलिए उनको उर्दू अभिजात वर्ग मे रखा जा सकता है। लेकिन उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक विभिन्न कारणो से इनका प्रभाव धीरे—धीरे कम होता जा रहा था। इनमे से अधिकाश कारण ब्रिटिश शासन के कुप्रभाव मे निहित थे। राजनीतिक कारणो के चलते औपनिवेशिक शक्ति ने जमीदारो की शक्ति का निर्माण किया था। लेकिन जैसे ही सरकारी नौकरशाहो ने स्थानीय डाक, सडक और पुलिस के ऊपर अपना नियत्रण स्थापित करना शुरू किया, औपनिवेशिक शासन ने जमीदारो की शक्ति को कम करना शुरू किया। इस सन्दर्भ मे उल्लेख है कि सयुक्त प्रान्त मे उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे मुसलमान जमीदार के रूप मे और सरकारी नौकरियो मे भी अच्छी सख्या मे थे।[12] इसीलिये ब्रिटिश सरकार का यह कदम मुसलमानो के लिये अधिक हानिकारक था।

कुछ क्षेत्रो मे यातायात और सचार व्यवस्था के विकास के साथ ही व्यवसाय एव व्यापार से जुडे लोगो ने न केवल जमीदारो की तरह महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था, अपितु कुछ स्थानो पर उनकी जमीनो को भी खरीदना शुरू कर दिया था। इस तरह की गतिविधि ने उर्दू भाषी विशेषत मुसलमानो के ऊपर हानिकारक प्रभाव डाला। सरकार के कुछ कदमो जैसे शिक्षा का विकास, पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था को भारत मे लागू करना और क्षेत्रीय भाषाओ को प्रोत्साहन देने की नीति ने भी उर्दू भाषा—भाषियो के धार्मिक विश्वासो, सामाजिक रीतियो एव राजनीतिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। इसी प्रकार नौकरशाही मे सुधार ने भी नौकरशाहो की शक्तियो मे काफी कमी थी। स्थानीय स्वशासन मे निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के कारण भी उनके (उर्दू भाषा—भाषियों) ऊपर प्रतिकूल प्रभाव पडा। इस सन्दर्भ मे ध्यान देने की बात है कि इस तरह की सरकारी गतिविधियॉ उर्दू भाषा के खिलाफ जा रही थी, वही दूसरी ओर हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन मजबूती से आगे बढ रहा था। इससे भी उर्दू भाषा—भाषियो की राजनीतिक एव सास्कृतिक सर्वोच्चता प्रभावित हुई।

हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन के एक महत्वपूर्ण पहलू के रूप मे हिन्दी भाषा ओर देवनागरी लिपि को न्यायालय की भाषा एव सरकारी काम–काज की भाषा के रूप मे स्थापित करने का प्रयास चल रहा था। हिन्दुओ एव मुसलमानो के लिये भाषा एव लिपि का प्रश्न असाधारण महत्व का था। हिन्दुओ के लिये हिन्दी भाषा मे अरबी एव फारसी शब्दो का प्रयोग मुसलमानो की सर्वोच्चता को सिद्ध करता था। इसलिये हिन्दी भाषा के समर्थक देवनागरी लिपि मे सस्कृतनिष्ठ हिन्दी के समर्थक थे और उनके लिये इसका धार्मिक महत्व भी था। दूसरी और मुसलमानो के लिये हिन्दी एक गन्दी भाषा थी, जिसको सीखना अपने सम्मान को नीचा करना था।[13]

प्रारम्भ मे मुसलमानो मे उर्दू भाषा के लिये बहुत अधिक लगाव नही था, जिसमे कि हिन्दी, अरबी और फारसी के शब्द निहित थे। लेकिन उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे मुसलमानो मे उर्दू और फारसी लिपि के लिये लगाव पैदा हो गया और वे लोग इसे मुस्लिम सत्ता के प्रभाव एव प्रतीक के रूप मे देखने लगे। साथ ही उन्होने उर्दू भाषा को धार्मिक महत्व की दृष्टि से भी देखा क्योकि उस समय तक यह एक प्रभावकारी भाषा बन चुकी थी। जब 1837 मे इस भाषा (उर्दू) ने फारसी को स्थानान्तरित कर दिया तबसे इसका विकास निरन्तर होता गया और 1863 तक प्रकाशित होने वाले 23 अखबारो मे 17 उर्दू मे प्रकाशित हो रहे थे, जबकि हिन्दी भाषा मे मात्र चार अखबार ही प्रकाशित हो रहे थे। यहॉ तक कि एक हिन्दू पुनरुद्धारवादी स्कूल निरीक्षक को यह मानना पडा था कि उर्दू हमारी मातृभाषा बनती जा रही थी।[14]

बहुसख्यक हिन्दू ऐसी प्रवृत्ति को स्वीकार करने को तैयार नही थे। 1860 के दशक मे वे महसूस करने लगे थे कि फारसी लिपि की मजबूत स्थिति ने उर्दू को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है जो कि उनके हित से मेल नही खाता है। उनके अनुसार उर्दू भाषा के विकास ने प्राथमिक शिक्षा के विकास को अवरूद्ध किया है क्योकि ऐसे स्कूलो के शिक्षक क्षेत्र विशेष की भाषाओ मे पढाते थे। क्षेत्र विशेष की भाषा आमतौर पर हिन्दी या उससे मिलती–जुलती बोलचाल की भाषा हुआ करती थी, जिसकी लिपि भी देवनागरी होती थी। इसलिये ग्रामीण जनता को बाद मे यह महसूस होता था कि उनकी भाषा का ज्ञान बेकार है, क्योकि जब वे सरकारी कार्यालयो एव न्यायालयो मे जाते थे, तो वहॉ उनकी भाषा मे कार्य नही होता था। 1882 मे शिक्षा आयोग के समक्ष जितने लोग साक्ष्य देने को उपस्थित हुये उन लोगो ने बनारस के एक गणित प्रोफेसर उमेश चन्द्र सान्याल की बात को ही दोहराया कि– 'प्राथमिक शिक्षा के

प्रसार ने जनता के बीच अवरोध का काम किया। वे देखते है कि हिन्दी का उपयोग व्यवहार मे नही के बराबर है, जबकि उर्दू इतनी कठिन है कि वे उसको सीखने का भी प्रयास नही करते।[15]

फारसी लिपि और उर्दू भाषा मुसलमानो के लिये सरकारी नौकरी पाने मे सहायक सिद्ध हो रही थी। इसलिये हिन्दुओ के बीच यह असन्तोष का कारण बनता जा रहा था। वे चाहते थे कि सरकारी नौकरियो से उर्दू जानने वाले अभिजात्य वर्ग का प्रभुत्व समाप्त हो। इस तरह की मनोवृत्ति का पता उस समय के उग्र हिन्दी समर्थक अखबार 'कवि वचन सुधा' से मिलता है। जिसने एक बार लिखा कि– 'यह सत्य है कि मुसलमान फारसी लिपि की जगह यदि देवनागरी का प्रयोग किया जाता है तो मुसलमान इससे अधिक प्रभावित होगे, किन्तु उनकी जनसख्या कम है, इसलिये बहुसख्यक के हितो को ध्यान मे रखा जाना चाहिए और देवनागरी लिपि को आगे बढाना चाहिए।'[16]

प्राय हिन्दू यह समझते थे कि फारसी लिपि का उपयोग हिन्दी के अस्तित्व के लिये खतरनाक है। जिसे बाद मे इन लोगो ने न केवल हिन्दी भाषा अपितु हिन्दुओ और राष्ट्रीयता के लिए खतरे की घण्टी माना। जैसा कि एक हिन्दू नागरिक ने 1868 मे लिखा– 'यह एक आकलन मात्र नही है कि हिन्दी के अन्त के बाद हिन्दू राष्ट्रीयता का अवसान शुरु हो जायेगा।[17] इससे स्पष्ट होता है कि जनमानस मे यह भावना व्याप्त थी कि उर्दू के विकास से हिन्दू राष्ट्रीयता खतरे मे थी।

हिन्दी–उर्दू विवाद अपने चरम पर तब पहुँचा जब सर सैयद अहमद खान ने एक प्रस्ताव दिया कि देश मे एक क्षेत्रीय भाषा का विश्वविद्यालय होना चाहिए जिसमे कि उर्दू भाषा को प्रमुख रूप से स्थापित किया जाय। यद्यपि कि सरकार ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, किन्तु साथ ही कई सस्थाओ और प्रमुख लोगो से इस सन्दर्भ मे उनके विचार एव सुझाव मॉगे। इस प्रकार पहली बार सयुक्त प्रान्त मे लोग यह सोचने के लिये विवश हुये कि उनकी भाषा की उन्नति कैसे हो।

एक बार जब हिन्दू जनमानस इस ढर्रे पर सोचने लगा तो उन लोगो मे यह भावना आ गयी कि हिन्दी ही उनकी वास्तविक भाषा है न कि उर्दू। लोग इस सन्दर्भ मे कार्य करने के लिये प्ररित होने लगे। उदाहरण के लिये इलाहाबाद इन्स्टीट्यूट अपने कार्य–कलापो का लेखा जोखा देवनागरी लिपि मे रखने लगा जहॉ कि अब तक फारसी का प्रचलन था। इसी तरह बनारस के महाराजा ने ब्रिटिश सरकार से यह अनुरोध किया कि उन्हे भी इस तरह का

परिवर्तन लाने की अनुमति दी जाय। सैयद अहमद के अलीगढ साइन्टिफिक सोसाइटी के सहयोगी और मित्र राजा जयकिशन दास ने भी हिन्दी एव देवनागरी लिपि के पक्ष मे जोरदार पैरवी की। उन्होने यहॉ तक कहा कि सरकारी कार्यालयो से उर्दू भाषा को समाप्त किया जाना चाहिए। बाद मे वे सस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये भी प्रयत्नशील हुये।

इस तरह जब हिन्दी और देवनागरी लिपि की बात आयी तो बहुत से शिक्षित हिन्दू जो उर्दू भाषा के अच्छे जानकार थे, ने भी हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि का प्रबल समर्थन किया। 1868 से 1900 के बीच इसके समर्थन मे परचे बॉटे गये। हिन्दी आन्दोलन की उत्पत्ति 1860 के बनारस आन्दोलन से मानी जा सकती है, जिसे बाद मे 1868 मे एक कोर्ट मेमोरडम मे बाबू शिवप्रसाद ने यह तर्क दिया कि उर्दू और फारसी के प्रयोग से पश्चिम प्रान्त एव अवध मे हिन्दी के विकास और प्रारम्भिक शिक्षा का ह्रास हो रहा है। इस पर्चे मे हिन्दी का प्रयोग देवनागरी के पर्याय के रूप मे हुआ था। अन्त मे शिवप्रसाद ने यह अपील की थी कि फारसी शब्दो को कोर्ट से निकालकर हिन्दी का प्रयोग हो।[18] 1873 मे इसी प्रकार का ज्ञापन उत्तर पश्चिम प्रान्त के लेफ्टीनेट गवर्नर सर विलियम म्योर को दिया गया। इसमे तर्क दिया गया था कि फारसी इस देश के लिये विदेशी भाषा है और इसे सामान्य जन नही पढ सकते। इसलिये हिन्दी या देवनागरी का प्रयोग हो जो जनसामान्य की भाषा है। इस ज्ञापन मे यह कहा गया कि मुसलमान जनसख्या शायद इसे पसन्द न करे, पर यह परिवर्तन बहुसख्यक हिन्दुओ के हित मे होगा।[19]

हिन्दी आन्दोलन को 1881 मे उत्तर प्रान्तो मे तब बल मिला जब देवनागरी लिपि को बिहार मे सरकारी कामकाज की भाषा के रूप मे मान्यता देनी पडी।[20] 1882 मे जब विलियम हन्टर की अध्यक्षता मे शिक्षा के विकास की समीक्षा के लिये आयोग गठित हुआ तथा जिसे यह भी अधिकार था कि भाषा सम्बन्धी नीति मे परिवर्तन की सिफारिश कर सके। इस आयोग के सम्मुख तमाम सम्मानित लोग गवाही के लिये उपस्थित हुये, जिनमे राजा शिवप्रसाद, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सर सैयद अहमद खान प्रमुख थे देवनागरी लिपि एव हिन्दी समर्थको द्वारा इसके पक्ष मे एक प्रभावी अभियान चलाया गया। आयोग के समक्ष 76 स्मृति पत्र (Memorial) पत्र प्रस्तुत किये गये जिसमे सम्पूर्ण प्रान्त से 58289 लोगो ने हस्ताक्षर किये थे।[21] इन पत्रो मे पुराने पर्चो के तर्क को दुहराते हुये शिक्षा आयोग से यह अनुरोध किया गया कि यह जनसमुदाय के हित मे प्रान्त मे देवनागरी सही एव उचित भाषा होगी।

इस आन्दोलन का केन्द्र प्रमुख रूप से बनारस था, जहाँ के महाराजा हिन्दी के प्रचार प्रसार के प्रबल समर्थक थे। जहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समर्थको ने हिन्दी भाषा और इसके साहित्य को आगे बढाने का कार्य किया। हरिश्चन्द्र के 'कवि वचन सुधा' बालकृष्ण भट्ट की 'हिन्दी प्रदीप' और 'भारत जीवन' 'भारत बन्धु' आदि ने उर्दू भाषा और सरकार के प्रति आक्रमक रुख अख्तियार किया और साधारण हिन्दू जनमानस मे हिन्दी भाषा के प्रति रुचि जाग्रत की। भारतेन्दु का यह मानना था कि यदि उर्दू भाषा न्यायालय की भाषा के रूप मे समाप्त कर दी जाय तो मुसलमानो के लिये पेशकार, सरिस्तादार और मुहर्रिर आदि जैसी सरकारी नौकरिया प्राप्त करना आसान नही होगा, जिसमे कि उनका एकाधिकार है।[22] इस सन्दर्भ मे भारतेन्दु का यह कथन उद्धृत करना समीचीन है— 'मैंने हमेशा शिक्षा के सन्दर्भ मे रुचि ली है, मै एक सस्कृत हिन्दी एव उर्दू कवि हूँ।' लेकिन उन्होने इस बिन्दु पर गवाही दी कि 'मै सैयद अहमद खान के शिक्षा आयोग के समक्ष दिये इस बयान पर दुखी हूँ जिसमे उन्होने कहा कि उर्दू सभ्य लोगो की भाषा है जबकि हिन्दी असभ्यो की, यह बयान न केवल गलत है बल्कि हिन्दुओ के साथ अन्याय है।"[23] यद्यपि कि शिक्षा कमीशन आयोग द्वारा हिन्दी एव देवनागरी के पक्ष मे निर्णय नही किया गया, जिस पर प्रताप नारायण मिश्र की टिप्पणी 'हन्टर ने जो हन्टर मारा/बस टूट गया दिल टुकडे हुआ हमारा'[24] से जनमानस की पीडा को अभिव्यक्ति मिलती है। साथ ही बनारस की एक हिन्दी साप्ताहिक कि यह चेतावनी, 'यदि सरकार हमारी बात को नही सुनती है तो हम जोरदार आवाज मे चिल्लायेगे जिससे कि उसके कानो तक हमारी बात पहुँचे।[25] उस समय के जनमानस के भाषा के सन्दर्भ मे असन्तोष को आवाज देती है।

आयोग के इस दृष्टिकोण पर हिन्दी के समर्थको ने अभियान चलाया। जिसे सयोग से हिन्दी के प्रति सहानुभूति रखने वाले नये लेफ्टीनेट गवर्नर सर एन्थनी मैकडॉनेल (1895) का समर्थन मिला। आन्दोलन को गति देने के लिये 1897 मे मदन मोहन मालवीय ने हिन्दी उर्दू विवाद के सन्दर्भ मे 'कोर्ट कैरेक्टर एण्ड प्राइमरी एजूकेशन इन नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज एण्ड अवध' नामक मेमोरन्डम तैयार किया। मदन मोहन मालवीय के नेतृत्व मे 17 प्रमुख नागरिको का प्रतिनिधिमडल 2 मार्च 1898 को दोपहर मे इलाहाबाद मे गवर्नर के राजकीय आवास मे मैकडॉनेल से मिला।[26] इसमे उन्होने इस बात पर बल दिया कि प्राथमिक शिक्षा के विकास मे उर्दू के द्वारा अधिकाधिक रुकावट पैदा की गयी। उन्होने यह तर्क दिया कि उर्दू का न्यायालय मे प्रयोग फारसी से थोडा ही

अलग है। न्यायालय के अधिकारी जिनमे अधिकाश मुसलमान एव कायस्थ थे, पर आरोप लगाया कि उन्होने अबुद्धिमत्तापूर्ण ढग से उर्दू फारसी का प्रयोग किया।[27] इसमे कहा गया कि उर्दू न सिर्फ शहरी उच्च वर्ग के शिक्षित लोगो को अलग करती है बल्कि यह निम्नवर्ग के लोगो को अधिकारिक तौर पर न्यायालय एव सरकार मे सहभागिता से वचित करती है।[28]

इस समय हिन्दी—उर्दू विवाद मे उर्दू समर्थको द्वारा आन्दोलन हिन्दी आन्दोलन की अपेक्षा बाद मे आया। 1900 मे इनके द्वारा एक पैम्फ्लेट 'ए डिफेन्स ऑफ द उर्दू लैंग्वेज एण्ड कैरेक्टर' प्रकाशित किया गया। इस परचे मे तकनीकी रूप से फारसी लिपि की देवनागरी लिपि पर वरीयता प्रदर्शित की गयी थी। इसमे महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि लिपि के सवाल के अलावा उर्दू —हिन्दी से अलग भाषा नही थी बल्कि इस परचे मे इसे 'अधिक विकसित हिन्दी' के रूप मे बताया गया था।[29]

यहॉ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यदि भाषायी या बातचीत मे अन्तर ही करना हो तो लिपि को महत्व देना चाहिये न कि हिन्दू—मुसलमान साक्षर या निरक्षर मे इस विवाद मे उर्दू को शहरी भाषा माना गया जबकि हिन्दी को ग्रामीण या निरक्षरो की भाषा। जहॉ तक नागरी के प्रयोग का प्रश्न था तो यह कुछ उच्च साक्षर लोगो द्वारा ही प्रयुक्त होती थी जिनके हित इसके सरकारी भाषा के रूप मे प्रयुक्त होने पर सधते थे। इसीलिये हिन्दी आन्दोलन पर यह आरोप लगा कि यह थोडे से उच्च वर्ग के विकास के लिये है। उर्दू पर यह आरोप लगा कि यह भी एक परिष्कृत सभ्य उच्च वर्ग की भाषा है। अत भारत सरकार की नीतियॉ जन समुदाय के रुचि व झुकाव के अनुसार होनी चाहिये। नागरी के प्रयोग के विरोध मे उर्दू के पक्ष मे यह तर्क था कि हिन्दू जिसमे सभी वर्ग आते है, बहुसख्यक है, परन्तु उन्हे उतना ही राजनैतिक एव सामाजिक महत्व न दिया जाय जितना कि मुसलमानो को। इसीलिये हिन्दू मुसलमानो को न केवल उनकी सख्या के हिसाब से गिना जाय बल्कि विशेषता के आधार पर महत्व दिया जाय।

परिणामस्वरूप हिन्दी देवनागरी लिपि और उर्दू फारसी लिपि के विवाद के पीछे एक तकनीकी विवाद यह था कि जनमानस के लिए कौन सी भाषा उपयुक्त है। साक्षर हिन्दू देवनागरी को प्रशासनिक भाषा बनाना चाहते थे ताकि व्यावसायिक एव सास्कृतिक प्रभुता स्थापित कर सके। साक्षर मुसलमान उर्दू को प्रभावी बनाना चाहते थे जिससे कि वे सस्कृति के साथ ही अपने व्यवसायिक हितो की पूर्ति कर सके। भाषायी आधार पर हिन्दी जो देवनागरी

लिपि मे लिखी जाती थी भाषा के सस्कृतीकरण का माध्यम बनी तथा यही स्थिति फारसी मे लिखी जाने वाली उर्दू की थी। इस प्रकार सास्कृतिक तौर पर हिन्दी हिन्दुओ की और उर्दू मुसलमानो की भाषा बनी। इस विवाद के परिणाम के रूप मे दासगुप्ता एव गुम्फ्रेज की टिप्पणी महत्वपूर्ण है -- "दोनो समूहो (पाश्चात्य प्रभावित मुस्लिम कुलीन एव प्रतिद्वन्दी हिन्दू विद्वान) ने भाषा को समुदाय से सम्बद्ध कर इसे इतिहास और सस्कृति से जोडकर महिमामडित किया जिससे हिन्दू-मुस्लिम विवाद बढा तथा इससे सामाजिक एव राजनैतिक गतिशीलता मे वृद्धि हुई जिससे दोनो समुदायो के बीच खाई बढी।"[30]

हिन्दी-उर्दू विवाद चूँकि भाषा से जुडा प्रश्न था। अत स्वाभाविक है कि तत्कालीन साहित्यकारो ने भी अपनी रचनाओ मे इसे स्थान दिया। मैकडॉनेल द्वारा जब 1900 मे हिन्दी के पक्ष मे निर्णय दिया गया तो कवि श्रीधर पाठक ने अपनी भावनाये इस प्रकार व्यक्त की – 'हानि असख्यन होत है नित उर्दू करतूत / श्री म्यकडानेल जानि यह कियो बात अनुभूत।'[31] किन्तु अकबर इलाहाबादी ने इसे ब्रिटिश चाल के रूप मे देखा 'योरप वाले चाहे दिल मे भर दे/जिसके सर पर जो चाहे तोहमत धर दे/बचते रहो इनकी तेजियो से अकबर/तुम क्या हो खुदा के तीन टुकडे कर दे।"[32] महावीर प्रसाद द्विवेदी की कायस्थो पर की गयी टिप्पणी उर्दू की शक्तिशाली स्थिति को तो बताती ही है साथ ही उसके प्रति हिन्दू मानस के विरोध को भी स्पष्ट करती है – "कायस्थ वर्ग हिन्दी का नाम सुन नाक-भौं सिकोडने लगता है यही लोग औरो की अपेक्षा प्राय पढे-लिखे और सभ्य होते हैं, पर मातृभाषा हिन्दी के परम शत्रु है . हिन्दी का नाम तक नही जानते न उर्दू का सा मजा इन्हे मिल सकता है। उर्दू हट जाय तो गौरमेन्ट को अन्धा बनाकर स्वदेशी भाइयो का गला रेतने का सुभीता कैसे मिलेगा।"[33]

बाबू रत्न चन्द लिखित 'हिन्दू-उर्दू का नाटक जो 1890 मे प्रकाशित हुआ, इसी विवाद को लक्ष्य करके लिखा गया था। जिसमे न्यायालय के एक दृश्य मे अग्रेज जज उर्दू एव हिन्दी के वादकारियो के बीच बैठा है तथा दोनो पक्षो से समझौते का प्रस्ताव करता है। जिसपर हिन्दी के वकील प बुद्धि प्रकाश का मत है – हमारी मुवक्किला उर्दू बीबी से कदापि सुलह करके अपने कुल मे दाग न लगायेगी।'[34] तो दूसरी ओर सर सैयद अहमद के एक पत्र मे (1869) मे इसे फारसी लिपि मे लिखी उर्दू मुसलमानो की निशानी है[35] तथा इसके साथ ही उर्दू समर्थको का यह दृष्टिकोण, 'उर्दू हमारे लिये सिर्फ जबान नही बल्कि यह हमारी तहजीब का नाम है उर्दू हमारे लिये हमारी तहजीब

है, हमारा मजहब है हमारी माजी है, हमारी तारीख है ।'[36] इसे साम्प्रदायिक रग देता है।

हिन्दी–उर्दू विवाद मे हिन्दी साहित्यकारो का रुख काफी उग्र था। श्रीधर पाठक के अनुसार – 'जब हम हिन्दी की प्रतिष्ठा के परिरक्षण मे सदा सचेत रहेगे तो उर्दू का ताव क्या जो चौखट के भीतर पॉव रख दे।'[37] इसी प्रकार सोहन प्रसाद 'हिन्दी–उर्दू की लडाई' (1886) मे उर्दू के प्रति काफी आक्रामक रुख रखते हैं – 'कभी न बदलो रूप रग सादी सीधी चाल/अभी काल्ह की छोकरी करो बराबरी मोर/हमसे मत बड बात कर तोर मोर बड बीच/ गाल फारि मुँह मारि कै लैहो जिह्वा खीच।'[38] प्रताप नारायण मिश्र का स्वर यद्यपि कि सयत हैं, किन्तु हिन्दी के अलावा वे कुछ सुनना नही चाहते 'चहहुँ जुसॉचो निज कल्यान/तो सब मिलि भारत सन्तान ।/जपो निरन्तर एक जबान/हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।'[39] स्पष्ट है कि इस विवाद (हिन्दी–उर्दू) ने हिन्दू एव मुसलमानो मे विभेद की खाई को और चौडा किया। चूँकि इस आन्दोलन का केन्द्र पूर्वी उत्तर प्रदेश का बनारस और इलाहाबाद शहर था साथ ही राजनीतिक नेतृत्व एव बहुसख्यक साहित्यकार भी इसी हिस्से से सम्बन्धित थे। अत इस क्षेत्र मे साम्प्रदायिकता के विकास मे इस आन्दोलन ने पृष्ठभूमि के रूप मे आधार दिया।

पूर्वी उत्तर प्रदेश मे अलगाववाद की प्रवृत्तियो के निर्माण मे गोरक्षा आन्दोलन का सर्वाधिक योगदान था। इसने न केवल हिन्दुओ को लामबन्द किया, अपितु साम्प्रदायिकता की विकृत परिणति दगो की पृष्ठभूमि भी निर्मित की। यद्यपि कि यह आन्दोलन जानवरो की सख्या को आर्थिक कारण से बरकरार रखने के लिये किया गया था। लेकिन शीघ्र ही इसने सामाजिक राजनीतिक एव धार्मिक आयाम ग्रहण कर लिया।[40] गोहत्या का प्रश्न उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दो दशको मे केन्द्र मे रहा। ऐसा इसलिये नही हुआ कि मुसलमानो को गोहत्या से कोई विशेष प्रेम था, बल्कि इसलिये हुआ कि उग्र हिन्दुओ ने इसे एक मुद्दा बना दिया था तथा यह कि जो धार्मिक क्रियाये पहले शान्तिपूर्ण ढग से सम्पन्न की जाती थी उन्हे अब मुसलमानो द्वारा भव्य प्रदर्शन के साथ किया जाने लगा। इसके पीछे उनकी यह भावनाकाम करती थी कि हमे हिन्दुओ की ललकार स्वीकार है।[41]

यह आन्दोलन अर्द्धराष्ट्रवाद का जातीय रूप था जिसने समुदाय को विशेष रूप से परिभाषित करने का प्रयास किया। जिसमे हिन्दुओ के रीति–रिवाज को वरीयता दी जाती थी और इस तरह से यह मुस्लिमो को प्राथमिक समुदाय से वचित करना था। इस आन्दोलन का यह भी प्रभाव हुआ कि इसने ग्रामीण एव शहरी हिन्दुओ तथा अभिजात एव सामान्य हिन्दू सम्प्रदाय को एक स्तर पर ला दिया। इस तरह गोरक्षा आन्दोलन ने हिन्दुओ को सगठित करने मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अखिल भारतीय स्तर पर सगठित गोरक्षिणी सभा ने इस आन्दोलन के लिये मुख्य अभिकरण का काम किया।

आर्य समाज एव कूका आन्दोलन के प्रयास से गोरक्षा आन्दोलन उत्तरी भारत मे उद्भूत हुआ, जिसकी प्रेरणा स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेखन एव इस सन्दर्भ मे की गयी, उनकी गतिविधियो से प्राप्त हुई। शीघ्र ही इस आन्दोलन ने गोरक्षिणी सभा के रूप मे अपना सागठनिक स्वरूप प्राप्त किया। 1880 के दशक मे पजाब मे और शीघ्र ही उत्तरी एव मध्य भारत मे अनेक केन्द्र स्थापित हो गये। इसमे एक निर्णायक मोड तब आया जब इलाहाबाद नगर पालिका मे गाय एव भैंस को मारने पर विवाद उत्पन्न हुआ। जिसमे इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने यह निर्देशित किया कि गाय एक धार्मिक पूजा की वस्तु (Object) नही है। परिणामस्वरूप गोरक्षा के प्रश्न को लेकर लोगो मे एक नया वाद–विवाद उत्पन्न हुआ जो पूर्वी उत्तर प्रदेश मे 1887–88 मे बडी तेजी से उभरा। इसे प्रचारित प्रसारित करने मे नगरीय हिन्दुओ, अधिकारियो जमीदारो एव साधू–सन्यासियो ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन गतिविधियो से न केवल गोरक्षिणी सभा का जाल विस्तृत हुआ, बल्कि आन्दोलन पूर्वी उत्तर प्रदेश एव पश्चिमी बिहार मे तेजी के साथ फैला। मैकलेन एक अधिकारी के हवाले से इसे सम्पूर्ण भारत के लिये डरावने खतरे के रूप मे देखते है।[42]

पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ बलिया एव गाजीपुर जिलो तथा बिहार के सारन एव शाहाबाद जिलो मे इस आन्दोलन को विस्तार देने मे पहले के उत्तेजक विवादो को माध्यम बनाया गया। इस क्षेत्र के धार्मिक एव पशु मेलो मे फैलायी गयी अफवाहो द्वारा शीघ्र ही अप्रत्याशित रूप से यह आन्दोलन समाज मे काफी गहराई तक उग्ररूप मे फैला और इस क्षेत्र के हिन्दू एव मुस्लिम सम्बन्धो को काफी तीव्रता से प्रभावित किया। सॉन्ड्रिया फ्रिताग के अनुसार – यह आन्दोलन अपेक्षाकृत अधिक आक्रामक लोगो के हाथ मे (शहर से गॉव) चला गया परिणामस्वरूप गोरक्षा आन्दोलन धर्म के आदर्शो एव जरूरतो की अच्छी जानकारी रखने वालो के हाथ मे चला गया।'[43] स्पष्ट है कि इसका

परिणाम नकारात्मक होना था परिणामस्वरूप आपसी कटुता बढी तथा स्थानीय राघर्षो का परिणाम दगो के रूप मे प्रस्फुटित हुआ।

इस अवधि मे गोरक्षा आन्दोलन के विस्तार के साथ सामाजिक आधार भी विस्तृत हुआ तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश एव पश्चिमी बिहार मे गभीर तनाव का कारण हुआ। इस क्षेत्र की मन स्थिति के सन्दर्भ मे ज्ञान पाण्डेय का विचार है कि, 'यह कहना जल्दबाजी होगी कि साम्प्रदायिकता या विश्वास की एकात्मकता' हिन्दू और मुसलमानो के साम्प्रदायिक मॉगो के सन्दर्भ मे भोजपुरी क्षेत्र मे पहले से तैयार थी।"[44] यहॉ तक कि इस क्षेत्र के अलग–थलग पडे मुस्लिम समुदाय का दृष्टिकोण बीसवी सदी के आते–आते कुछ ज्यादा ही जटिल था। जैसा कि मुबारकपुर के अब्दुल माजिद (स्थानीय बुनकर) के बयान से सिद्ध होता है।[45]

अब्दुल माजिद ने 1904 के साम्प्रदायिक दगे के सम्बन्ध मे अपनी डायरी मे लिखा था– 'मुबारकपुर का दगा एक विचित्र समस्या थी। यह क्षेत्र के बडे लोगो के कारण जटिल हुई, जबकि निम्न वर्गीय लोगो की यह समझ थी कि सरकारी पूर्वोपाय (Precaution) के कारण उनके साथ कुछ भी नही होगा। उन लोगो को यदि यह पता होता कि जल्दबाजी के कारण उनको इसमे अपनी सहभागिता देनी होगी और इसके लिये उन्हे सजा भी दी जायेगी, तो कदापि इस तरह की कार्यवाही नही करते। सुअर का सिर मस्जिद के पास के एक तालाब मे जो सिकती जमीदारी इकाई के अन्तर्गत पडता था मे पाया गया था। मुसलमानो मे इसकी कडी प्रतिक्रिया हुई। वे इस बात को सोचने के लिए तैयार नही थे कि इसके लिये कौन उत्तरदायी है ? सुअर के सिर को मस्जिद के अन्दर रखने का काम मुस्तफाबाद (मुबारकपुर के पास एक टोला) के खुदाबख्श ने किया था। उसने यह शर्मनाक काम बाबू रामबली सिह (गूजरपार) के साथ अपनी शत्रुता के कारण किया था। रामबली सिह हिन्दू बहुल गूजरपार के जमीदार थे, जोकि मुबारकपुर के उत्तर मे है। उसने मस्जिद को अपवित्र करने का निश्चय किया और उसके बाद मुबारकपुर के मुसलमानो मे यह भ्रान्ति फैलाने को सोचा कि यह काम रामबली सिह ने किया था। उसके बाद वह पीछे हट जायेगा और रामबली से अपना बदला ले लेगा। लेकिन घटनाये कुछ इस तरह घटी कि मुबारकपुर के मुसलमान उसी दिन पॉच बजे शाम से गिरफ्तार किये जाने लगे। सर्वत्र पुलिस बल तैनात कर दिया गया। वैसे लोगो के घरो पर छापे मारे गये जो घरो मे छिप गये थे। इन्स्पेक्टर मोहन सिह, दरोगा दोस्त मोहम्मद खॉ और दस से बारह कास्टेबल एव चौकीदारो ने

पूरादीवान के मौलवी रफीउद्दीन साहब के घर की तलाशी ली। उन लोगो ने कुरान की एक प्रति को ऑगन मे फेक दिया, जिसे मोहन सिह ने अपने पैरो से कुचला। हम लोग वहॉ पर उपस्थित थे और इस दृश्य से काफी आहत थे।[46]

इससे स्पष्ट पता चलता है कि लोगो मे धार्मिक भावनाओ का कितना प्रभाव था। औद्योगिक प्रगति एव वैज्ञानिक शिक्षा ने लागो के धार्मिक विश्वास पर तनिक प्रभाव भी नही डाला था। यहॉ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि विभिन्न हित वाले सुखी सम्पन्न जमीदार और बडे लोग गरीब तबका या छोटे लोग तथा औपनिवेशिक राज की शक्ति मे अच्छा तालमेल था। यह सब गोरक्षा आन्दोलन के प्रभाव के कारण ही हो रहा था।

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध एव बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे गोरक्षा अभियान के दौरान अनेक हिसक वारदाते हुई। इनसे लोगो मे स्पष्ट रूप से हिन्दू एव मुसलमान होने का विचार और अधिक दृढ हुआ। इस आन्दोलन का दो रूप देखने को मिलता है, एक गॉव और शहर का सम्मिलित आन्दोलन जिसका रुख कम आक्रामक था तथा जिसको उच्च जातीय समर्थन प्राप्त था और दूसरा वह जिसकी प्रवृत्ति अति आक्रामक थी तथा जिसे छोटी जातियो एव कट्टर लोगो का समर्थन प्राप्त था। इस आन्दोलन की समयावधि काफी लम्बी थी और इस दौरान इसके अनेक केन्द्र बने, जिनमे अनेक सगठन सक्रिय थे। सॉन्ड्रिया फ्रिताग के अनुसार, 'आन्दोलन के प्रारम्भिक काल मे शहरी क्षेत्र मे स्पष्ट रूप से जिन आदर्शो के तहत लोग एक दूसरे पर आक्रमण कर रहे थे, वह धर्म पर आधारित था। ऐसा देखने मे आया कि गोरक्षा की भावना से गाँव के लोग अधिक प्रेरित थे। उनकी मानसिकता अत्यन्त सकीर्ण थी। जिसका उपयोग दुष्ट प्रकृति के लोगो ने गोरक्षा अभियान प्रचार के दौरान स्थानीय जातियो, हिन्दू एव मुसलमानो दोनो को समान रूप से उत्तेजित करने मे किया।[47]

मुसलमानो के त्योहार बकरीद पर 25 जून 1893 को एक विचित्र तरह का साम्प्रदायिक दगा उत्तर प्रदेश एव अन्य भोजपुरी क्षेत्र मे भडका, जिसका चरित्र पहले के स्थानीय झगडो से काफी भिन्न था। सरकारी अभिलेख मे इसे लडाई के मुख्य केन्द्र आजमगढ जिले पर दूसरे जिलो के लोगो ने आक्रमण किया, के रूप मे व्यक्त किया गया। पैत्तीस गैर कानूनी सभाये एव दगे जो आजमगढ मे हुये वे सभी उग्र हिन्दुओ के कार्यो का प्रतिफल था, जो कि दूरस्थ गॉवो (बलिया एव गाजीपुर जिलों) से आकर एकत्र हुये थे। जिनका मुख्य उद्देश्य मुसलमानो द्वारा की जाने वाली पारम्परिक

बलि (कुर्बानी) को रोकना था। ईद के दिन उग्र हिन्दुओ ने जिले भर मे भ्रमण किया तथा यह मॉग की कि जो जानवर बलि के लिये रखे गये है, उनका समर्पण किया जाय। ऐसा नही करने पर यह धमकी भी दी गयी कि लोगो को शारीरिक क्षति पहुँचायी जायेगी तथा सम्पत्ति को लूटा जायेगा। उन लोगो ने यह भी मॉग की कि वे एक समझौता करे जिसके अनुसार वे इस तरह की बलि नही करेगे। ईद के बीत जाने के बाद उन मुसलमानो की फसल नष्ट कर दी गयी, जिनके सन्दर्भ मे यह विश्वास था कि उन्होने कुर्बानी दी है।[48]

सबसे भयानक दगा आजमगढ के मऊ क्षेत्र मे हुआ, जो कि अकबर के जमाने से ही वस्त्र उत्पादन का प्रमुख केन्द्र था। जिसका उल्लेख आइने अकबरी मे हुआ है।[49] उन्नीसवी शताब्दी तक यहॉ की जनसख्या मे मुख्यत मुसलमान बुनकर और हिन्दुओ की विभिन्न जातियो के ऐसे लोग सम्मिलित थे जो कि सूत कातने, व्यापार एव व्यवसाय मे सलग्न थे। बहुत से हिन्दुओ को मुगलशाही सत्ता ने वहॉ पर स्थापित किया था। तब से यहॉ सूती कपडा उद्योग का महत्व बढता गया था तथा बाद मे एक चुगी वसूली केन्द्र स्थापित किया गया था, जो कि इस बात की ओर सकेत करता है कि उस समय व्यापारिक आवाजाही कितनी अधिक थी।

पूर्वी उत्तर प्रदेश मे 1801 के आस–पास जब ब्रिटिश शासन की स्थापना हुई, उस समय तक हिन्दुओ एव मुसलमानो के बीच सघर्ष की सभावना बढ गयी थी, क्योकि मुसलमानो ने मऊ के धुनवार राजपूत भूस्वामियो को विस्थापित कर अपनी समृद्धि की थी। लेकिन उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक हिन्दू जमीदार व्यापारी एव महाजन उस क्षेत्र मे फिर से अपनी स्थिति को मजबूत कर रहे थे, जो कि मुस्लिम बहुल क्षेत्र था। इस पृष्ठभूमि मे गोहत्या के प्रश्न पर सघर्ष मऊ मे कोई नयी बात नही थी, क्योकि इस मुद्दे पर गोरक्षिणी सभा की स्थापना के पहले भी कई बार तनाव हो चुका था। लेकिन 1893 मे जो दगा हुआ, वह पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत था।

आजमगढ का मऊ शहर ही नही बल्कि दक्षिण–पूर्वी हिस्सा जो कि गाजीपुर और बलिया से सटा हुआ था, भी गोरक्षा आन्दोलन एव दगे की चपेट मे आ गया। इन परगना क्षेत्रो मे गोरक्षिणी प्रचार–प्रसार बलिया एव गाजीपुर जिले मे किये जा रहे प्रयास के कारण काफी अधिक था। जिसका प्रमाण 1893 के शुरू मे ही मिलता है, जब 9 जनवरी 1893 को कोपागज (जो कि आजमगढ जिले का तीसरा बडा बुनकर केन्द्र था और मऊ से 6 मील उत्तर मे स्थित) से कुछ मील पहले कुछ ग्रामीणो ने मुसलमान कसाइयो द्वारा गाजीपुर ले जाये

जा रहे मवेशियो को बचाया। दूसरे दिन पुलिस ने इन मवेशियो को कसार गॉव से बरामद किया, लेकिन आस–पास के गॉवो से आयी दो सौ हिन्दुओ की भीड ने बलपूर्वक मवेशियो को अपने कब्जे मे ले लिया तथा अपने विभिन्न सहधर्मियो के यहॉ बलिया जिले मे भेज दिया।[50]

इस तरह के प्रदर्शनो मे आने वाले दिनो मे अत्यधिक वृद्धि तब हुई, जब गोरक्षिणी सभाओ का गठन करने का प्रयास मई 1893 से किया गया। आजमगढ और जहानागज मे इसी महीने दो बडी सभाओ से इसकी शुरुआत हुई। इन सभाओ मे कई हजार हिन्दू सम्मिलित हुये, जिन्हे बलिया से आये गोरक्षिणी नेताओ ने सम्बोधित किया। दूसरी सभा मे यह मॉग की गयी कि मुसलमान कुर्बानी छोड दे नही तो उनके विरुद्ध इस प्रथा का अन्त करने के लिए सीधी कार्यवाही की जायेगी।

जहानागज सभा के तीन दिन बाद 22 मई को महाराजगज के समीप सिकन्दरपुर गॉव मे कई सौ हिन्दुओ ने एक मुसलमान से एक भैस छीन ली, जिसे वह शादी के भोज के लिये ले जा रहा था। एक सप्ताह बाद भैसो को ले जा रहे कुछ कसाइयो को गॉव के हिन्दुओ ने रोका और धमकी भी दी। इसी अवधि मे वलीदपुर के मुसलमान जमीदारो के यहॉ काम करने वाले कृषक और मुहम्मदाबाद के कुछ मुसलमानो ने गोरक्षिणी गतिविधियो को लेकर मुकदमे चलाये। इनमे कुछ कपोलकल्पित थे, जैसाकि हिन्दू पुलिस इन्सपेक्टर ने रिपोर्ट दर्ज की। जहानागज सभा के बाद हिन्दुओ ने मुसलमानो को मवेशी खरीदने से रोका। इस तरह हिन्दुओ एव मुसलमानो के बीच खाई काफी बढ गयी। इसी समय गोरक्षा सघ की कई शाखाये जिले के विभिन्न क्षेत्रो मे स्थापित की जा चुकी थी, जो कि तुरन्त ही काफी शक्तिशाली हो गयी थी, जैसे की सगडी और मुहम्मदाबाद परगना मे। इसका विस्तार बाद मे निजामाबाद एव देवगॉव परगना के कुछ हिस्सो मे हुआ। देवगॉव परगना मुहम्मदाबाद एव निजामाबाद परगने की सीमाओ से सटा हुआ था।

गोरक्षिणी सभा ने निधि एकत्र करने के लिये जो पद्धति अपनायी, उसे चुटकी के नाम से जाना जाता है। जिसमे एक चुटकी खाने को (घर के प्रत्येक सदस्य के खाने से) अलग कर दिया जाता था और बाद मे पूरे गॉव से एकत्र किया जाता था। अत मे यह गोरक्षिणी सभा के अधिकारियो के पास जमा कर दिया जाता था। आजमगढ के मजिस्ट्रेट ने इस पर अपनी टिप्पणी की थी कि जहॉ कही भी चुटकी एकत्र की जाती है, वहॉ पर निश्चित तौर पर गोरक्षा सघ अवस्थित था। आन्दोलन आजमगढ के सगडी, नत्थूपुर, मुहम्मदाबाद मऊ जैसे

क्षेत्रो मे काफी प्रभावशाली था। शुरू मे इसका उद्‌देश्य गोशालाओ का निर्माण करना था, लेकिन जब यह आन्दोलन आजमगढ जिले मे पहुँचा तो इन लोगो ने सडको पर घूमने वाले सदिग्ध मवेशियो को अपने कब्जे मे लेकर उनकी सेवा शुरू की, जिसके लिये वे शुल्क एकत्र करते थे।

इसी समय आजमगढ मे गोरक्षिणी सभा द्वारा मुसलमानो से यह इकरारनामा मॉगना शुरू किया गया कि वे किसी भी सूरत मे भविष्य मे गोहत्या नही करेगे। इस तरह की मॉग के साथ प्राय धमकी भी दी जाती थी जैसे, मुस्लिम बुनकरो का बहिष्कार कर दिया जायेगा तथा मुस्लिम भूस्वामियो की सम्पत्ति लूट ली जायेगी। ऐसे दो मामले दर्ज किये गये, जिसमे मुस्लिम भूस्वामियो ने यह शिकायत की कि उन लोगो से यह कहा जाता था कि यदि वे गोरक्षिणी निधि मे अपना अशदान देगे तो उन्हे बख्श दिया जायेगा।

इस तरह 25 जून 1893 की बकरीद के आने के पहले ही हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्ध कटुतापूर्ण हो गये थे। इसी समय 24 जून को गार्स्टिन आजमगढ जिले का पुलिस अधीक्षक और जानकी प्रसाद उप जिलाधिकारी होकर आया। उसी दिन उपजिलाधिकारी ने स्थानीय हिन्दू एव मुस्लिम नेताओ के बीच समझौता कराया, लेकिन 24 जून की रात एव दूसरे दिन सुबह बलिया एव गाजीपुर से हिन्दुओ की उग्र भीड मऊ आ गयी जो किसी भी कुर्बानी के विरुद्ध प्रदर्शन करने को आमादा थी। दिन ढलने के पूर्व ही 700 से 1200 आदमियो की एक भीड ने चॉदपुरा के जुलाहा क्वार्टर के नजदीक मुसलमानो की एक भीड पर आक्रमण कर दिया। मौके पर उपस्थित सरकारी अधिकारियो की अपील की अवहेलना कर दी गयी। दोनो के बीच खुली लडाई पुलिस फायरिंग एव बरसात की वजह से ही रोकी जा सकी। पुलिस फायरिंग मे दो हिन्दुओ की मृत्यु हो गयी। आक्रमणकारियो का उद्‌देश्य शुरू से ही स्पष्ट था कि कुर्बानी के लिये ले जायी जा रही गायो को मुसलमानो से ले लिया जाय। मुसलमानो से बलपूर्वक यह इकरारनामा लिया जाय कि वे भविष्य मे कभी गायो की बलि नही चढायेगे। हिन्दुओ ने वैसे मुसलमानो से जो कि 6 या अधिक गायो के साथ थे, ऐसे इकरारनामे पर हस्ताक्षर के लिये बाध्य किया। इस पर उपजिलाधिकारी और तहसीलदार के हस्ताक्षर बलपूर्वक ले लिये गये। कुछ हिन्दू इस पर भी सतुष्ट नही थे और जब एकत्रित भीड तितर–बितर हो रही थी, हिन्दुओ की एक भीड ने मऊ के एक मुस्लिम के घर को क्षतिग्रस्त कर दिया।[51]

1893 की बकरीद के अवसर पर हिन्दुओ के प्रदर्शन के दौरान सर्वाधिक भयकर एव निर्मम दंगा मऊ मे ही हुआ। जबकि अन्य स्थानो पर भी

हिन्दुओ द्वारा प्रदर्शन किया गया किन्तु अन्यत्र कही ऐसी स्थिति नही हुई। इस दौरान छोटे–मोटे दगे आजमगढ बलिया शाहाबाद और गया मे हुये। इसके पश्चात गोरक्षिणी सभाये प्राय समाप्त हो गयी या भूमिगत हो गयी और ऐसा प्रतीत होता है कि यह आन्दोलन स्थानीय लोगो के भय और पुलिस सक्रियता के चलते दबा दिया गया। किन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से इसका महत्व कम नही हुआ और यह पुन 1910 मे पश्चिमी बिहार मे उभरा 1910 के पश्चात गोरक्षिणी कार्यक्रम अहीर ग्वाला अभियान के साथ जुड गया।[52]

1893 के दगे के कारण, व्यापकता एव प्रभाव पर सुमित सरकार की टिप्पणी महत्वपूर्ण है, "1892–93 मे गोरक्षिणी सभाये अधिक जुझारू बनने लगी थी चूँकि उसी समय इस्लामी पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियॉ बकरीद पर गोकुशी की अनिवार्यता पर बल दे रही थी, इसलिये जून–जुलाई 1893 मे बडे स्तर पर होने वाले दगो का आधार यहॉ तैयार था। ये दगे आरभ हुये आजमगढ के मऊ कस्बे मे जहॉ बडी सख्या मे मुसलमानो पर गाजीपुर और बलिया जिले से आयी भीड ने आक्रमण कर दिया था। बलिया मे दगे अधिक सगठित थे, जहॉ एक राजपूत जमीदार अधिक सक्रिय था । इनका सबसे अधिक विस्तार (कुल मिलाकर 22) सारन, गया, और पटना मे था जहॉ बडे–बडे पशु मेले लगते थे। इनका सबसे अधिक हिसक रूप बम्बई शहर मे देखा गया, जहॉ 80 लोग मारे गये, वहॉ गडबडी की शुरूआत इस बात को लेकर हुई थी कि हिन्दुओ के जुलूस मस्जिदो के आगे बाजे बजाते हुये निकले या नही। दगो के दो अन्य स्थान थे जूनागढ और दूरस्थ रगून। ऐसे लगभग देशव्यापी दगे पहले कभी नही हुये थे। यह निश्चय ही आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये बुरा शगुन था, जो अभी गति पकड ही रहा था।[53]

प्रमाण यह दर्शाते है कि बलिया एव गाजीपुर के हिन्दुओ ने मऊ, कोपागज घोसी और चिरैयाकोट के मुसलमानो पर सुनियोजित आक्रमण किया, जबकि स्थानीय लोग गॉवो के दूरस्थ इलाको मे प्रदर्शन करने मे शामिल थे। जैसा कि जीयनपुर अजमतगढ और गैरडीह मे लोग सलग्न पाये गये। मुबारकपुर मे भी सभवत यही बात थी। सरकारी रिपोर्टों मे इन दगो के लिये अर्द्धशिक्षित अग्रेजी बोलने वाले, पुरोहित एव जमीदारो को उत्तरदायी ठहराया गया। सरकारी अभिलेखो मे इस दगे के मुख्य उत्प्रेरक के रूप मे चार प्रमुख व्यक्तियो प घनश्याम नरायन मिश्र (नीमटाड), नगरा के ठाकुर जगदेव नरायन सिह (बलिया जनपद), ठाकुर सुदिष्ट नारायन सिह (मऊ) एव फकीर खाकी बाबा को उत्तरदायी ठहराया गया था। इस क्षेत्र मे खाकी बाबा गोरक्षिणी सभा

के जाने—माने वक्ता थे और आन्दोलन को ठोस रूप देते हुये अपने धर्म के प्रति बहुत कट्टर थे। घनश्याम नारायण मिश्र जाति से पडित तथा आजमगढ और बलिया जनपद मे बडी सम्पत्ति वाले जमीदार थे। अत इनका प्रभाव धार्मिक एव धनी व्यक्ति दोनो रूप मे था। सगरी परगना की गोरक्षिणी सभा के अध्यक्ष थे। जगदेव नरायन सिह बलिया गोरक्षिणी सभा के अध्यक्ष एव एक बडे जमीदार थे। वह पूर्वी आजमगढ मे इस आन्दोलन के अति सक्रिय व्यक्ति थे। जैसा कि 1893 के दगे के ठीक एक सप्ताह पहले आजमगढ के कई गॉवो के मुसलमानो की ओर से एक प्रार्थना पत्र भेजा गया था जिसमे कहा गया था कि जगदेवनरायन सिह की ओर से उन मुसलमानो को जान से मारने की धमकी दी गयी है, जो कुर्बानी करेगे।[54] इस तरह के प्रार्थना पत्र जनपद के अन्य भागो कोपागज, चिरैयाकोट, निजामाबाद से भी भेजे गये थे। जिसमे मुख्य आरोपी स्थानीय जमीदार एव प्रभावी लोग थे।

1893 के इस दगे मे एक तथ्य यह उल्लेखनीय है कि इसमे हिन्दू समाज के प्राय सभी स्तर के लोग शामिल थे। जहॉ धनी एव जमीदार वर्ग की सक्रियता नेतृत्व करने वाले लोगो के भीतर उत्तेजना पैदा करने की थी वही निम्न स्तर के लोग घटनाओ को अजाम देने मे सक्रिय थे। जैसाकि निजामाबाद मुहम्मदाबाद एव सगरी क्षेत्र की गतिविधियो से पुष्ट होता है। निजामाबाद मे चौकी का सारा पैसा स्थानीय जमीदार के यहॉ जमा होता था। अत्यधिक प्रभावित क्षेत्र मुहम्मदाबाद मे गतिविधियो को सक्रियता देने मे एक फकीर दो गोसाई तथा बहुत से छोटे राजपूत भूमिहार एव ब्राह्मण सम्मिलित थे।[55] मुहम्मदाबाद के ठाकुर एव भूमिहार गोरक्षा आन्दोलन मे पहले से ही सक्रिय भूमिका निभा रहे थे।[56]

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी सामने आता है कि इस अवसर का उपयोग पुरानी दुश्मनी निकालने के लिये भी किया गया। मुबारकपुर के आस—पास के राजपूत भी इसी प्रकार सक्रिय थे। उनकी मुसलमानो से पुरानी दुश्मनी होने के कारण राजपूत काफी पहले से इस सभा मे सक्रिय योगदान दे रहे थे। इसके पीछे धार्मिक भावना भी कार्य कर रही थी। सगरी परगना के सूरजपुर के बाबू लोग जो सूरजपुर तालुके तथा गाजीपुर के सारनपुर स्टेट के मालिक थे, जाति से भूमिहार तथा बनारस के महाराजा के सम्बन्धी थे। इन लोगो के द्वारा गोरक्षा आन्दोलन को काफी बढावा मिला। 25 जून 1893 को घोसी मे हुये प्रदर्शन मे 3000 प्रदर्शनकारी सूरजपुर के निर्देश पर एकत्र हुये थे। आजमगढ के जिलाधिकारी के अनुसार इतनी बडी सख्या मे घोसी मे

हिन्दुओ का एकत्रित होना सूरजपुर के बाबुओ की मदद के बिना सभव नही था।[57] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि 1893 की बकरीद के अवसर पर आजमगढ जनपद मे मुस्लिम बस्तियो पर जो आक्रमण हुये उनमे राजपूत ब्राह्मण एव भूमिहार जाति के जमीदारो ने सक्रिय हिस्सा लिया। वे लोग अपने साथ कृषक नौकर एव अन्य असामियो को भी ले आये।[58]

गोरक्षा आन्दोलन मे लोगो को एकत्र करने के लिए पत्रो (जिन्हे पतिया कहा जाता था) का प्रयोग किया गया। इसमे हिन्दुओ को जाग्रत एव क्रियाशील करने में धार्मिक आह्वान को आधार बनाया जाता था। इन पतियो के सन्दर्भ मे ज्ञान पाण्डेय का अध्ययन महत्वपूर्ण है।[59] इन पतियो का स्वरूप एक जैसा होता था जिसमे आह्वान के साथ सहयोग हेतु अपील की जाती थी। उनका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म तथा प्रतिबद्धतापूर्ण रखा जाता था। जिससे कि इसे बार–बार आसानी से लिखा जा सके और लोगो के बीच वितरित किया जा सके। 1805–11 के बीच बनारस मे हिन्दुओ को क्रियाशील करने के लिये इसी प्रकार की धर्मपत्री का प्रयोग किया गया था। इसी आधारपर 1880–90 के दशक मे पतिया को प्रचार का माध्यम बनाया गया। इसका स्वरूप इस प्रकार था, "गऊमाता की कृपा से तथा हम लोगो के आदेशो के अनुरूप सभी हिन्दुओ को 22 दिसम्बर 1893 को होने वाली सभा मे आमत्रित किया जाता है। इसका उद्देश्य एक सभा स्थापित करना है। जो इसमे भाग नही लेगा उस पर गोवध का पाप लगेगा और जो लोग इसमे भाग लेगे भगवान उन्हे सुख समृद्धि प्रदान करेगा। सभी लोगो को इस निमत्रण पत्र पर हस्ताक्षर करना है।"

इसी प्रकार बलिया की सदर सभा से 'पतिया' प्रचारित की गयी जो इस प्रकार थी –

(1) गगा महारानी तथा गऊमाता और भृगुजी बालेश्वर जी के आदेशानुसार यह गोरक्षिणी सभा स्थापित की गयी है।

(2) मुस्लिम सन्त गुलाम हैदर शाह एव लाकरशाह के आदेशानुसार जिले के सभी मुसलमानो को इस सभा मे उपस्थित होने का निर्देश दिया गया था। जिसका मुसलमानो द्वारा पालन भी किया गया।

(3) पूरे हिन्दुस्तान और बगाल मे ऐसी 182 सभाये स्थापित हो चुकी हैं। राजाओ एव जमीदारो ने अपने क्षेत्रो मे गऊ हत्या प्रतिबन्धित कर दिया है। इन्ही सभाओ के निर्देशानुसार हमने बलिया मे सदर सभा

शुरू कर दी है। हम ऐसा सोचते है कि यह करना हमारा धार्मिक कर्तव्य है।

(4) अपने रियासत एव गॉव मे आप लोग और लोगो की रक्षा करे तथा यह शपथ दिलाये कि किसी अजनबी को अपने जानवर न बेचे।

(5) कुछ लोग अपने जानवरो को खुला छोड देते हैं, जो एक गॉव से दूसरे गॉव मे घूमते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि लोग उसे अपने कब्जे मे कर लेते हैं तथा महीने भर बाद कसाई के हाथ बेच देते हैं। कोई भी हिन्दू जो इस तरह के कार्यों को करता है उसे कसाई से उत्पन्न समझा जायेगा तथा धर्म से बहिष्कृत कर दिया जायेगा।

(6) इस प्रकार लाखो गायो की हत्या हो रही है। अगर हिन्दुओ के गॉव मे गोहत्या होती है तो उसे फूँक देना चाहये। ऐसे गॉव कभी सुख शान्ति से नही रह सकेगे। बछडो का नपुसकीकरण रोका जाना चाहिये। जो भी ऐसा करता है उसे कसाई से उत्पन्न समझना चाहिये तथा जाति से बहिष्कृत कर देना चाहिये।

इनका उद्देश्य लोगो के बीच सक्रियता पैदा करना था इन विभिन्न पत्रो के माध्यम से हिन्दू राजा एव जमीदारो तथा हिन्दू समाज के अधिक से अधिक लोगो को सगठित करने का आह्वान किया गया। इन पत्रो के अन्त मे उन परिणामो की घोषणा भी की जाती थी जो इसके निर्देशो के न मानने पर घटित होता। इनमे बार–बार हिन्दुओ के मस्तिष्क मे हिन्दुत्व की श्रेष्ठता एव हिन्दू होने के गौरव को उजागर किया गया। गोरक्षिणी सभाये धर्म पर अधिकाधिक आधारित थी और शहर की अपेक्षा ग्रामीण हिन्दुओ की धार्मिक भावनाओ को उद्वेलित करने मे अधिक सफल रही। गाय की रक्षा तथा सेवा करने का आह्वान धार्मिक आदर्शों से अधिक प्रेरित था।[60]

गोरक्षा आन्दोलन का समर्थन उस समय के साहित्य मे भी मिलता है प्रताप नारायण मिश्र द्वारा प्रकाशित पत्रिका ब्राह्मण मे इस बात का प्रबल समर्थन किया गया था कि गोरक्षा हिन्दुओ का सर्वोच्च धर्म है और यह कि हिन्दुस्तान की आर्थिक सम्पन्नता का यह प्रबल स्रोत है। गोरक्षा के बिना हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू सम्पन्न नही हो सकते हैं। आगे तर्क देते हुये उन्होने लिखा कि गाय हिन्दुओ के लिये मॉ के समान है क्योकि हिन्दू उसे गो ब्राह्मण के रूप मे देखते हैं और ब्राह्मणो के समक्ष झुकने से पहले उसके समक्ष श्रद्धापूर्वक झुकते हैं।[61]

गोरक्षिणी आन्दोलन एव दगे के बाद की स्थिति काफी भयपूर्ण थी। तात्कालिक धन–जन की हानि काफी अधिक हुई। सरकारी बयानो मे 26 जून 1893 को मऊ मे दर्जनो लोगो के मारे जाने की बात कही गयी किन्तु इसे हिन्दू एव मुसलमान दोनो मे से कोई स्वीकार नही करता क्योकि डार ने लिखा है कि इसमे कोई सदेह नही कि 250 हिन्दू एव मुसलमान मारे गये।[62]

दगो मे शामिल मुसलमानो मे प्रमुख रूप से निम्न वर्गीय जुलाहो की अधिकता थी। प्राय यह क्षेत्र मध्यकालीन समय से ही कपडा बुनाई का केन्द्र था। अत अधिकतर आबादी जुलाहो की ही थी और सरकारी अभिलेखो के अनुसार ये धर्म के प्रति अत्यधिक कट्टर होते थे, 1909 मे सकलित आजमगढ गजट इसी ओर सकेत करता है। जिले के जुलाहे प्रमुख रूप से मुबारकपुर और कोपागज के गॉवो मे केन्द्रित थे। गजट के अनुसार ये अशान्त प्रवृत्ति के लोग ही समय–समय पर हो रहे हिन्दू–मुस्लिम विवाद एव जिले की शान्ति व्यवस्था भग करने के लिये जिम्मेदार थे।[63] बलिया गजट जिसका सकलन कुछ वर्ष पहले हुआ था, जुलाहो की इसी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता है– गाजीपुर ओर आजमगढ के अपने रिश्तेदारो की तरह जुलाहे (बलिया के) अशान्त और स्वेच्छाचारी थे। इन्हे ही समय–समय परहोने वाली शाति भग का श्रेय जाता है।[64] इसी प्रकार गाजीपुर गजट के अनुसार जुलाहे सभी मुसलमानो मे अधिक कट्टर एव अशान्त एव उच्छृखल हैं। जैसा कि 1893 के हिन्दू–मुस्लिम विवाद एव अन्य अवसरों पर देखा गया।[65]

ऐसी स्थिति मे यह स्पष्ट होता है कि जहॉ गोरक्षिणी सभाओ ने सामान्य हिन्दुओ के भीतर धार्मिक सक्रियता पैदा की तथा इस बात के लिये प्रेरित किया कि धर्म के नाम पर सगठित हो धर्म के प्रतीक रूप गायो की रक्षा करे वही दूसरी ओर अपने धार्मिक रीतियो को बनाये रखने के लिये मुस्लिम भी दृढ थे जिसमे बहुसंख्यक जुलाहो की कट्टर धार्मिक प्रवृत्ति ने प्रमुख भूमिका निभाई एव इस क्षेत्र की स्थिति को साम्प्रदायिक बनाया। यद्यपि 1893 के बाद गोरक्षिणी सभाओ की गतिविधियॉ समाप्त हो गयी थी किन्तु गोरक्षा का विचार दबा नही था जैसा कि बाद मे 1911–12 मे अयोध्या एव 1917 मे पश्चिमी बिहार मे इसकी हिसात्मक परिणति हुई।

उन्नीसवी शताब्दी के आखिरी दो दशक एव बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हिन्दुओ एव मुसलमानो के बीच अलगाव काफी स्पष्ट हो गया था। हिन्दुओ के गोरक्षा आन्दोलन एव हिन्दी—उर्दू विवाद तथा मुसलमानो के पुनरुत्थान आन्दोलन ने दोनो की सामुदायिक चेतना जाग्रत की। तात्कालिक परिदृश्य से यह परिलक्षित होता है कि राजनीतिक अलगाव एव वैमनस्यता की परिस्थितियो ने दोनो समुदायो के बीच अविश्वास की भावना पैदा की जिसका उपयोग उनका राजनैतिक नेतृत्व करने वाले लोगो ने किया और जिससे साम्प्रदायिक स्थिति असहयोग आन्दोलन के बाद और जटिल होती गयी।

उत्तर प्रदेश की स्थितियो पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होता है कि असहयोग आन्दोलन के दौरान ब्रिटिश सत्ता ने अलगाववादी सगठनो की गतिविधियो को बढावा दिया जिससे सामुदायिक वैमनस्य की भावना सामान्य हो गयी तथा आपसी भय एव घृणा की भावना काफी तीव्रता से फैली। खिलाफत की स्थापना जो कि असहयोग आन्दोलन का एक अग थी ने हिन्दू प्रतिक्रिया के रूप मे एक विरोधी सगठन को जन्म दिया और शुद्धि तथा सरक्षा को बढवा दिया। 1923 मे स्वामी श्रद्धानन्द ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके मलकाना राजपूतो, गूजरो तथा बनियो को पुन हिन्दू बनाने के लिये आन्दोलन चलाया। इसी साल हिन्दू महासभा ने आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन को अपनाया और उसे रिक्लमेशन ऑफ अनटचेबल कहा।[66] इन गतिविधियो से साम्प्रदायिक तनाव बढाया गया और जिसके परिणाम के रूप मे 1920 के हिन्दू—मुस्लिम दगे घटित हुये।

इन गतिविधियो का प्रभाव पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिलो पर भी पडा। काग्रेस के क्रियाकलापो ने भी बहुत हद तक इन परिस्थितियो को निर्मित करने मे भी भूमिका निभायी। मदन मोहन मालवीय और अन्य कई प्रमुख राष्ट्रीय नेता हिन्दू महासभा के शुद्धि अभियान मे बहुत पहले से ही भाग ले रहे थे। स्वय मालवीय जी ने महासभा के उस सत्र की अध्यक्षता की थी जिसमे शुद्धि कार्यक्रम स्वीकार किया गया था। यहॉ ध्यातव्य यह है कि 1920 के चुनावी अभियान मे काग्रेस के धर्मनिरपेक्ष घटक भी तात्कालिक चुनावी लाभ के लिये धार्मिक भावनाओ को बढाने मे पीछे नही रहे। यह प्रवृत्ति 1925—26 के केन्द्रीय एव प्रान्तीय विधान मडलो के चुनावो मे भी देखने को मिलती है।[67]

इन चुनावो मे हिन्दू साम्प्रदायिक भावनाओ का उपयोग मालवीय द्वारा किया गया। इलाहाबाद मे मस्जिद के सामने एक धार्मिक जुलूस निकाला गया। जिसने न केवल 1923—26 के दौरान केन्द्रीय विवाद का रूप लिया

अपितु 1924 मे इसी प्रश्न पर दशहरा के पहले रामलीला समारोह के दौरान हिन्दू–मुस्लिम दगे को जन्म दिया।[68] बाद मे जिला प्रशासन ने इसमे हस्तक्षेप किया किन्तु कुछ हिन्दू नेताओ द्वारा यह अस्वीकार कर दिया गया कि रामलीला समारोह सूर्यास्त से पहले सम्पन्न किया जाय, जबकि मुसलमानो ने यह बात स्वीकार कर ली कि यदि कार्यक्रम शान्तिपूर्ण ढग से किया जाय तो 17 मे से 15 मस्जिदे बन्द कर दी जायेगी। बाद मे यह प्रस्ताव भी अस्वीकृत हो गया। अतत इसे जिला प्रशासन द्वारा ही रोका जा सका। हिन्दू नेताओ ने यद्यपि अपने उत्सवो को बन्द कर दिया किन्तु दगो को रोका नही जा सका। परिणामस्वरूप हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्धो मे तनाव और बढा।

हिन्दुओ के इस कठोर रुख के पीछे मालवीय समूह का हाथ था। दिल्ली मे आयोजित 1924 की एकता कान्फ्रेन्स मे मस्जिदो के सामने सगीत के मुद्दे पर हुई सहमति को मालवीय के समर्थको द्वारा सचालित इलाहाबाद हिन्दू सभा द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया।[69] 1924 के इलाहाबाद दगो मे जब शहर की सामान्य स्थिति बहाल करने के उद्देश्य से पुरुषोत्तम दास टडन एव जहूर अहमद द्वारा प्रयास किया गया तो उनके इस प्रयास का स्वागत किया गया किन्तु उन मुहल्लो मे जहाँ मालवीय के समर्थक थे जहूर अहमद को अपमानित किया गया। जिला मजिस्ट्रेट के पत्र से यह भी पता चलता है कि दगो के बाद की बैठको मे मालवीय का रवैया बहुत हद तक असहयोग पूर्ण था। 1925 के स्थानीय चुनावो मे इस समस्या मे राजनैतिक दृष्टिकोण दिखायी देता है जैसा कि इलाहाबाद के कमिश्नर द्वारा यह लिखा गया कि, "यह पूरा आन्दोलन पूर्णतया राजनैतिक था क्योकि इसका चुनाव पर प्रभाव स्पष्ट था।"[70]

हिन्दुओ का यह कठोर रुख 1926 के बाद भी बना रहा। सितम्बर के अन्त तक इलाहाबाद प्रशासन हिन्दू एव मुस्लिम नेताओ को एक साथ लाने मे असमर्थ रहा। परिणामस्वरूप प्रशासन द्वारा इन समारोहो को प्रतिबन्धित कर दिया गया। बाद मे मालवीय ने दस हजार हिन्दुओ की उस सभा को सबोधित किया जो इस प्रतिबन्ध के विरोध मे हुई थी। 1926 मे मालवीय समूह द्वारा प्रान्तीय स्तर पर साम्प्रदायिक हिन्दू अभियान को सागठनिक रूप दिया गया। अप्रैल 1926 मे हिन्दू सभा की एक बैठक मे मालवीय ने उस प्रस्ताव का समर्थन किया, जिसमे कहा गया था कि सगठन उन प्रत्याशियो का समर्थन करेगा, जो हिन्दू हितो की रक्षा करेगे। उन्होने कहा कि हिन्दुओ ने बहुत समय से मुसलमान हितो की रक्षा की है किन्तु अब समय आ गया है कि हिन्दू अपने हितो की बात करे।[71] अगस्त मे मालवीय और उनके समूह ने हिन्दू सभा के

प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमे चुनाव बोर्ड के गठन की बात कही गयी थी। जिसमे कहा गया था कि अन्य सगठनो के उन प्रत्याशियो का समर्थन किया जायेगा, जो हिन्दू सभा के परिपत्रो पर हस्ताक्षर करेगे।[72] इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि मालवीय समूह द्वारा हिन्दू सभा का प्रयोग खुले तौर पर हो रहा था। अगस्त मे मालवीय के भतीजे कृष्णकान्त मालवीय ने एक चुनावी सभा मे यह सूचना जारी कि प्रत्याशियो को अपना नाम एव राजनैतिक विचार हिन्दू सभा के समर्थन मे देना होगा।

एक तरफ जहॉ हिन्दू सभा द्वारा साम्प्रदायिक दृष्टि से कार्य किया जा रहा था वही अन्य दलो की गतिविधियॉ इसे नियत्रित करने की रही यद्यपि कि वे पूरी तरह सफल नही रही तथा कुछ का समर्थन भी हिन्दू सभा को था। जनपदीय चुनावो मे स्वतत्र काग्रेस पार्टी ने यह दिखाने का प्रयास किया कि वह हिन्दू सभा से जुडी है। अक्टूबर 1926 को लाजपत राय इलाहाबाद काग्रेस के प्रमुख नेता गौरीशकर मिश्र तथा राघवदास स्वतत्र काग्रेस पार्टी के समर्थन मे आजमगढ पहुँचे। उन्होने पूरे शहर मे म्यूनिस्पल बोर्ड, हिन्दू सभा तथा आर्य समाज को सबोधित किया। वहॉ शाम को एक सार्वजनिक सभा मे स्वतत्र काग्रेस पार्टी के प्रान्तीय विधान मडल के बनारस एव गोरखपुर मडल के प्रत्याशी जी डी बिडला जिन्हे हिन्दू बहुत पसद करते थे, के लिये वोट मॉगा।[73] इस सभा मे भारी सख्या मे हिन्दू उपस्थित थे। यहॉ ध्यातत्व यह है कि स्वराज पार्टी का नेतृत्व वर्ग हिन्दू सम्प्रदायवादियो के दबाव मे आ गया। यद्यपि कि उन्होने धर्म निरपेक्ष नीति का समर्थन यह कहते हुये किया कि यह दोनो सम्प्रदायो के हित मे है।

स्वराज पार्टी ने हिन्दू सभा की चुनाव मे भागीदारी का विरोध किया। जैसा कि स्वराजपार्टी के बनारस के प्रत्याशी सम्पूर्णानन्द के दृष्टिकोण से पता चलता है यद्यपि कि वे हिन्दू सभा से भी जुडे हुये थे। उन्होने कहा, "हिन्दुओ का सामाजिक एव धार्मिक मामलो मे विशेष योगदान है। अत उनके राजनीति मे आने का कोई कारण नही है क्योकि काग्रेस हिन्दू एव मुसलमानो दोनो के हितो की रक्षा कर सकती है।[74] इसी समय कई स्वराजियो ने अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिये अपने आपको हिन्दू सभा से अलग कर लिया। जैसा कि जून 1926 के अन्त मे प्रान्तीय काग्रेस कमेटी के सचिव ज्योतिशकर दीक्षित, जो कि उत्तर प्रदेश हिन्दू सभा के सचिव भी थे ने हिन्दू सभा का अपना पद त्याग करके किया।

इसके बावजूद साम्प्रदायिक तनाव बढता रहा। जून मे काग्रेस कार्य समिति ने एक प्रस्ताव पास किया कि काग्रेसी एव गैर काग्रेसी सभी हिन्दू–मुस्लिम विधायक यदि इस बात का समर्थन करे तो वह पृथक निर्वाचन मडल का विरोध करेगी। किन्तु ज्योतिशकर दीक्षित गौरीशकर मिश्र एव प्रान्तीय काग्रेसी कमेटी के चार अन्य सचिवो ने सदन मे ही स्वतत्र काग्रेस पार्टी की सदस्यता स्वीकार कर ली तथा कुछ अन्य काग्रेसी नेताओ ने अपने को स्वराजियो के उस कार्यक्रम मे शामिल कर लिया जिसमे हिन्दू–मुस्लिम एकता की बात कही गयी थी।[75] यहाँ एक तथ्य का उल्लेख आवश्यक है कि स्वराजी हिन्दू सभा मे मतभेद पैदा करने की कोशिश कर रहे थे जिसके लिये ऐसे स्वराजियो का उपयोग किया गया जो हिन्दू सभा से भी जुडे हुये थे। इस योजना का उद्देश्य यह था कि हिन्दू सभा के प्रान्तीय वार्षिक सम्मेलन मे यह प्रस्ताव लाया जाय कि 20 हिन्दू स्थानीय स्तर पर कान्फ्रेन्स के लिये अपने प्रतिनिधि चुन सके। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि हिन्दू सभा की गतिविधियो को नियत्रित किया जा सके। इस कार्य के लिये सम्पूर्णानन्द एव अनादि प्रसाद दुबे जैसे स्वराजी नेताओ को जिम्मेदारी सौपी गयी जो हिन्दू सभा से बहुत नजदीकी तौर पर जुडे थे। लेकिन स्वराजियो की इस कार्यवाही का भेद खुल गया और मालवीय समूह ने हिन्दू सभा को अपने नियत्रण मे कर लिया और कान्फ्रेस को अपने समर्थको से भर दिया। स्वराजपार्टी के सचिव ने इस बेईमानी के लिये पुराने कार्यकर्ताओ को दोषी ठहराया।[76] इसके बाद मालवीय समर्थको द्वारा एक ऐसा चुनावी बोर्ड बनाया गया जो हिन्दू हितो की रक्षा कर सके।

आने वाले दिनो मे हिन्दू अधिक जागरूक हुये। इसी बीच स्वामी सत्यदेव द्वारा एक आकस्मिक बैठक बुलाई गयी जिसमे बनारस के सन्यासियो द्वारा मालवीय की पार्टी की आलोचना की गयी, जिसका उपयोग मोतीलाल नेहरू द्वारा किया गया। उन्होने 1926 मे प्रतापगढ की एक चुनावी सभा मे स्वराजी नीतियो का खुलासा किया। यहाँ उनका रुख हिन्दू समर्थक का था। इलाहाबाद रामलीला प्रकरण के सवाल पर जब सभा मे उनसे प्रश्न पूछा गया तो उनका स्पष्टीकरण था कि उन्हे उस समय बहुत बुखार था, इसलिये वे इसमे सम्मिलित नही हो सके। लेकिन उन्होने 5000 स्वयसेवको को रामलीला कमेटी के कार्यक्रम मे सहयोग करने के लिये भेजा था। यहाँ मालवीय के प्रति उनका रुख आलोचनात्मक था, "जबकि मालवीय ने मजिस्ट्रेट गवर्नर एव गर्वनर जनरल को मात्र एक प्रार्थना पत्र दिया ताकि रामलीला कार्यक्रम हो

सके और हिन्दुओ के अधिकार की रक्षा की जा सके। मै आपसे पूछता हूँ कि किसके हाथ मे यह अधिकार अधिक सुरक्षित है जो आपकी सभी विपदाओ मे आपके साथ है या उनके जो कि लम्बी याचिकाये देते हैं।[77] स्वाभाविक था ऐसी स्थिति मे वे उत्साहित हिन्दुओ की प्रशसा के हकदार बने।

यहॉ उल्लेखनीय है कि काग्रेस की स्थिति काफी दुविधाग्रस्त थी। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान उन्होने सभी सगठनो से समर्थन मॉगा। इस तरह का समर्थन हिन्दू सभा द्वारा भी दिया गया और इस समर्थन से काग्रेस का विकास भी हुआ। यद्यपि कि आन्दोलन के लिये ऐसा समर्थन लाभकारी अवश्य हुआ किन्तु इसकी एक कमजोरी यह रही कि दोनो समुदायो के बीच तनाव एव विरोध मे वृद्धि हुई। स्थानीय स्तर पर काग्रेस एव हिन्दुओ के सम्बन्ध परिस्थिति आधारित थे। गोरखपुर के बॉसगॉव तहसील के भिनसा बाजार का अनुभव इसकी पुष्टि करता है। नवम्बर 1929 मे तहसील काग्रेस कमेटी के सचिव गणेश प्रसाद पाण्डेय द्वारा लिखा गया कि गॉव मे सगठन का कार्य अच्छा चल रहा है। गॉव मे एक ऐसे सगठन की स्थापना भी हुई है जो लडकियो के लिये स्कूल भी चलाता है। साथ ही एक प्रकाशन विभाग एव सगीत समिति भी है। हिन्दू सभा एव काग्रेस गॉव मे कुछ समय से हैं तथा एक साथ काम कर रहे है। आगामी कार्यक्रमो मे गॉव मे एक खादी भडार खोलने की योजना है ताकि खादी कार्यक्रम को बढाया जाय एव ग्राम सेवक पत्रिका की शुरुआत की जाय।[78] इससे स्पष्ट होता है कि काग्रेस एव हिन्दू सभा आम आदमी के हित के स्तर पर मिलकर काम कर रही थी।

यद्यपि कि काग्रेस अपना धर्म निरपेक्ष चरित्र बनाये हुये थी, किन्तु समय–समय पर इसे धर्म आधारित सगठनो का सहयोग मिलता रहा। 1930 के इलाहाबाद कुभ मेले का प्रयोग सविनय अवज्ञा के कार्यक्रम के लिये किया गया जहॉ कई सभाये हुई तथा जिसमे तमाम साधु–सन्यासियो ने भी हिस्सा लिया। इसमे प्रमुख रूप से गोरखपुर के काग्रेस नेता बाबा राघवदास भी थे। उन्होने ब्रिटिश शासन की तुलना औरगजेबी शासन से करते हुये देश की गुलामी से मुक्ति करने का आह्वान किया। इसके साथ ही रोजाना वध की जाने वाली पचहत्तर हजार गायो को मुक्त करने की मॉग की[79] इसी प्रकार 1929–30 मे आर्य समाज एव हिन्दू सभा द्वारा जारी किया गया वक्तव्य सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा काग्रेस के समर्थन मे था। कई बार काग्रेस द्वारा भी स्वय पहल करके हिन्दू सगठनो से सहायता मॉगी गयी। जब 1928–29 मे काग्रेस पदाधिकारियो द्वारा राष्ट्रीय स्वयसेवको को सुदृढ करने

की बात कही गयी तो आगरा की प्रादेशिक हिन्दू सभा ने इसकी हिमायत की। सभा ने कई शारीरिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया और 6 स्वयसेवको को हनुमान व्यायाम प्रचारक मडल अमरावती मे प्रशिक्षण के लिये भेजा। हिन्दू महासभा द्वारा आगरा प्रादेशिक हिन्दू सभा के प्रशिक्षण कार्यक्रम मे सहायता देने के लिये हरिहर राव देशपाण्डे को नियुक्त किया गया। जनवरी 1929 मे गोरखपुर मे एक शारीरिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया गया। देशपाण्डे ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के कई जिलो गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ, आदि मे इस कार्यक्रम को फैलाया। बाद मे इन प्रशिक्षण शिविरो मे लाठी, चाकू, गडासे चलाने का प्रशिक्षण भी दिया जाने लगा। राजा कालाकाकर (प्रतापगढ) ने ऐसे प्रशिक्षण केन्द्रो को मदद दी जो जालौन, गाजीपुर, काशी विद्यापीठ बनारस एव कुम्भ मेला इलाहाबाद मे चल रहे थे।[80] इन कार्यक्रमो के पीछे इलाहाबाद के नर्मदा प्रसाद सिह का हाथ था, जो हिन्दूसभा के आगरा प्रदेश शाखा के सचिव के साथ ही प्रमुख काग्रेसी नेता थे।

अगस्त 1929 मे हिन्दू सभा के प्रशिक्षण केन्द्रो के साथ काग्रेस के सहयोग के प्रमाण उपलब्ध हैं। यह बात तब स्पष्ट होती है जब प्रदेशीय काग्रेस कमेटी के महासचिव श्री प्रकाश, बनारस मे काग्रेस के प्रमुख नेता नरेन्द्र देव, उत्तर प्रदेश काग्रेस प्रमुख नेता बीरबल सिह ने लाजपत प्रशिक्षण केन्द्र गाजीपुर का दौरा किया तथा केन्द्र के प्रशिक्षण कार्यक्रम से प्रभावित होकर न केवल इसका स्वागत किया अपितु एक वक्तव्य मे यह भी कहा कि यदि अन्य जिला समितिया चाहे तो ऐसा केन्द्र स्थापित कर सकती हैं।[81] स्पष्ट है कि इस तरह का कदम सकारात्मक नही कहा जा सकता, यद्यपि कि इस वक्तव्य के समय दो मुसलमान भी उपस्थित थे किन्तु बडे पैमाने पर ऐसी कोई सूचना मुसलमानो को नही दी गयी। अत स्वाभाविक था कि ऐसे कार्यक्रम को मुसलमानो द्वारा अविश्वास की दृष्टि से देखा गया।

काग्रेस के इस कदम से ब्रिटिश प्रशासन को यह अवसर उपलब्ध हो गया कि वह मुसलमानो का समर्थन कर उन्हे उत्तर प्रदेश काग्रेस से अलग कर सके। अत आने वाले दिनो मे प्रादेशिक सरकार द्वारा मुस्लिम पोषण बढ गया। इसके लिये बुलन्दशहर के जमीदार एव छत्तरी के नवाब को माध्यम बनाया गया। 1928 मे सरकार के गृह विभाग द्वारा प्रान्तीय गवर्नर को यह प्रयास करने के लिये कहा गया कि खिलाफत आन्दोलन के प्रमुख नेता रहे मुहम्मद अली को सविनय अवज्ञा के विरुद्ध तब तक बोलने के लिये सहमत करे जब तक कि गोलमेज परिषद का परिणाम न आ जाय। यह भी प्रयास किया गया

कि उलेमा सविनय अवज्ञा के विरोधी रहे। इस समय जब कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन को सफलता मिल रही थी, प्रशासन की लगातार कोशिश थी कि मुसलमानो को अपने पक्ष मे करे। इसका अवसर उसे शारदा एक्ट के मुद्दे पर मिला जिसमे एक्ट के परिवर्तन को स्वीकार नही किया गया और मुसलमानो को बता दिया गया कि उनके लिये नियम हिन्दुओ की भॉति नही है।[82] सरकार का विचार था कि सभी कानूनी प्रयत्न किये जाने चाहिये, जिससे कि मुसलमान सविनय अवज्ञा को समर्थन न दे। प्रादेशिक सरकार ने काग्रेस के विरोध मे मुस्लिम जन समुदाय को सगठित करने वाले शौकत अली एव अन्य पारम्परिक मुसलमानो के सगठन उ प्र तजीम कमेटी को वित्तीय मदद भी दी।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे मुसलमानो की भागीदारी बहुत कम थी। जिसके लिये ब्रिटिश प्रशासन भी प्रयासरत था। ऐसा स्थानीय स्तर पर भी हो रहा था जैसा कि 1930 मे इलाहाबाद के मडलायुक्त ने कहा कि इस प्रकार के कई कार्य शान्तिपूर्ण ढग से पहले ही किये जा चुके है।[83] कानपुर के एक पत्रकार ने भी अपना अनुभव बताया कि काग्रेस के विरोध मे भाषण देने एव कार्य करने के लिये कानपुर के कलेक्टर द्वारा उसे नौकरी की पेशकश की गयी तथा एक हिन्दू अधिकारी द्वारा 150 रुपये प्रतिमाह तथा साथ मे यात्रा भत्तादेने की बात कही गयी।[84]

यद्यपि कि राजनैतिक नेतृत्व वर्ग प्राय सम्भ्रान्त एव शहरी वर्ग से सम्बन्धित था, किन्तु इनके क्रियाकलाप हिन्दू एव मुसलमान दोनो समुदायो को प्रभावित करते थे। अलग पहचान एव निजी स्वार्थों के कारण होने वाले दगो से भय एव घृणा की भावना मे और अधिक वृद्धि होती थी। जैसा कि 1931 के कानपुर के दगो से इसकी पुष्टि होती है। गॉधी—इरविन वार्ता के बाद यद्यपि कि दगे कुछ समय के लिये रुक गये थे, किन्तु मुसलमान इस बात से परेशान थे कि उन्हे पुलिस तथा अन्य काग्रेसी जनो से धमकी मिल रही थी। परिणामस्वरूप शहर मे तनाव और बढा तथा बाद के आन्दोलन मे मुस्लिम भागीदारी और कम हो गयी।

इससे कई अन्य स्थानो पर भी असन्तोष मे वृद्धि हुई। बनारस मे 11 फरवरी 1931 मे साम्प्रदायिक दगे हुये। इस सन्दर्भ मे जिलाधिकारी ने लिखा कि भारतीय काग्रेस कमेटी के सभी सदस्यो को छोडना काग्रेस की जीत के रूप मे मनाया गया।[85] बनारस की कई मुसलमानो की दुकानो मे लोगो को जाने से रोका गया। 10 फरवरी को कई ग्राहको को मारा पीटा गया। बनारस के प्रमुख कपडा व्यापारी आगा मोहम्मद जान की दुकान पर धरना दिया गया।

धरना देने वाले सभी हिन्दू थे। यद्यपि कि पुलिस ने तमाम गिरफ्तारियॉ की, किन्तु शाम को हिन्दू–मुस्लिम झगडे भडक उठे, जिसमे दुकान से घर लौटते समय मोहम्मद जान की हत्या भी हो गयी।[86]

गॉधी–इरविन समझौते के बाद 15–17 मार्च के बीच आगरा एव पूर्वी उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर के दो गॉवो मे 14–16 मार्च के बीच साम्प्रदायिक दगे भडक उठे। आगरा मे एक मुसलमान मारा गया एव कई घायल हो गये। यहॉ 15 मार्च को होली उत्सव पर मस्जिद के सामने सगीत कार्यक्रम पर मुसलमानो ने आपत्ति की थी। मिर्जापुर मे हिन्दुओ ने मुसलमानो को मार डाला।[87] इस दंगे के पीछे कोई प्रमाण नही है कि इसके पीछे राजनैतिक उद्देश्य था लेकिन यह इस बात का सकेत करता है कि साम्प्रदायिक वैमनस्य की भावना देहातो मे भी फैल चुकी थी। इस सम्बन्ध मे यह भी प्रासगिक है कि इन घटनाओ ने कानपुर को भी प्रभावित किया, जहॉ बडे पैमाने पर दगे हुये।

मुस्लिम राजनीति की नकारात्मक प्रवृत्तियॉ भी इस दौरान देखने को मिली। 1928–29 मे शौकत अली एव तजीम कमेटी ने कानपुर मे काग्रेस के विरोध मे सक्रिय प्रचार किया और 'तौसीह–जमात–उल–उलेमा–ए–हिन्द' का गठन कर जेहाद की भावनाओ को और अधिक समृद्ध किया। यह सगठन काग्रेस समर्थक देवबन्द की 'जमात–उल–उलेमा–ए–हिन्द' के विरोध मे था।[88] इसका प्रभाव यह पडा कि मई 1930 मे मुसलमानो ने खुले तौर पर काग्रेस की विदेशी कपडो के बहिष्कार एव मदिरापान निषेध कार्यक्रम का बहिष्कार किया। काग्रेसी मुस्लिम नेताओ के भाषणो का बहिष्कार किया गया तथा मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओ के भाषाण को ध्यान से सुना गया।[89] दोनो समुदायो के बीच मतभेद इतना गहरा था, कि राष्ट्रीय नेताओ की मृत्यु पर होने वाली शोक सभाये भी प्रभावित हुईं। जनवरी 1931 मे मोहम्मद अली की मृत्यु पर सयुक्त सभा के आयोजन का काग्रेसी नेताओ का प्रस्ताव मुस्लिम नेताओ द्वारा अस्वीकार कर दिया गया और दोनो ने अलग–अलग शोक सभाये की। इसी तरह मोतीलाल की मृत्यु पर हसरत मोहानी की अध्यक्षता मे शोकसभा तो हुई लेकिन अधिकतर मुसलमान काग्रेस द्वारा आयोजित हडताल मे शामिल नही हुये और जब मुसलमानो से दुकान बन्द करने को कहा गया तो उन्होने अनिच्छा जतायी, क्योकि मुहम्मद अली की मृत्यु पर हिन्दुओ ने ऐसा ही किया था।[90]

यद्यपि कि 1930 तक साम्प्रदायिक दगो मे कमी आती गयी, लेकिन साम्प्रदायिक सोच ने मुसलमानो को उत्तर प्रदेश मे हिन्दुओ के प्रति अविश्वास

की भावना से भर दिया था। जिसका प्रभाव सविनय अवज्ञा के बाद के वर्षों मे दिखाई देता है। यहॉ तक कि अब काग्रेसी मुसलमान भी काग्रेस टिकट पर चुनाव लडने के अनिच्छुक हो गये। जैसा कि खलीकुज्जमॉ ने व्यक्त किया है, "पृथक निर्वाचन मडल के आधार पर होने वाले चुनाव मे मैं इस बात से सहमत हूँ कि स्वराज पार्टी से किसी भी मुसलमान को टिकट मिलना मुश्किल है।'[91] भारत शासन अधिनियम 1935 के आने के बाद हुये चुनाव मे खलीकुज्जमॉ ने सलेमपुर के रूढिवादी एव प्रतिक्रियावादी राजाअली अहमद खान के साथ मिलकर उत्तर प्रदेश मुस्लिम लीग को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इसे रफी अहमद किदवई एव नेहरू के अन्य समर्थको द्वारा समर्थन दिया गया, क्योकि वे पहले ही मान चुके थे कि कोई भी मुसलमान अब काग्रेस के टिकट पर चुनाव नही जीत सकता।[92] फरवरी 1933 के चुनाव मे उत्तर प्रदेश मे कोई मुस्लिम प्रत्याशी नही जीता स्वय रफी अहमद किदवई मुस्लिम बहुल गोण्डा से चुनाव हार गये। यह स्थिति न केवल काग्रस के प्रति मुस्लिम दृष्टिकोण को व्यक्त करती है, बल्कि साम्प्रदायिक अलगाव की ओर भी सकेत करती है।

इस साम्प्रदायिक अलगाव को बढाने मे 1930 के दशक के आखिरी वर्षों मे खाकसार आन्दोलन के उभार को देखा जा सकता है। 1930 मे इसे प्रारम्भ करने वाला अल्लामा मशरीकी था जिसने पजाब तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्राप्त की थी। उसकी विभिन्न विषयो मे रुचि एव विद्वता थी, जिसमे प्रमुख विषय गणित भौतिकी एव धर्मशास्त्र थे। इसने उसे कुरान एव मुस्लिम रीति–रिवाजो एव सिद्धातो को अपनी तरह से व्याख्या करने के लिये प्रेरित किया।[93] भारतीय शिक्षा सेवा मे उसने उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रान्त मे कुछ वर्षों तक कार्य किया शिक्षा सेवा के दौरान मशरीकी ने सरकार के विरोध के बावजूद स्कूलो मे इस्लाम की धार्मिक शिक्षा का प्रचार करने मे सफलता प्राप्त की।[94] उसका सबसे महत्वपूर्ण प्रयास खाकसार पार्टी के उदय के रूप मे सामने आया। मशरीकी ने पाया कि समकालीन मुल्ला एव मौलवी अपने कर्तव्यो का पूर्णतया ईमानदारी से पालन नही कर रहे हैं। उसने खाकसार पार्टी का उद्देश्य 'पुन अल्लाह के इस्लाम की स्थापना' रखा।[95]

स्पष्ट है कि यह सगठन धार्मिक भावनाओ पर आधारित था। प्रारम्भ मे इसकी गतिविधिया उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त मे केन्द्रित थी किन्तु मुस्लिम लीग के साथ सम्बन्धो मे बढती प्रगाढता से इसका क्षेत्र विस्तार हुआ। उत्तर प्रदेश मे खाकसार एव मुस्लिम लीग का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से लखनऊ के शिया–सुन्नी विवाद मे उभरकर सामने आया। यह एक पुराना विवाद था तथा मुस्लिम लीग पहले से ही इस मामले मे रुचि ले रही थी।[96] यह विवाद 1939

मे जब पुन उभरा तो काग्रेस एव मुस्लिम लीग दोनो ने समान रूप से इसमे रुचि ली। मामला इतना जटिल था कि निकट भविष्य मे उसके समाधान का कोई रास्ता नही था। किन्तु लीग ने यह महसूस किया कि काग्रेस जान—बूझकर मुस्लिमो को बॉटकर इस विवाद को हवा दे रही है ताकि वह मुसलमानो पर आसानी से शासन कर सके। अत काग्रेस शासन पर लीग द्वारा तीव्र प्रहार होने लगा। कोई भी मत्री इस तरह के आरोपो का सामना करने के लये तैयार नही था। अत काग्रेसियो ने भी लीग के नेताओं पर जवाबी हमला प्रारम्भ किर दिया।[97]

लखनऊ के इस विवाद से अपनी परिस्थितियों मे खाकसारो ने हस्तक्षेप किया। मशरीकी के सिद्धात मे मुसलमानो की एकता एक महत्वपूर्ण कारक थी। मुस्लिम लीग ने खाकसारो के इस हस्तक्षेप को बढा चढाकर प्रचारित करना शुरू किया। उसके अनुसार खाकसार मुसलमानो की ओर से लडने आये हैं। दूसरी तरफ सेना और पुलिस जिन्होने खाकसारो को चुनौती दी के विषय मे यह प्रचारित किया गया कि वास्तव मे वे मुस्लिम विरोधी हैं। जब खाकसारो एव काग्रेसियो तथा अहरार स्वय सेवको के बीच झडप हुई तो लीग ने यह प्रचारित किया कि ऐसा हिन्दू काग्रेस का मुस्लिम विरोधी होने के कारण है।[98]

इससे स्पष्ट होता है कि मुस्लिम लीग ने सामान्य मुसलमानो से खाकसारो का सम्पर्क कायम करा दिया और बाद मे मुस्लिम लीग की तरफ से खाकसार मुसलमानों के बीच ध्रुवीकरण के साधन बन गये। उत्तर प्रदेश मे खाकसारो का विस्तार जारी रहा। सरकारी तौर पर इनकी शक्ति का आकलन किया गया जो 1938 मे 3000 थी अगस्त 1940 मे बढकर यह सख्या चौदह हजार हो गयी।[99] इसके साथ ही लीग का स्वय का अपना आधारभूत सगठन एव विस्तार तथा इसके नेतृत्व द्वारा कठोर साम्प्रदायिक प्रचार जैसा कि खाकसार भी करते थे, ने लीग को काफी मजबूत स्थिति प्रदान कर दी।[100]

इस प्रकार मुस्लिम लीग के अत्यधिक धार्मिक झुकाव ने उसे मुसलमानो के बीच काफी लोकप्रिय बना दिया। जैसा कि 1936 के चुनावो मे काग्रेस को मुस्लिम क्षेत्रो मे मिली विफलता से पता चलता है। साथ ही साम्प्रदायिक प्रश्नो पर उसका कमजोर रवैया भी मुसलमानो को कोई आश्वासन नही दे सका जब कि प्रतिद्वन्दी मुस्लिम लीग अति कट्टर खाकसारों के साथ मिलकर मुसलमानो मे अपनी पैठ बना रही थी। ऐसी स्थितियों मे साम्प्रदायिक समस्या इतनी उलझ गयी कि उसका कोई समाधान नही निकाला जा सका।

सन्दर्भ

1 ब्रास पाल आर , लैग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इडिया, (विस्तृत व्याख्या के लिये) कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1974.

2. राबिन्सन एफ., सेप्रेटिज्म एमग इडियन मुस्लिम्स, द पालिटिक्स आफ यूनाइटेड प्राविन्सेज मुस्लिम्स 1860–1923 (विस्तृत व्याख्या के लिये), कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1994.

3 ब्रेनेन लास, द इल्यूशन आफ सिक्योरिटी, द बैक ग्राउण्ड टु मुस्लिम सेप्रेटिज्म इन द यूनाइटेड प्राविन्सेज, मुशीरुल हसन द्वारा सम्पादित इडियाज पार्टीशन प्रासेस, स्ट्रैट्जी एण्ड मोबिलाइजेशन, दिल्ली, ओ यू पी , 1994, पृ 328

4 वही, पृ 329

5 नील वाल्टर सी , लैण्ड इज टू रूल, राबर्ट फाइकेन द्वारा सम्पादित लैण्ड कन्ट्रोल एण्ड सोशल स्ट्रक्चर मे, मेडिसन 1969, पृ 9, उद्धृत मुशीरुल की सम्पादित वही पुस्तक, लास ब्रेनेन द्वारा, पृ. 330.

6 खॉ अहमद शफात, व्हाट आर द राइट्स आफ द मुस्लिम माइनारिटीज इन इडिया, इलाहाबाद, 1928, पृ 65–67

7. पाण्डेय ज्ञान, रैलिग राउण्ड द काऊ, . सेक्टेरियन स्ट्राइब्स इन द भोजपुरी रीजन 1888–1917, सब अल्टर्न स्टडीज खण्ड–2, पृ 65–67

8 वही, पृ 68

9 सेना गुप्ता एस , कास्ट एज एन एग्रेरियन फेनामेनान इन ट्वेन्टियथ सेन्चुरी बिहार, ए दास और वी, नीलकण्ठ द्वारा सम्पादित एग्रेरियन रिलेशन इन इडिया मे उद्धृत, दिल्ली, 1979, पृ 85–89

10 सान्याल हितेश रजन, सोशल मोबिलटी इन बगाल, कलकत्ता, 1981

11 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ 32

12. वही, पृ 18–23.

13. शिक्षा आयोग के समक्ष बाबू शिवप्रसाद का साक्ष्य (ई सी.एन.डब्ल्यू.पी एण्ड ओ) एजूकेशन कमीशन, इविडेन्स टेकेन इन नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज एण्ड अवध, पृ. 314 फ्रासिस राबिन्सन की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 70

14 नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज प्रशासनिक रिपोर्ट 1862–63, पृ. 91.

15 राबिन्सन एफ. की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 71

16 कवि वचन सुधा 8 अगस्त 1873 का सस्करण

17 राबिन्सन एफ की पुस्तक मे उद्धृत पृ. 73

18 बाबू शिवप्रसाद द्वारा यह मेमोरडम 'कोर्ट कैरेक्टर्स इन द अपर प्राविन्सेज आफ इडिया नाम से 1868 मे प्रस्तुत, (मालवीय के कोर्ट कैरेक्टर मे उद्धृत, परिशिष्ट, पृ. 72–74) पाल आर ब्रास की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 130.

19 ब्रास पाल आर. की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 130.

20 वही, पृ. 130.

21 राय आलोक, हिन्दी नेशनलिज्म, ओरियन्ट लागमैन, दिल्ली, 2000 मे उद्धृत, पृ 41.

22 शिक्षा आयोग के समक्ष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का साक्ष्य, भारतेन्दु समग्र पृ 1054–60

23 राय आलोक की पुस्तक हिन्दी नेशनलिज्म मे उद्धृत, पृ 41, भारतेन्दु समग्र, पृ 1054–60

24 राय आलोक की पुस्तक मे उद्धृत, पृ 42.

25 वही, पृ 42.

26 सरस्वती हीरक जयन्ती अक, सपा श्री नारायण चतुर्वेदी, इडियन प्रेस, इलाहाबाद 1961, आलोक राय की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 42

27 मालवीय, कोर्ट कैरेक्टर, पृ. 24–63, उद्धृत पाल ब्रास की वही पुस्तक, पृ 131

28. वही

29 ए डिफेन्स आफ उर्दू लैंग्वेज एण्ड कैरेक्टर (कोर्टकैरेक्टर एव प्राइमरी एजूकेशन के प्रत्युत्तर मे) पाल ब्रास की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 132

30 गुप्त ज्योतीन्द्र दास एव गुम्प्रेज जे , लैंग्वेज कम्यूनिकेशन एण्ड कन्ट्रोल इन नार्थ इडिया पाल ब्रास की पुस्तक मे उद्धृत, पृ 135

31 हिन्दी प्रदीप, मई–जुलाई 1901

32 शर्मा पद्मसिह द्वारा उद्धृत 'सभापतियो के भाषण' खण्ड 2 मे पृ 130

33. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल, 1879

34. रत्न चन्द्र बाबू, हिन्दी उर्दू का नाटक, (1890) उद्धृत आलोक राय की पुस्तक मे पृ. 57.

35. राय आलोक, हिन्दी नेशनलिज्म मे उद्धृत, पृ 61

36 वही

37 मिश्र सिद्धिनाथ, खडी बोली का आन्दोलन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1956 मे उद्धृत

38 राय आलोक की पुस्तक मे उद्धृत, पृ 94

39 वही, पृ. 90.

40 तिर्मिजी एस.ए.ए , द काऊ प्रोटेक्शन मूवमेट एण्ड मास मोबिलाइजेशन इन नादर्न इडिया, 1882—1893, प्रोसीडिग्स इन द इडियन हिस्ट्री काग्रेस वाल्टेयर, 1979, पृ 575

41 अहमद रफी उद्दीन, बगाल मुस्लिम, कलकत्ता, 1980, पृ 170.

42 मैकलेन जान, इडियन नेशनलिज्म एण्ड द अर्ली काग्रेस, प्रिन्सटन, 1977, पृ. 275

43 पाण्डेय ज्ञान, द कन्स्ट्रक्शन आफ कम्यूनलिज्म, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1990, मे उद्धृत, पृ. 77—78

44 पाण्डेय ज्ञान, वही रैलिग राउण्ड द काऊ, पृ. 77

45 वही.

46 अब्दुल माजिद द्वारा डायरी मे दर्ज (29 मई 1904) ज्ञान पाण्डेय की रैलिग राउण्ड द काऊ मे उद्धृत, पृ 77—78

47. फ्रितॉग, एस , रिलीजियस राइट्स फ्राम कम्यूनिटी आइडेन्टिटी टू कम्यूनलिज्म इन नार्थइडिया 1870—1940, यूनिवर्सिटी आफ कैलीफोर्निया ब्रेकले, पी—एच डी शोध प्रबन्ध 1980, पृ. 127) ज्ञान पाण्डेय की पुस्तक कन्स्ट्रकशन आफ .. . मे उद्धृत, पृ. 176

48 ईस्ट इडिया रिलीजियस डिस्टर्बेस एन.डब्ल्यू. पी. एण्ड ओ के मुख्य सचिव द्वारा भारत सरकार के गृह सचिव को लिख पत्र, 28 अगस्त 1893, ज्ञान पाण्डेय के रैलिग राउण्ड . . . मे पृ. 78—79

49. नकवी एच के अर्बन सेन्टर्स एण्ड इन्ट्रस्ट्रीज इन अपर इण्डिया, 1556—1803 बम्बई, 1968, पृ. 140

50 आजमगढ कलेक्ट्रेट इग्लिश रिकार्ड रूप, विभाग (XIII), फाइल न 146 / 1894, पत्राक 45 / (XIII), 146, आजमगढ के मजिस्ट्रेट द्वारा गोरखपुर के कमिश्नर को लिखा पत्र (29 जनवरी, 1893).

51. पाण्डेय ज्ञान, वही पुस्तक कन्स्ट्रक्शन आफ .. ... . , पृ 165.

52 वही, पृ 166

53 सरकार सुमित, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,

1992, पृ 104

54 गोरखपुर कमिश्नर रिकार्ड रूम विभाग (XVI), फाइल सख्या 37/1898–1900, यह प्रार्थनापत्र आजमगढ के कुछ गॉवो के मुसलमानो की ओर से भारत के गृह सचिव का, 18 जून 1893

55 आजमगढ के मजिस्ट्रेट द्वारा गोरखपुर के कमिश्नर को भेजी रिपोर्ट 7 जुलाई 1893, उस समय डुपरनेक्स डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट था। एल/पी.एण्ड जे/6/357

56 आजमगढ, कलेक्ट्रेट, विभाग XIII फाइल सख्या 146/1894.

57. आजमगढ, के मजिस्ट्रेट डुपरनेक्स की रिपोर्ट.

58. पाण्डेय ज्ञान, रैलिग राउण्ड द काऊ ... . पृ 100

59 पाण्डेय ज्ञान, द कन्स्ट्रक्शन आफ . . . पृ 182–83

60 वही, पृ. 186

61 मल्ल विजयशकर (सपा) प्रताप नारायण ग्रन्थावली, पृ. 178, 563

62 पाण्डेय ज्ञान, द कन्स्ट्रक्शन आफ . .. मे उद्धृत पृ 174

63. आजगमढ गजेटियर 1911, पृ. 91

64. बलिया, गजेटियर, 1907, पृ 80.

65. गाजीपुर गजेटियर, 1909, पृ 90

66. गोर्डान आर. ए , द हिन्दू महासभा एण्ड द इण्यिन नेशनल काग्रेस 1915–26, माडर्न एशियन स्टडीज 9, 2 (1975) ज्ञान पाण्डेय के द एसेडेन्सी आफ द काग्रेस इन उत्तर प्रदेश मे पृ 115.

67. पाण्डेय ज्ञान, द एसेडेन्सी आफ द काग्रेस इन उत्तर प्रदेश 1926–34, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978, पृ 117

68. यू पी. जनरल एडमिनेस्ट्रेशन डिपार्टमेट फाइल सख्या 246/1926

69 यू पी जी.ए डी. फाइल स 246/1926.

70 यू पी. जी.ए डी. फाइल स 680/1925 इलाहाबाद के कमिश्नर द्वारा उ प्र. के मुख्य सचिव को 14 सितम्बर, 1925 को लिखा पत्र

71 पुलिस एब्सट्रैक्ट आफ इटेलीजन्स रिपोर्ट, 1 मई 1926

72 लीडर समाचार पत्र, इलाहाबाद, 11 एव 25 अगस्त 1926.

73. आज, 4 एव 8 अक्टूबर 1926

74. अभ्युदय, 13 एव 20 मार्च, 1926

75 अभ्युदय, 21 अगस्त, 1926

76 अभ्युदय 31 जुलाई 1926 एव लीडर 11 अगस्त 1926

77 पाण्डेय ज्ञान, द एसेडेन्सी आफ मे उद्धृत, पृ 124

78 अभ्युदय 23 नवम्बर 1929

79. पुलिस एब्स्ट्रैक्ट आफ इटेलीजेन्स, फरवरी 1930

80 अभ्युदय, 19 जनवरी, 9 फरवरी, 1929

81 अभ्युदय, 31 अगस्त एव 14 सितम्बर, 1929

82 यू. पी. जी.ए.डी फाइल स. 241/1930.

83. पुलिस एब्स्ट्रैक्ट आफ इटेलीजेन्स रिपोर्ट, 6 सितम्बर, 1930

84 कानपुर इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट पृ. 180

85 आज, 12 फरवरी, 1931.

86 आज, 12 फरवरी, 1931

87 लीडर 21 मार्च 1931 एव अभ्युदय 25 मार्च 1931

88. अभ्युदय, 2 नवम्बर 1929

89 यू.पी जी.ए डी 241/1930, इलाहाबाद के कमिश्नर द्वारा उ.प्र के मुख्य सचिव को लिखा पत्र 9 मई, 1930.

90 पुलिस एब्स्ट्रैक्ट आफ इटेलीजेन्स, 17 जनवरी एव 14 फरवरी, 1931

91 खलीकुज्जमॉ चौधरी, पाथवे टु पाकिस्तान, लाहौर, 1961, पृ 129.

92. आज, 22 नवम्बर 1934

93 शान मोहम्मद, खाकसार मूवमेट इन इडिया, दिल्ली, 1973, पृ. 18

94. वही, पृ. 4

95 वही, पृ. 5.

96 वही, पृ 31.

97 वही, पृ. 49—52

98 वही.

99 चन्दर सुनील, काग्रेस राज कन्फ्लिक्ट एण्ड राइज आफ द मुस्लिम लीग इन द मिनिस्ट्री पीरियड 1937—39, माडर्न एशियन स्टडीज, 21 2, 1987, पृ 303—328 मे उद्धृत.

100 वही.

अध्याय—5

विभाजन एवं उसकी स्मृति

साम्प्रदायिकता एव साम्प्रदायिक राजनीति की अतिम परिणति देश विभाजन के रूप मे मूर्तिमान हुई, जिसकी त्रासद परिस्थितियो से हिन्दू एव मुसलमानो दोनो को गुजरना पडा क्योकि दोनो ही समुदायो की जनसख्या का स्थानान्तरण इधर—उधर हुआ। आर्थिक हानि के साथ—साथ व्यापक पैमाने पर जनहानि भी हुई। यद्यपि कि यह त्रासदी सीमावर्ती पजाब एव बगाल मे अधिक थी क्योकि बडे पैमाने पर दगे यही भडके और आने—जाने वालो को हिसा का निशाना बनाया गया किन्तु इसका प्रभाव व्यापक रूप से सम्पूर्ण देश पर पडा। चूँकि उत्तर प्रदेश राजनीति के केन्द्र मे था अत स्वाभाविक था कि यह त्रासदी यहॉ भी झेलनी पडी। यहॉ उन स्थितियो की चर्चा होगी कि सामान्य जन के मन मे विभाजन की पीडा कैसे बसी हुई थी और उनका सामाजिक राजनीतिक एव आर्थिक जीवन कैसे प्रभावित हुआ था। इसके साथ ही तत्कालीन साहित्यकारो की दृष्टि एव स्मृतियो मे इसका क्या स्वरूप था, इसे विवेचित करने का प्रयास होगा।

सबसे पहले यहॉ यह विवेचित करने का प्रयास होगा कि उत्तर प्रदेश के लोगो की जनसख्या एव स्थिति को विभाजन ने कैसे प्रभावित किया। इसके लिये राष्ट्रीय स्तर के ऑकड़ो पर दृष्टिपात किया जाय तो प्रदेश मे यह सख्या अधिक नही बैठती है। विभाजन के बाद भारी सख्या मे लोगो ने स्थानान्तरण किया। यह सख्या लगभग 6—7 लाख के बीच थी, जिन्होने भारत छोडकर पाकिस्तान पलायन किया। इसी तरह हिन्दुओ और सिखो ने भारत आने के के लिये पाकिस्तान छोडा। इसमे यह सख्या अतिरिक्त है जिसमे लाखो लोग स्थानान्तरण की प्रक्रिया मे रोग, भुखमरी एव दगे के शिकार हुये।[1] ऐसा अनुमान है कि पजाब से करीब 80 प्रतिशत लोग भारत से पाकिस्तान गये। पूर्वी भाग मे प बगाल, बिहार, उडीसा से करीब 55 प्रतिशत मुसलमान पाकिस्तान गये, करीब 10 प्रतिशत उत्तर प्रदेश से और 6 4 प्रतिशत लोग दिल्ली से पश्चिमी पाकिस्तान के करॉची सिन्ध एव पजाब गये।[2] जनसख्या 1951 के आकडो के अनुसार उत्तर प्रदेश से स्थानान्तरण करने वालो की सख्या भारत से कुल स्थानान्तरण करने वाली सख्या का केवल 6 प्रतिशत थी। यह भी मुख्यत शहरी क्षेत्रो से गये लोग थे।[3] यदि पजाब को छोड दिया जाय

तो 20 प्रतिशत कुल स्थानान्तरण मे से 60 प्रतिशत सख्या शहरियो की थी। इस समय उत्तर प्रदेश की शहरी मुस्लिम जनसख्या मे तेजी से गिरावट हुई थी।[4]

यह तस्वीर और अधिक स्पष्ट होती है जब पाल ब्रास के अध्ययन से इसकी तुलना की जाय। उनका मत है कि उत्तर प्रदेश मे मुसलमान हिन्दुओ की तुलना मे अधिक शहरी थे, ऐसा वे 1881 की जनगणना के आधार पर कहते है जो कि धर्म के आधार पर हुई थी। 1931 के अन्त मे सयुक्त प्रान्त के शहरो मे 29 प्रतिशत मुसलमान रहते थे, जबकि हिन्दुओ की सख्या मात्र 8 प्रतिशत थी। 1931 मे सयुक्त प्रान्त के 29 शहरो मे मुसलमानो की सख्या 50 प्रतिशत थी, जबकि अन्य 31 शहरो जिनमे लखनऊ एव आगरा भी थे, मुसलमानो की सख्या आधा एव तिहाई थी। 1881 से 1930–31 के बीच मुसलमानो का शहरीकरण 1881 मे 34 6 प्रतिशत 1891 मे 33 8 प्रतिशत तथा 1931 मे 38 23 प्रतिशत था जबकि हिन्दुओ की सख्या आनुपातिक रूप से घट रही थी। यह सख्या क्रमश इन्ही वर्षो मे 64 51 प्रतिशत, 64 27 प्रतिशत एव 59 52 प्रतिशत थी।[5] यहॉ इन ऑकडो का उल्लेख यह दिखाने के लिये किया गया कि पलायन करने वालो मे शहरी अधिक थे, क्योकि प्राय शहर ही राजनीति के केन्द्र थे और वही प्रथमत प्रभावित भी होते थे। यह बात विभाजन की प्रक्रिया पर भी लागू हुई। यह इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि विभाजन के बाद रामपुर और मुरादाबाद ही दो ऐसे शहर थे, जहॉ मुसलमानो की सख्या अधिक थी।

इस स्थानान्तरण का सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक क्षेत्र मे व्यापक प्रभाव पडा। उत्तर प्रदेश मे स्वतन्त्रता से पूर्व मुसलमानो का प्रभाव सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक क्षेत्रो मे तो था ही, साथ ही सरकारी नौकरियो, सेना, पुलिस, विधि, चिकित्सा, उद्योग, व्यापार एव परिवहन के क्षेत्र मे प्रभावी भागीदारी थी।[6] इनमे से अधिसख्य मुसलमान शहरी व्यवसायो मे लगे थे, यद्यपि कि ये आकडे ब्यौरेवार उपलब्ध नही हैं कि किस व्यवसाय से कितने लोगो ने स्थानान्तरण किया, किन्तु सामान्यतया स्थानान्तरण करने वालो मे सरकारी नौकरी पेशा एव व्यवसायी ही अधिक थे।[7] लखनऊ से प्रकाशित नेशनल हेराल्ड के अनुसार 4 4 लाख सरकारी कर्मचारी एव उनके परिवार पिछले दो माह से पाकिस्तान गये, उनमे से तीन लाख से अधिक उत्तर प्रदेश के थे।[8] इस स्थानान्तरण ने न केवल मुस्लिम आर्थिक स्थिति को प्रभावित किया अपितु बौद्धिक एव राजनीतिक नेतृत्व की भी कमी हुई।

उत्तर प्रदेश के मुसलमानो को पाकिस्तान जाने की प्रेरणा मुस्लिम लीग के बडे नेताओ द्वारा दिये गये आश्वासन से मिली थी। तत्कालीन स्थितियो पर दृष्टिपात किया जाय तो यह बात उभरकर सामने आती है कि बिना निश्चित रूप रेखा एव आधार के पाकिस्तान की मॉग के सन्दर्भ मे उत्तर प्रदेश के मुसलमानो को दिग्भ्रमित किया गया। उत्तर प्रदेश के मुसलमानो मे इससे कई भ्रम पैदा हुये और अन्तत उन्हे उनके भाग्य पर छोड दिया गया। इस प्रकार देखा जाय तो यह पूरी प्रक्रिया विश्वासघात की कहानी है। तमाम मुसलमानो का विचार है कि वे अन्त तक अनिश्चितता की स्थिति मे थे किन्तु साथ के लोग उन्हे सान्त्वना देते थे। जैसाकि अलीगढ के हेरात बिन हमीद का मानना है – "यह मुस्लिम लीग के सर्वोच्च नेताओ का दायित्व था कि वे हमारी पीडा बॉटते और हमे मार्गदर्शन देते क्योकि हमने उनके लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया था।"[9] ये भावनाये न केवल हमीद की हैं बल्कि उन तमाम मुसलमानो की है, जिन्होने मुस्लिम लीग का समर्थन किया था लेकिन विभाजन के बाद पाकिस्तान की जगह भारत मे ही रहना स्वीकार किया था।

यह सही है कि मुस्लिम लीग की दूसरी पक्ति के तमाम नेता जैसे इस्माइल खान, मुफ्ती फकरुल इस्लाम, नवाब एजाज रसूल, बेगम एजाज रसूल देश मे ही रह गये थे, जबकि बडे नेता पाकिस्तान के प्रधानमत्री नवाबजादा लियाकत अली खॉ, पाकिस्तान मे मुस्लिम लीग के चेयरमैन चौधरी खलीकुज्जमॉ, अमीर हैदरखॉ राजा महमूदाबाद जो उत्तर प्रदेश के बडे ताल्लुकेदार थे, पाकिस्तान चले गये थे।[10] ऐसे नेता जो पाकिस्तान नही गये उन्होने स्थितियो से समझौता कर लिया था। मुफ्ती फकरुल इस्लाम का विचार था कि यदि उत्तर प्रदेश के उच्च नेताओ ने पाकिस्तान जाने का निर्णय न लिया होता तो बडी सख्या मे बौद्धिक मुसलमान और आर्थिक उच्च वर्ग भारत मे रह जाता। उनके अनुसार भागे हुये मुसलमानो ने यहॉ के मुसलमानो मे भय पैदा कर दिया, जिसकी वजह से बाद मे और मुसलमान देश छोडकर चले गये।[11]

इसी तरह का विचार बेगम एजाज रसूल का भी है, जिन्होने विभाजन के बाद मुस्लिम लीग छोडकर काग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली थी एव राजनीतिक रूप से सक्रिय थी। उनका विचार था कि खलीकुज्जमॉ एव लियाकत अली खॉ जैसे लोग यदि रह जाते तो उत्तर प्रदेश के मुसलमानो के जीवन एव सम्पत्ति की सुरक्षा मे प्रभावी भूमिका निभाते और विभाजन के बाद जो असुरक्षा एव अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गयी थी वैसी स्थिति मे उनके (मुसलमानो) अन्दर विश्वास पैदा करते। उनके अनुसार लीग के दिग्भ्रमित

करने के कारण ही विभाजन हुआ और अब उन्हे (मुसलमानो को) इसकी कीमत देने के लिये तैयार रहना चाहिये, क्योकि हिन्दू साम्प्रदायिक शक्तियो के सामने उनकी शक्ति क्षीण हो गयी थी। बेगम रसूल मुफ्ती फकरुल इस्लाम के विचार से सहमत थी कि यदि लीग के बडे नेता पाकिस्तान न गये होते तो वे उत्तर प्रदेश के मुसलमानो के पलायन को रोक सकते थे। उनके अनुसार खलीकुज्जमॉ, लियाकतअली एव राजा महमूदाबाद का मुस्लिम अभिजन एव बौद्विक वर्ग मे काफी प्रभाव था। यह उनकी नैतिक जिम्मेदारी थी कि उत्तर प्रदेश के मुसलमानो के साथ रहकर उनमे विश्वास पैदा करते।[12]

यहॉ यह तथ्य उल्लेखनीय है जैसा कि स्थानान्तरण के ऑकडो से भी पुष्ट होता है कि तुलनात्मक रूप से उत्तर प्रदेश से मुसलमानो का स्थानान्तरण कम हुआ यह उन शिक्षित अभिजनो तक सीमित था जो इकबाल के इस्लामी पुनर्जागरण की पवित्र भूमि की भावना से प्रभावित थे तथा इसका एक हिस्सा उन व्यवसायियो एव सरकारी नौकरो का था जो पाकिस्तान मे अपनी बेहतरी की उम्मीद करते थे तथा जिनकी दृष्टि मे भारत मे उनके लिये अनिश्चितता थी। जैसा कि इलाहाबाद के प्रख्यात साहित्यकार अकील रिजवी भी उन स्थितियो की चर्चा करते हैं – "जो लोग पाकिस्तान पहुॅच गये थे वे अपने अजीजो को खत लिखते कि फौरन चले आओ, यहॉ बहुत मजा है, मुलाजमते भी खूब है और हिन्दुओ की छोडी हुई जायदादे भी। चुनॉचे वह लोग जो यहॉ भी किराये के मकानो मे रहते थे और रोज मारते खाते थे, सब पाकिस्तान जाने के लिये तैयार हो गये।' [13] इससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि कि स्थानान्तरण मे अभिजन की सख्या अधिक थी, किन्तु सामान्य लोग भी जाने की तैयारी मे थे।

मुस्लिम लीग जो कि विभाजन के पहले उत्तर प्रदेश के मुसलमानो का प्रभावी सगठन था, विभाजन के बाद उसके बडे नेताओ के पलायन कर जाने से मुसलमानो मे भ्रम, असुरक्षा एव अलगाव की भावना पैदा हुई और कुछ समय के लिये उनका आत्मविश्वास डिग गया और वे दिशाहीन हो गये। यद्यपि कि इन परिस्थितियो मे काग्रेस के कुछ मुस्लिम नेताओ द्वारा उनके लिये काम किया गया किन्तु इस समय स्थिति यह थी कि मुसलमानो को विश्वासघाती समझा जाता था, क्योकि उन्होने देश का विभाजन कराया था। इसमे यह तथ्य भी काम कर रहा था कि विगत कई चुनावो से मुस्लिम मतदाताओ ने काग्रेस की अपेक्षा मुस्लिम लीग के पक्ष मे मतदान किया था। ऐसी स्थिति मे न केवल राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ और हिन्दू महासभा जैसे उग्रवादी सगठनो ने ही मुसलमानो पर अविश्वास किया अपितु कुछ बडे

नेताओ की सोच भी ऐसी थी। यहॉ तक कि धर्मनिरपेक्ष और अति सम्मानित उत्तर प्रदेश के प्रथम मुख्यमत्री प गोविन्द बल्लभ पन्त ने भी एक बार मुस्लिम क्षेत्र के उपचुनाव मे काग्रेस प्रत्याशी मुजफ्फर हुसेन को वोट देकर अपनी विश्वसनीयता प्रदर्शित करने को कहा – "काग्रेस ने केवल मुसलमानो का परीक्षण करने के लिये ही मुस्लिम प्रत्याशी खडा किया है और उन्होने चेतावनी दी की यदि वे अपने पुराने रास्ते पर ही रहते हैं तो हिन्दू राज्य की स्थापना अनिवार्य है।"[14]

इन परिस्थितियो मे भी ऐसा नही था कि सभी राजनेता मुसलमानो पर अविश्वास करते थे बल्कि गॉधी और नेहरू ने मुसलमानो पर अविश्वास की बात से इन्कार किया।[15] यही नही गॉधी का रुख तो चेतावनी पूर्ण था कि यदि हिन्दू और सिखो द्वारा किसी भी प्रकार से मुसलमानो का बहिष्कार किया जाता है तो यह भारत की प्रगति मे बाधक होगा।[16] उस तनावपूर्ण दगे की स्थिति मे शाति स्थापना की उनकी तमाम कोशिशो के अलावा 13–18 जनवरी तक दिल्ली मे उपवास भी किया गया। जो हिन्दू मुस्लिम एकता की स्थापना के लिये किया गया था। इसके अतिरिक्त यह भारत मे मुसलमानों के विरुद्ध एव पाकिस्तान मे हिन्दुओ के विरुद्ध हो रही हिसक गतिविधियो को रोकने के लिये किया गया था। ऐसा करके गॉधी मुसलमानो के भीतर विश्वास बढाना चाहते थे। इसने न केवल हिसा को कम किया बल्कि विभाजन के बाद मुसलमानो को यह अवसर दिया कि वे अपने घरो से बाहर निकलकर गॉधी को उपवास करने से रोके। उत्तर प्रदेश के मुसलमानो द्वारा अनेक सभाये की गयी और इनमे उनसे उपवास तोडने का अनुरोध किया गया। जो यह दर्शाता है कि मुसलमान उनके साथ काम करने को इच्छुक थे। इतना ही नही विभाजित पाकिस्तान मे भी उनके इस कदम की प्रशसा की गयी। जैसा कि 13 जनवरी 1948 की एक सभा मे पाकिस्तान के वित्तमत्री जिया मुहम्मद मुमताज खान द्वारा व्यक्त किया गया – "महात्मा गॉधी के अनशन ने मुसलमानो के प्रति उनकी जिस सहानुभूति को प्रकट किया है, उसे यथोचित उपलब्धि मानना हमारा फर्ज है। इससे इतना समझा जाता है कि भारत मे कम से कम एक आदमी है जो हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए अपनी जान तक न्योछावर करने को तैयार है। हम सर्वशक्तिमान ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यह अनशन चलाने की जरूरत नही होगी। इस सभा मे खडे होकर मैं महात्मा गॉधी को यह आश्वासन देता हूँ कि अल्पसख्यको की सुरक्षा के लिए उनके आग्रह के प्रति हम सम्पूर्ण रूप से समर्थन व्यक्त करते है।"[17]

परिवर्तित परिस्थितियो मे अब मुस्लिम समाज मे भी साम्प्रदायिकता के प्रति घृणा की भावना देखने को मिली। बहुत से लोग जो विभाजन से पूर्व मुस्लिम लीग मे कार्य कर रहे थे, अब उससे खुद को अलग करने लगे। मुस्लिम लीग के गाजीपुर के अध्यक्ष हसन खॉ ने अपने पद से त्याग पत्र देते हुये उसे साम्प्रदायिक पार्टी कहा और उन्होने ने मुसलमानो से अपील की कि वे गॉधी जी की इच्छा के अनुरूप साम्प्रदायिक सौहार्द की स्थापना के लिये कार्य करे।[18] इलाहाबाद जिले के मुस्लिम लीग के अध्यक्ष तुफेल ने अध्यक्ष पद छोड न केवल काग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली बल्कि मुसलमानो से काग्रेस की सदस्यता ग्रहण करने की अपील की।[19] एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि 14 फरवरी 1948 को उत्तर प्रदेश मुस्लिम लीग विधायक दल ने मुस्लिम लीग को भगकर जनता पार्टी नाम से नया दल बना लिया।[20] इससे स्पष्ट होता है कि लोग विभाजन की वास्तविकता को समझ चुके थे और हकीकत से साक्षात्कार कर नये ढग से सोचने लगे थे।

विभाजन से उपजी परिस्थितियो मे लोगो की मानसिकता मे मुसलमानो के प्रति पूर्वाग्रह दिखायी देता है। यह पूर्वाग्रह सरकारी नीति मे भी देखने को मिला। उत्तर प्रदेश के पहले मुख्यमत्री गोविन्द बल्लभ पन्त ने राजकीय सेवाओ विशेषकर पुलिस सेवा मे उत्तर प्रदेश के मुसलमानो की भर्ती का विरोध किया।[21] जब पन्त दिल्ली चले गये तो उनके उत्तराधिकारी ने भी यह नीति जारी रखी तथा इस बात को निश्चित किया कि अखिल भारतीय एव प्रादेशिक सेवाओ मे अल्पसख्यको का चयन बन्द रहेगा।[22] इसके कारण मुस्लिम मध्यवर्ग मे पलायन की प्रवृत्ति दृष्टिगत हुई और सरकारी सेवाओ मे मुसलमानो का प्रतिशत तेजी से घटा जो कभी हिन्दुओ के बराबर था।[23] इस समय मुस्लिम मानसिकता मे परिवर्तन देखने को मिला। यह परिवर्तन वैसे तो सभी क्षेत्रो मे देखने को मिला किन्तु पुलिस व्यवस्था के प्रति यह विशेष रूप से था क्योकि अब दगो मे पुलिस का रवैया निर्मम हो गया था। बहुत से मुसलमान इस बात को लेकर दुखी थे तथा 1947 के पहले कि स्थिति के बारे मे सोचने लगे थे कि जब प्रत्येक थाने पर एक मुस्लिम दरोगा रहता था तथा ब्रिटिश अधिकारियो की उपस्थिति मे उन्हे बेहतर सरक्षा एव न्याय मिलता था।

उत्तर प्रदेश के मुसलमानो की राजनीतिक स्थिति मे भी साफ परिवर्तन देखने को मिलता है। 1946 के विधान सभा चुनावो मे 66 मुस्लिम सीटो मे से मुस्लिम लीग को 53 सीटे मिली थी तथा 73 29 प्रतिशत शहरी एव 62 39 प्रतिशत ग्रामीण मुस्लिम मतदाताओ का मत प्राप्त हुआ था।[24] यद्यपि कि चुनाव बहुत सीमित थे, लेकिन उत्तर प्रदेश के चुनाव मे मुस्लिम लीग प्रमुख

पार्टी बनकर उभरी थी विभाजन के बाद इसके बिखराव एव नेताओ के पलायन से मुसलमान नेतृत्व विहीन हो गये। कुछ समय तक तो ऐसा लगा कि 1947 के बाद नेतृत्व रह ही नही गया। बाद मे मुस्लिम नेता समझौते करने लगे। इसका एक पहलू यह था कि पृथक निर्वाचन मडल समाप्त हो जाने से उत्तर प्रदेश मे मुस्लिम समाज अपने आपको सगठित नही कर सका, लेकिन जब ससदीय व्यवस्था मे सार्वभौमिक मताधिकार मिल गया तो निम्नवर्गीय मुसलमान जो कभी भी राजनीतिक आधार पर सगठित नही हुये थे, अब ससदीय व्यवस्था के भाग बन गये। इस परिवर्तन ने 1947 के बाद मुस्लिम राजनीति को परिवर्तित कर दिया।

विभाजन के पहले उत्तर प्रदेश के मुसलमानो का राजनीतिक नेतृत्व तीन भागो मे विभाजित दिखायी देता है। पहले वर्ग मे मध्यमवर्गीय ऐसे वकील, डाक्टर, अध्यापक एव पत्रकार थे जो धर्म निरपेक्ष एव मार्क्सवादी थे, यह सख्या अत्यन्त सीमित थी। ये काग्रेस के साथ काम कर रहे थे, किन्तु बाद मे अन्य दलो मे भी गये। दूसरे वर्ग मे ऐसे मध्यमवर्गीय लोग थे जो पुरातनपथी एव रूढिवादी थे। इनका राजनीतिक प्रभाव अत्यन्त सीमित था।[25] तीसरे वर्ग मे जमायत उल उलेमा जो देवबद के उलेमाओ का समूह था, जिसने काग्रेस के साथ काम करते हुए पाकिस्तान बनने का विरोध किया था। विभाजन से पहले इनका एक गुट मुस्लिम हितो पर बोलता था। यह समूह पिछडे वर्ग के मुसलमान बुनकरो (मोमिन) का था जो उत्तर प्रदेश एव बिहार से सम्बन्धित थे। मोमिन आन्दोलन काग्रेस का सहयोगी था क्योकि काग्रेस ने हथकरघा एव खादी को लोकप्रिय बनाया था। मोमिन नेताओ ने उच्च जाति प्रभावित मुस्लिम लीग का विरोध किया था। विभाजन के बाद जमायत और मोमिन नेता मुसलमानो की आवाज थे। अब्दुल कयूम असारी जो आल इडिया मोमिन कान्फ्रेन्स के अध्यक्ष थे ने हमेशा मुसलमानो को मुस्लिम लीग से सबक लेने को कहा तथा अपील की कि वे काग्रेस की सदस्यता ग्रहण करे तभी उनका विकास होगा।[26] जनवरी 1949 मे मोमिन काफ्रेन्स की वर्किंग कमेटी की बैठक मे उन्होने सरकार से मॉग की कि मोमिन को पिछडी जाति घोषित किया जाय तथा धागो के मूल्य आदि मे रियायत दी जाय।[27] असारी ने उन पाकिस्तानी नेताओ के खिलाफ भी आवाज उठायी जो भारत मे मुस्लिम अभियान के विरुद्ध बोल रहे थे। उन्होने कहा कि पहले पाकिस्तान अपना घर देखे तब भारतीय मुसलमानो के बारे मे बात करे।[28]

जमायत उल उलेमा के अन्दर दो प्रवृत्तियॉ देखने को मिली, एक तो वह मुसलमानो को राजनीतिक नेतृत्व देना चाहती थी तथा दूसरे यह कि

मुसलमानो का धार्मिक एव सास्कृतिक सगठन भी बना रहे। विभाजन एव गॉधी की हत्या के बाद धर्म एव राजनीति मे भेद करना मुश्किल हो गया था। इसलिये जमायत को रक्षात्मक रुख अपनाना पडा क्योकि अब उसके ऊपर साम्प्रदायिक होने का आरोप लग रहा था।[29] 27 अप्रैल 1948 को बम्बई की एक सभा मे मौलाना आजाद एव जवाहर लाल नेहरू ने जमायत के बारे मे यह मत प्रकट किया था कि यह एक सास्कृतिक एव धार्मिक सगठन है न कि राजनीतिक।[30] यहॉ यह उल्लिखित करना समीचीन है कि खिलाफत आन्दोलन के समय से ही जमायत का राजनीति मे दखल था। उसने कई राजनेता तैयार किये जो काग्रेस राजनीति के साथ जुडे। इनमे प्रमुख थे मौलाना अबुल कलाम आजाद, हफीजुर्रहमान, निसार अहमद शेरवानी हफीज मुहम्मद इब्राहिम जिन्होने न केवल मुसलमानो का रुख काग्रेस की ओर किया बल्कि मुसलमानो को प्रभावी बनाने के लिये जमायत का प्रयोग किया।[31] विभाजन के बाद मुस्लिम लीग के परिदृश्य से हट जाने के बाद जबकि काग्रेस को मुसलमानो का समर्थन अनिश्चित हो गया था, मोमिन कान्फ्रेन्स एव जमायत जैसे सगठनो ने काग्रेस का सहयोग किया।

काग्रेस ने अपने हित साधन एव राजनीतिक आधार के लिये जमायत का उपयोग किया। थोडे बहुत अन्तरो के बावजूद जमायत काग्रेस को सहयोग करती रही। मुसलमानो का धार्मिक सगठन होने के कारण इस पर उलेमाओ का बोलबाला था। यह मुसलमानो के धार्मिक, सामाजिक एव सास्कृतिक हितो की रक्षा करती थी। इसके धर्म को राजनीति के साथ जोडने पर जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि वे ईमानदारी से बाहर आये और सामाजिक आर्थिक आन्दोलन मे भाग ले – "एक स्वाधीन राष्ट्र मे कोई अल्पसख्यक समुदाय यदि अपने आपको अलग करता है, तो देश का नुकसान तो करता ही है, इससे अधिक वह अपना नुकसान करता है क्योकि ऐसा प्रतिबन्ध केवल धार्मिक नही होता बल्कि राजनीतिक एव आर्थिक क्षेत्र तक विस्तृत होता है और उन लोगो को प्रभावित नही करता जो औरो को ऐसा करने के लिये प्रेरित करते है।"[32]

तत्कालीन राजनीतिक स्थितियो पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि विभाजन के बाद काग्रेस को मुसलमानो का समर्थन मिलने लगा था। पृथक निर्वाचन की समाप्ति के बाद मुसलमान काग्रेस के सहयोगी हो गये थे। इसका प्रभाव उत्तर प्रदेश पर भी पडा। कई क्षेत्रो मे मुस्लिम प्रत्याशी काग्रेस समर्थन के कारण जीते थे और वे इस स्थिति को आगे भी बनाये रखता चाहते थे। इनमे से बहुत से लोगो का मत था कि वे उन मुद्दो से दूर रहना चाहते थे, जो केवल मुसलमानो से सम्बन्धित थे।[33] इससे यह पता चलता है कि मुस्लिम

मानसिकता मे परिवर्तन आ रहा था क्योकि पूर्व की स्मृतियाँ काफी भयावह थी और उन स्थितियो की गवाह थी जिससे देश का विभाजन हुआ और परिवर्तित परिस्थितियो मे कोई भी इसकी पुनरावृत्ति नही चाहता था।

यहाँ उन सामान्य लोगो की स्थितियो एव भावनाओ की चर्चा भी समीचीन है, जिन्हे विभाजन की त्रासदी झेलनी पडी थी। 1946 से 1950 के मध्य ग्रामीण मुसलमानो का शहरो की ओर पलायन भी एक महत्वपर्ण पहलू था। कुछ साक्ष्यो के अनुसार यह तीन लाख से ऊपर था।[34] इसका एक महत्वपूर्ण कारण विशेषत उत्तर प्रदेश और बिहार के ग्रामीण क्षेत्रो मे साम्प्रदायिक दगो का फैलना था, जहाँ मुस्लिम आबादी छोटे–छोटे समूहो मे बिखरी हुई थी। यह एक सामान्य दृश्य था कि 1946–47 मे मुस्लिम शरणार्थी घर छोडकर उत्तर प्रदेश के शहरो एव मुहल्लो मे शरण ले रहे थे। उनमे से सभी पाकिस्तान नही गये और न ही सबको पाकिस्तान जाने वाली ट्रेन मे जगह मिली थी।[35]

इनमे से बहुत से शहरो मे रह गये और जो गाँव गये भी उन्हे निराश होकर शहर लौटना पडा क्योकि उनकी सम्पत्ति पर दूसरो ने कब्जा कर लिया था। ऐसे तमाम लोगो मे से एक उस्मान भी था जो इलाहाबाद के एक गाँव मसूराबाद से अपनी माँ एव पत्नी के साथ 1947 मे गाँव छोडकर इलाहाबाद आ गया था। उसे अटाला मे एक मुस्लिम होटल मालिक ने काम दिया जहाँ उस्मान बेयरे का काम करता था और उसकी पत्नी बर्तन माँजती थी।[36] बाद मे 1950 मे मालिक से झगडा हो जाने पर वह नौकरी गवाँ बैठा, वह जब गाँव लौटा तो वहाँ उसका घर भी नही था और उसकी एक–दो एकड जमीन पर गाँव के ही धुन्नी सिह ने कब्जा कर लिया था। उसने (धुन्नी सिह) यह मामला उठाने के लिये उस्मान को मना किया। उस्मान शहर लौट आया और रिक्शा चलाने लगा। बाद मे वह गाँव फिर गया और सौ रूपये के बदले स्थानीय पटवारी की मध्यस्थता से विवाद मे समझौता कर लिया और इलाहाबाद आकर चाय की दुकान खोली। वह अपने को उन लोगो की तुलना मे भाग्यवान समझता है जिन्होने विभाजन मे अपना सब कुछ गवाँ दिया था।[37]

विभाजन के बाद उत्तर प्रदेश के मुसलमानो का वह भ्रम भी टूटा जो उन्होने मुस्लिम लीग एव पाकिस्तान को लेकर पाल रखे थे। अधिक सख्या मे उत्तर प्रदेश के अभिजनो के पलायन ने प्रदेश मे मुसलमानो के आर्थिक एव राजनैतिक प्रभाव को कम किया। हिन्दुओ द्वारा उन्हे विश्वासघाती भी कहा गया क्योकि मुस्लिम लीग के माध्यम से वे पाकिस्तान की माँग कर रहे थे किन्तु अब उन्हे इसके लिए मानसिक तौर पर अपराध बोध हो रहा था।

बनारस का बुनकर शम्सुद्दीन असारी स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय 14 वर्ष का था, वह घटना को इस प्रकार याद करता है — "गलियो मे बहुत ही प्रसन्नता एव उत्सव का वातावरण था, लेकिन हम उसमे भाग ले सकने मे असमर्थ थे। हमारे हिन्दू भाइयो ने इस अवसर का स्वागत पटाखे छोडकर किया और हम अपने घरो मे सशय एव भय के बीच बैठे थे। हम अनुभव करते थे कि हमारी आजादी पाकिस्तान ने छीन ली है।"[38] इसी प्रकार का अनुभव जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर का भी था जो 1947 मे अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के छात्र थे। वे उस समय की स्थिति को इस प्रकार याद करते हैं — "अलीगढ मे लोगो की स्थिति सदमे और अविश्वास की थी। वे भावशून्य थे और चारो ओर दुख और शोक का माहौल था, जैसे कोई मर गया हो। वे अपने छात्रावास के रसोइये निजामुद्दीन के चेहरे के भाव को याद करते हैं जो उनके कमरे के अन्दर जाने से घबरा रहा था। उसने दबी जुबान से कहा— सर! वे कहते हैं कि पाकिस्तान बन गया है, लेकिन अलीगढ उसका भाग नही होगा।"[39] स्पष्ट है कि निजामुद्दीन की यह किकर्तव्यविभूढता केवल उसकी अपनी ही नही थी बल्कि उन तमाम मुसलमानो की थी, जो सोचते थे कि पाकिस्तान बनने पर गली एव मुहल्लो का भी विभाजन होगा।

तमाम साधारण मुसलमानो के दिमाग मे मुस्लिम लीग के प्रचारको द्वारा यह बात बैठा दी गयी थी कि जब पाकिस्तान का निर्माण होगा, तो उनका मुहल्ला पाकिस्तान का अग होगा। बनारस के बुनकर रहमत उल्ला असारी जिन्होने मुस्लिम लीग का विरोध किया था, के अनुसार बनारस की आम जनता कभी भी जिन्ना एव मुस्लिम लीग के सम्पर्क मे नही आयी। अधिकाशत उनका मन परिवर्तन अलीगढ विश्वविद्यालय के उन छात्रो द्वारा किया गया जो बनारस आते रहते थे तथा समय—समय पर मुस्लिम मुहल्लो के पाकिस्तान का भाग होने की बात कहते थे। वे कहते थे कि तब भारत और पाकिस्तान के बीच खुला गलियारा होगा, जहाँ लोग आसानी से आ जा सकेगे।[40] स्पष्ट है कि विभाजन लागू होने के बाद जो हकीकत सामने आयी उससे मुसलमानो का भ्रम टूटा जो कि विभाजन के पक्षधर नही थे, तथा विभाजन के बाद पाकिस्तान की क्या तस्वीर होगी उसको लेकर आशकाग्रस्त भी थे, फिर भी उनके मन मे यह बात भरी जाती रही कि विभाजन से उनको भी लाभ होगा, जो कि बाद मे मिथ्या साबित हुई।

यहाँ कुछ सरकारी कदमो की चर्चा भी समीचीन है जिससे विभाजन के बाद की प्रतिक्रिया को समझा जा सकता है। सरकार के सम्पत्ति सरक्षा विभाग द्वारा शहरी मुसलमानो की सम्पत्ति जब्त करने का प्रयास किया गया।

शरणार्थी सम्पत्ति अधिनियम के अन्तर्गत जो मुस्लिम पाकिस्तान चले गये थे उन्होने भारत मे सम्पत्ति का अधिकार खो दिया था। ऐसी स्थिति मे ऐसे समस्त मुस्लिम परिवार मुश्किल मे थे जो पलायन कर गये थे। सामान्यतया एक या दो ही सदस्य बेहतर भविष्य की खोज मे पाकिस्तान गये थे किन्तु यदि सम्पत्ति उसी व्यक्ति के नाम थी जो पाकिस्तान चला गया था तो यह स्थिति पूरे परिवार के लिये त्रासद थी। सम्पत्ति विभाग के लोग मुस्लिम क्षेत्रो मे जाकर पलायन कर गये लोगो की सूची बना रहे थे। नेतृत्व के अभाव मे मुस्लिम दिग्भ्रमित थे और अपनी जायदाद को बचाने मे असमर्थ थे। जिन अधिकारियो ने ऐसे मकानो को खाली कराया उनकी कई पीढियॉ इन मकानो मे रही। कई ऐसी घटनाओ मे सम्पत्ति तब बच सकी जब उन्होने अधिकारियो को घूस दी। जैसा कि नेहरू जी के मन्तव्य से भी पता चलता है — उन्हे तब अधिक दुख पहुॅचा जब यह पता चला कि स्वतन्त्रता सग्राम के दौर के उनके मित्रो को इसलिये कष्ट झेलना पड रहा था कि उनके सम्बन्धी पाकिस्तान चले गये थे।[41] नेहरू जी की भावनाओ का पता इससे भी चलता है जब उन्होने पुनर्वास मत्री मोहन लाल सक्सेना को 1949 मे पत्र लिखा था — "वास्तव मे उत्तर प्रदेश मेरे लिये विदेशी भूमि हो गयी है मैं इसमे उपयुक्त नही बैठता। उत्तर प्रदेश की काग्रेस जिससे मैं पैतीस वर्ष जुडा रहा, उसके कार्य अब चकित करते है। इसकी आवाज काग्रेस की आवाज नही रही जिसे मैं जानता हूॅ।[42] इससे स्पष्ट है कि विभाजन से उपजी परिस्थितियो ने लोगो के दिमाग मे परिवर्तन कर दिया था। यह इसलिये भी स्वाभाविक था कि लोग तुरन्त ही विभाजन की पीडा से गुजरे थे।

शरणार्थी सम्पत्ति अधिनियम के अन्तर्गत यदि कोई मुस्लिम पाकिस्तान चला गया तो उसका कोई सम्बन्धी न तो जमीन बेच सकता था और न ही उसके बदले ऋण ले सकता था। सितम्बर 1949 मे उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा ऐसे चालीस जिलो को चिह्नित किया गया था जहॉ कोई भी अचल सम्पत्ति स्थानान्तरित नही की जा सकती थी, जब तक कि जिलाधिकारी इसके लिये सहमति न दे।[43] इससे मुसलमानो के अन्दर असुरक्षा का भाव आया। यहॉ यह भी ध्यातव्य है कि पाकिस्तान मे हिन्दुओ एव सिखो का जीवन भी कठिन हो गया था।

इसी परिप्रेक्ष्य मे उर्दू के प्रति सरकारी नीति को भी देखा जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति तक उत्तर प्रदेश मे उर्दू हिन्दी के साथ सरकारी भाषा के रूप मे प्रयुक्त हो रही थी। 1951 मे हिन्दी राज्य की अकेली राजभाषा बनी लेकिन इसके भी पूर्व उर्दू को हटाने का प्रयास किया गया। नेशनल हेराल्ड

के अनुसार जनवरी 1948 मे हिन्दी की खोज प्रारम्भ हुई। फारसी से लिये गये कुछ शब्द जो सरकारी भाषा मे प्रयुक्त हो रहे थे अब उन्हे निकाला जाने लगा। इसके लिये कहा जा रहा था कि उर्दू अनुवादको को सचिवालय के अन्य विभागो मे भेजा जाय और बहुभाषी अनुवादको को पुराने उर्दू शब्दो का हिन्दी मे अनुवाद करने के लिये नियुक्त किया जाय।[44] अप्रैल 1948 मे सभी थानो मे प्रथम सूचना रिपोर्ट केवल हिन्दी मे लिखी जाने लगी। एक हजार लोग हिन्दी मे हेड कास्टेबिल पद पर कार्य करने के लिये प्रशिक्षित किये गये और बहुत से लोग इसलिये हटा दिये गये कि वे केवल उर्दू मे ही काम कर सकते थे।[45] इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि उत्तर प्रदेश के बहुत से शिक्षित मुसलमान जिन्होने उर्दू को अपनी मातृभाषा माना था और जिसने उन्हे सास्कृतिक एव धार्मिक एका मे बॉधा था, 1947 के बाद उसे अपने अस्तित्व के लिये सघर्ष करना पड रहा था।

उर्दू को न केवल सरकारी कार्यालयो एव अदालतो से ही हटाने का प्रयास हो रहा था बल्कि शैक्षिक क्षेत्र से भी हटाया जा रहा था और इसके लिये प्राथमिक स्तर को ही चुना गया। उत्तर प्रदेश विधान सभा मे विपक्ष के नेता जेड एच लारी ने सरकार का ध्यान 29 मई 1948 के गजट की ओर आकृष्ट किया जिसमे उर्दू को स्कूलो से निकाल दिया गया था। सूचना निदेशक के आदेश मे कहा गया था— निम्न पुस्तको का उर्दू अनुवाद अब जुलाई 1948 से नही होगा— बेसिक रीडर भाग एक, दो, तीन एव चार तथा बेसिक अकगणित भाग एक, दो, तीन एव चार।[46] साम्प्रदायिक सौहार्द कायम करने के लिये उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष पुरुषोत्तम दास टण्डन का मत था कि— "मुसलमानो को विदेशी सस्कृति और सभ्यता को रोकना चाहिये। उन्हे भारतीय सस्कृति अपनानी चाहिये। एक भाषा और एक सस्कृति एकता का मार्ग बताती है। उर्दू से विदेशी सस्कृति का एहसास होता है। हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो देश मे विभिन्न शक्तियो को एक कर सकती है।'[47] ऐसे ही विचार उत्तर प्रदेश सरकार के ससदीय सचिव चरण सिह के भी थे — फारस एव अन्य मुस्लिम देशो की भाषा, सस्कृति, वेशभूषा पर निर्भर रह कर मुसलमान भारत के लोगो से अलग प्रतीत होते हैं। उन्होने भारत के मुसलमानो को चीन के मुसलमानो से उदाहरण लेने की बात कही जो भाषा, सस्कृति यहॉ तक कि नाम भी अपने देश की भाषा के अनुरूप ही रखते है।[48]

इससे यह स्पष्ट होता है कि विभाजन के बाद कतिपय ऐसी स्थितियो का निर्माण हुआ जिसे हम तात्कालिक प्रतिक्रिया कह सकते है क्योकि बाद की स्थितियो मे साम्प्रदायिक सौहार्द एव समन्वय के लिये प्रयास सरकारी एव गैर

सरकारी दोनो ही स्तरो पर किया गया, लेकिन यह भी ध्यातव्य है कि जो विश्वास टूटा था उसको पूरी तरह कायम नही किया जा सका।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

देश—विभाजन भारतीय इतिहास का एक ऐसा क्षण है, जिसने न केवल तत्कालीन स्थितियो को गहराई तक प्रभावित किया बल्कि यह प्रभाव आज तक बना हुआ है। विभाजन की प्रक्रिया से उपजी तमाम परिस्थितियो की याद लोगो के जेहन मे घर गयी थी और आज भी बसी हुई है। यहाँ साहित्यिक स्रोतो के माध्यम से उन स्थितियो की तलाश की जायेगी जो विभाजन के बाद पैदा हुई। साहित्य की दृष्टि से इतिहास को देखने का प्रयास होगा इस आशय के साथ कि विभाजन लोगो को कैसे प्रभावित कर रहा था, उत्तेजित कर रहा था और प्रतिक्रिया मे किस हद तक लोग भावना मे बहे जा रहे थे। तत्कालीन साहित्य पर दृष्टिपात करे तो प्रतिक्रिया दोनो तरफ से हो रही थी चाहे वह हिसक रही हो या समन्वय एव सौहार्द स्थापना के लिए।

यहाँ सर्वप्रथम हिन्दू—उर्दू विवाद को विवेचित करने का प्रयास होगा क्योकि यह एक ऐसा मुद्दा था जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन के शुरुआती दौर को ही साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रभावित किया था। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण था कि यह आन्दोलन उत्तर प्रदेश मे बडी तीव्रता के साथ सचालित किया गया था। ध्यातव्य यह भी है कि इस आन्दोलन का केन्द्र पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रमुख शहर बनारस एव इलाहाबाद थे। साम्प्रदायिक स्थितियो के निर्माण मे इस आन्दोलन का बहुत बडा हिस्सा था। यही कारण था कि विभाजन के बाद भी यह प्रश्न लोगो को मथ रहा था। सरकारी तौर पर उठाये गये कदमो की चर्चा की जा चुकी है। यहाँ चर्चा का बिन्दु है साहित्यकारो की दृष्टि मे हिन्दी और उर्दू की क्या स्थिति थी और वे क्या चाहते थे। यहाँ 1948 मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति राहुल साकृत्यायन के भाषण का यह अश उल्लेखनीय है जिसमे हिन्दी—उर्दू विवाद की ओर सकेत किया है— "यह कुफ्र का फतवा आगे इतना बढा कि जो भी छँटी मूँछ और बढी दाढी से विहीन शब्द उर्दू कविता या साहित्य मे दिखलाई पडा उसे चुन—चुनकर रेल के डिब्बो से बाहर गिराया गया।[44] यहाँ राहुल जी ने उर्दू वालो द्वारा हिन्दी शब्दो के बहिष्कार की ओर सकेत किया है लेकिन जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह निहायत प्रतिक्रियात्मक तो है ही साथ ही उस समय की साम्प्रदायिक मारकाट की ओर भी इशारा करती है। जैसा कि हस के सम्पादक द्वारा टिप्पणी की जाती है —

राहुल जी की इस निर्ममता से वे लोग खुश होगे जो 'हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान का स्वप्न देखते है और जो लोग हिसाब लगाते रहते हैं कि अगर मुसलमानो ने इतनी स्त्रियो को मौत के घाट उतारा तो हम इतनो का खून बहायेगे। उन्होने अगर इतनो को गाडी के डिब्बो से बाहर फेका तो हम ।'[50]

राहुल जी का कथन और उस पर सपादक द्वारा की गयी टिप्पणी हिन्दू–उर्दू विवाद की तीव्रता का स्पष्ट निदर्शन करते है। लेकिन यदि वास्तव मे देखा जाय तो क्या दोनो भाषाओ के शब्दो का बहिष्कार सभव था जैसा कि इसी सपादकीय मे लिखा गया है – "भाषा साहित्य और सस्कृति के क्षेत्र मे भी क्या इस बदले की भावना को स्वीकार किया जायेगा। रेल के डिब्बो मे से जिस प्रकार हिन्दू मुसलमानो को और मुसलमान हिन्दुओ को बाहर फेक रह थे, उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र मे भी क्या हिन्दी वाले उर्दू के शब्दो को और उर्दू वाले हिन्दी के शब्दो को चुन–चुनकर फेकना शुरू करेगे ?" साथ ही खतरे की ओर सकेत भी किया गया है – "खतरा काल्पनिक नही वास्तविक है। प्रतिगामी शक्तियॉ दोनो ही ओर है– हिन्दुओ मे भी और मुसलमानो मे भी। इन शक्तियो के अस्तित्व से इनकार नही किया जा सकता, न ही उनके खतरे की ओर से ऑखे बन्द की जा सकती है।'[51] लेकिन यहॉ सम्पादक ने खुद स्पष्ट किया है कि राहुल जी ने उन मुसलमानो की निन्दा की है जिन्होने छॅटी मूॅछे और बढी दाढी से विहीन शब्दो को चुन–चुनकर गाडी के डिब्बे से फेका था। उन हिन्दुओ के पक्ष मे भी राहुल जी नही है जो तिलक और चोटियाधारी शब्दो से हिन्दी को भरना चाहते हैं।

निश्चित रूप से विवाद के बाद भी एक ऐसा सकेत है जिसमे रास्ता निकालने की गुजाइश है क्योकि दूसरी ओर उर्दू लेखको का दावा है कि– सिर्फ उर्दू की नज्मो अफसानो और मजामीन के इन्तखाब से पिछले नब्बे बरस की कौमी लडाई की पूरी तारीख मुरत्तब की जा सकती है।"[52] यद्यपि कि उन परिस्थितियो मे पूरी मुस्लिम कौम को ही विश्वासघाती समझा जा रहा था लेकिन पूर्व मे किये गये उनके बलिदान को नकारा भी नही जा सकता। इसीलिये कैफी आजमी बडे विश्वास के साथ कहते हैं–

हमने पूजा है तुझे, हमने सॅवारा है तुझे

हर मिटे नक्श को चमकाके उभारा है तुझे

अपनी गर्दन का लहू देके निखारा है तुझे

दार पर चढके कई बार पुकारा है तुझे।

इस विश्वास के पीछे कवि को कौम के बलिदानो का एहसास भी है तभी बडे विश्वास के साथ कहते है – तू जिस अजाम पे मगरूर है भी, शाद भी है / उसका आगाज हमी थे तुझे कुछ याद भी है।[53] कवि का यह कथन इस बात का भी आग्रह है कि इस विषय पर विचार करते समय सभी स्थितियो पर दृष्टिपात किया जाय।

हिन्दी–उर्दू को लेकर चल रहे विवाद मे साम्प्रदायिकता का प्रश्न अन्तर्निहित था। जैसा कि राम विलास शर्मा उल्लेख करते है – "अभी हाल मे ही नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने रविशकर शुक्ल की पुस्तक 'हिन्दी वालो सावधान !' प्रकाशित की है, इसमे पचीसो ऐसे शब्दो की सूचना दी गयी है जो रोज के व्यवहार मे आते है, लेकिन जिनसे हिन्दी को शुद्ध करने का तकाजा किया गया है। श्री रविशकर प्रचलित भाषा को कसौटी नही मानते। उनकी कसौटी हिन्दुत्व है।'[54] शर्मा जी ने इस बात का विरोध किया, क्योकि उनका मानना था कि – "जनता शब्दो को हिन्दू मुसलमान समझकर नही अपनाती, जो उसकी अपनी जातीयता के निकट होते हैं, उन्ही को वह अपनाती है और अक्सर उन्हे अपने रग मे रग लेती है।"[55] लेकिन राहुल साकृत्यायन का मत था कि – "अपनी मातृभाषा और उसके साहित्य के पढने के साथ–साथ क्या दूसरी भाषा का बोझ ज्यादा से ज्यादा लादना व्यवहार एव बुद्धिमानी की बात है।"[56] इस पर राम विलास शर्मा का मत है कि– राहुल जी ने अपने भाषण मे हिन्दी और उर्दू के भेद को हिन्दू धर्म और इस्लाम का भेद बना दिया है। इसीलिये उन्होने 'इस्लाम को भारतीय बनाना चाहिये'– यह मॉग पेश की है।"[57] शर्मा का यह भी मत है कि– "हिन्दू धर्म को शुद्ध भारतीय कहने वाले और इस्लाम को भारत ही नही विश्वव्यापी बताने वाले कुछ मनचले सज्जन हिन्दी और उर्दू को अपने–अपने धर्म की ध्वजा बनाकर हिन्दू–मुसलमान, मजदूर–किसान मे भी फूट डालने की कोशिश कर रहे है।"[58] इससे यह स्पष्ट होता है कि यदि कुछ हिन्दू साहित्यकार उर्दू को लेकर पूर्वाग्रह ग्रस्त थे, तो ऐसे भी लोग थे जो उर्दू की वकालत भी कर रहे थे।

लेकिन यह तथ्यत सही है कि साम्प्रदायिक भावनाओ ने लोगो के मन मे इस तरह घर कर लिया था कि जो उर्दू फारसी हिन्दू भी पढते थे अब उससे लोगो का दुराव होने लगा था। जैसा कि अगस्त 1947 के हस के सम्पादकीय से पता चलता है – "मेरी पीढी आते–आते 'उर्दू मुसलमानो की भाषा है' यह भाव इतना काफी प्रबल हो गया था कि मेरी शिक्षा–दीक्षा हिन्दी मे हुई। उर्दू–फारसी हमारे घर मे बुरी तरह घर कर गयी थी वह जाती तो भला कैसे, मगर हिन्दी के प्रति पक्षपात का भाव हमारे यहॉ भी आने लगा था,

इसमे सन्देह नही। [59] यह स्वीकारोक्ति उन अमृत राय की है जिनके पिता मुशी प्रेमचन्द का लेखन कार्य ही उर्दू से शुरू हुआ था। इससे सहज अन्दाजा लगाया जा सकता है कि उर्दू के प्रति हिन्दुओ का क्या भाव था। इतना ही नही स्कूलो की स्थिति के बारे मे भी वे सकेत करते हैं — "आप किसी स्कूल की उर्दू कक्षाओ के पिछले कई साल के रजिस्टर निकलवा कर देखिये आप पायेगे कि उर्दू पढने वाले हिन्दू लडको की सख्या प्रतिवर्ष कम होती जा रही है, और अभी उस रोज एक स्थानीय हाईस्कूल के एक अध्यापक मित्र कह रहे थे कि अब स्वय लडको की ओर से यह आन्दोलन उठाया जा रहा है कि हम सेकेन्ड फार्म के रूप मे भी उर्दू नही पढना चाहते।"[60] इससे स्थितियो का सहज आकलन किया जा सकता है।

इसी तरह की स्थितियो की चर्चा इलाहाबाद के सैयद अकील रिजवी भी करते है और साथ ही सरकारी दृष्टिकोण के प्रति भी सकेत करते हैं— उस साल अजब इत्तेफाक हुआ कि उर्दू के एम ए क्लास मे कोई दाखला नही हुआ। उर्दू पढने वाले सब पाकिस्तान चले जा रहे थे और जो बच रहे थे वह यह समझकर उर्दू से कनाराकश हो गये कि अब उर्दू का क्या मुस्तकबिल रह गया है। पडित पन्त और सम्पूरनानन्द (सम्पूर्णानन्द) की हुकूमतो ने उर्दू के तमाम रास्ते उत्तर प्रदेश मे बन्द कर दिये थे, जिससे उर्दू तालीम—ओ—तअल्लुम (शिक्षा और शिक्षण) को काफी धक्का पहुँचा था। उर्दू पढने वालो और पढाने वालो दोनो का तालीमी समाज मे कोई दर खुर (हैसियत) न रह गया था।"[61] इतना ही नही रिजवी ने मुसलमान होने के नाते हो रहे भेदभाव की भी चर्चा बडे बेबाक ढग से की है — "मुल्क के हालात ऐसे बदल गये थे, तास्सुब का ऐसा जहेर फैल चुका था कि अगर मेरा फर्स्ट डिवीजन भी अग्रेजी मे आता तब भी मुझे अग्रेजी विभाग मे जगह न मिलती। इलाहाबाद युनिवर्सिटी इस मामले मे सख्त मुतास्सिब युनिवर्सिटी है और हमेशा से रही है फिर अग्रेजी का शोबा और मुसलमान ? यह बात कहते ही लोग हॅसने लगते थे। मुसलमानो के लिये सिर्फ अरबी, फारसी और उर्दू ही मखसूस कर दिये गये है। हॉ तारीख के शोबे (इतिहास विभाग) मे एक मुसलमान जरूर हमेशा रखा गया। सबब इसका यह कि तारीख और खुसूसन अहदे वुस्ता (मध्यकालीन इतिहास) यानी मुसलमानो के दौर की तारीख के तकरीबन तमाम अस्लमल (Original Text) फारसी मे है।"[62] इससे स्पष्ट होता है कि मुसलमानो के प्रति भेदभाव की भावना व्याप्त हो रही थी।

इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है कि उर्दू साहित्यकारो का रुख सकारात्मक रहा— 'उर्दू के प्रगतिशील लेखको की कान्फ्रेन्स मे उन लोगो का विरोध किया

गया जो भौगोलिक विभाजन की दुहाई देकर सास्कृतिक विभाजन का राग अलापते है उन्होने सुझाव रखा कि उर्दू के साहित्य को नागरी लिपि मे प्रकाशित किया जाय। ऐसा करने से यह हौवा अपने आप गायब हो जायेगा जिसे प्रतिगामी शक्तियो ने उर्दू के विरुद्ध खडा किया है। इस प्रकार फिराक के शब्दो मे, 'एक ही पखवारे मे उर्दू को एक करोड से अधिक नये समर्थक मिल जायेगे।'[63] उर्दू कान्फ्रेन्स के इस प्रस्ताव के पीछे उर्दू के प्रमुख साहित्यकारो जोश, सागर, कृष्णचन्द्र कैफी आजमी, मजाज, सरदार जाफरी आदि की भावना काम कर रही थी – "जो उन्होने हिन्दी के प्रगतिशील लेखको को लिखे एक पत्र मे व्यक्त की थी। हम हिन्दी और उर्दू के तरक्की पसन्द अदीब जो इत्तेहाद के अलमबर्दार है और 'हिन्दी और उर्दू को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की तरह अलग–अलग करके अपने जख्मो पर नमक नही छिडकना चाहते। हम अपनी तहजीब तमद्दन और जुबान को तक्सीम नही कर सकते। अगर मुल्क की तकसीम के साथ–साथ हमारी जुबान और तहजीब भी तकसीम हो गयी तो हमारे दुख बढ जायेगे और हमारे अदब तहजीब और जिन्दगी को बे–इन्तिहा नुकसान पहुँचेगा।[64]

हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकारो की ओर से भी सद्भाव का प्रयास हो रहा था – जिसे बोलचाल की भाषा को कवि और लेखक साहित्य मे सॅवारते है, उस बुनियादी भाषा को हिन्दू–मुस्लिम जनता ने मिलजुलकर बनाया है। हमारी सस्कृति की तरह भाषा भी धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर नही बनी बल्कि सभी सम्प्रदाय और धर्मो के लोगो ने मिलजुलकर उसे बनाया है। इसीलिये रामविलास शर्मा का मत है – "आज तो फारसी और सस्कृत को हिन्दू धर्म और इस्लाम से जोड दिया गया है साहित्य का वह अग जो आम जनता की सम्पत्ति बन गया है इस छूत–पाक को स्वीकार नही करता दोनो ही लिपियो मे ऐसी सैकडो कहानियॉ और गीत लिखे गये है जो हिन्दू–मुस्लिम जनता की मिली जुली सम्पत्ति हैं। '[65] इसीलिये हस के सपादक का भी मत है – ' सरकारी फरमानो के भुलावे मे हमे नही पडना है हिन्दी और उर्दू लेखको को अभी बहुत दूर तक मिलकर चलना है और अपने सयुक्त मोर्चे को कायम रखना है– उसमे किसी भी प्रकार की दरार नही पडने देनी है।[66] इससे यह स्पष्ट होता है कि विभाजन के बाद हिन्दी–उर्दू को लेकर कुछ साहित्यकारो एव सरकारी नीतियो मे पूर्वाग्रह था किन्तु ऐसे भी लोग थे जो सद्भाव कायम करने की कोशिश कर रहे थे क्योकि वास्तविकता यही थी कि दोनो ही भाषाओ के शब्द काफी व्यापक रूप से आपस मे प्रयुक्त होते थे।

विभाजन के समय लोगो की क्या मन स्थिति थी, उसमे यह देखने को मिलता है कि पहले तो सब कुछ सामान्य था लोग आसानी से यहॉ से जा रहे थे किन्तु बाद मे स्थिति भयावह हो गयी। इन्तेकाले मकानी (स्थानान्तरण) शुरू हो चुका था। बहुत से लोग जो पहले से जेहन बना चुके थे कि पाकिस्तान चले जायेगे वह पहले ही हफ्ते मे पाकिस्तान रवाना हो गये न अभी तक इलाहाबाद जैसे शहर मे या यू पी के किसी शहर मे पजाब की मारकाट की खबरे आ रही थी। इसके मानी यह भी हुआ कि ऐन तकसीम के वक्त अवाम के जेहन मे और शायद हुकूमत के जेहन मे भी किसी भी तरह के खलफेशार का तसव्वुर नही था, शायद इसलिये भी कि पाकिस्तान ही निजाई मसला था और जब पाकिस्तान बन गया तो अब सब लोग अमन चैन से रहेगे। मेरा ख्याल है कि माहौल मे तनाव उस वक्त पैदा हुआ जब पजाब से लुटे–पिटे काफिले हिन्दुस्तान आना शुरू हुये और हिन्दुस्तान खुसूसन पजाब की सरहद पार करते हुये महाजरीन और शरणार्थियो की गाडियो पर हमले शुरू हुये।''[67] इससे यह पता चलता है कि देश–विभाजन को लोग प्रक्रिया के रूप मे स्वीकार कर रहे थे क्योकि जो मॉग की जा रही थी वह पूरी हो गयी थी लेकिन जो निहित स्वार्थी तत्व थे उन्होने माहौल को तनावपूर्ण बनाना शुरू किया क्योकि ऐसी ही स्थिति मे उनके स्वार्थो की पूर्ति होती और परिणामस्वरूप धीरे–धीरे हिसा का दौर शुरू हो गया।

धीरे–धीरे बढते तनाव की प्रक्रिया पर अकील रिजवी ने बडी सूक्ष्म दृष्टि डाली है। इलाहाबाद से भी लोगो का स्थानान्तरण सामान्य ढग से ही हो रहा था किन्तु बाद मे स्टेशन पर जाने वालो की तलाशी ली जाने लगी पहले यह कार्य काग्रेस के स्वयंसेवी कर रहे थे किन्तु जब तलाशी के नाम पर स्थिति यह हो गयी कि –'वालटियरो ने उसे भी छीनना शुरू किया कि हमारे मुल्क का आटा, दाल, चावल पाकिस्तान क्यूँ लिये जा रहे हो।''[68] तो इस पर पुलिस की व्यवस्था कर दी गयी लेकिन अब – ''पुलिस के सिपाही जाने वालो के सामान मे अपने कारतूस रख देते और फिर जाने वालो को पकड कर उनसे रूपये वसूल करते रास्ते मे गाडियो मे झगडे और झडपे होने लगी हर ट्रेन के आखिर मे दो तीन डिब्बे अलग से लगा दिये जाते जिस पर लिखा होता 'सिर्फ मुसलमानो के लिये।' इस स्थिति पर इलाहाबाद के शायर मुजफ्फर शाहजहॉ पूरी ने एक नज्म (कविता) 'शऊरे आजादी' लिखी जिसमे एक पक्ति थी–

अब रेल भी हिन्दू होती है, डिब्बे भी मुसलमॉ होते हैं
ए दोस्त अभी आराम न कर है खाम शऊरे आजादी।[69]

इससे एक बात यह स्पष्ट होती है कि पहले तो लोगो ने विभाजन को स्वीकार कर लिया था लेकिन जैसे–जैसे बाहर से खबरे आ रही थी लोगो का रुख प्रतिक्रियावादी होता जा रहा था।

यहॉ एक तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि सारे के सारे मुसलमान न तो विभाजन के पक्ष मे थे और न ही विभाजन के बाद सभी पाकिस्तान जाने की सोच रहे थे, क्योकि भारतीय नेताओ ने स्पष्ट कर दिया था कि देश के बॅटवारे के आधार रूप मे धर्म को मुद्दा बनाया गया है लेकिन भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य रहेगा और किसी को भी उसकी इच्छा के विपरीत पाकिस्तान जाने के लिये नही कहा जायेगा। बावजूद इसके मुसलमानो का एक बडा हिस्सा इस असमजश मे था कि पाकिस्तान जॉय या हिन्दुस्तान ही रहे। इस तरह की भावनाओ की अभिव्यक्ति कैफी आजमी की कविताओ से मिलती है– इक तरफ जोर है हुकूमत है/माल है मिल्क है, रियासत है/ इक तरफ बलबले हैं मेहनत है/शोर है, जोश है, बगाबत है/ मेरे अल्लाह मै किधर जाऊॅ जब उधर की हवाये आती है/ दिल के हर तार को बजाती हैं/इस तरफ जब निगाहे जाती है/ बिजलियॉ सर मे कडकडाती है/मेरे अल्लाह मैं किधर जाऊॅ। उनको रहम का वोट हासिल है/इनमे फितरत का जोर शामिल है/ बीच मे हूॅ अजीब मुश्किल है/इक तरफ ऑख इक तरफ दिल है/ मेरे अल्लाह मैं किधर जाऊॅ।[70]

इसी तरह की असमजश की स्थिति कहानी 'पॉच दिन पहले' मे भी मिलती है। इसमे एक मुस्लिम लडके शौकत की स्थिति के माध्यम से पूरे परिवेश को मनोवैज्ञानिक ढग से देखने की कोशिश की गयी है– 'दुनिया के आगे हिन्दोस्तान और पाकिस्तान का नगा हाल खुलकर दिखायी देने लगा शौकत ने उॅगली पर गिना– बारह–तेरह– चौदह, पन्द्रह, सोलह, ठीक पॉच दिन बाद यह नगरी छूट जायगी। शौकत ने सामने बनी मसजिद की ओर देखा, जो मुसलमानो की तरह अपना भी आत्म गौरव खोये लुटी सी खडी थी। हफ्तो से, जब से पाकिस्तान बना, साम्प्रदायिक झगडे चले, इमाम ने अजान लगानी बन्द कर दी, खुदा को पुकारना जैसे मौत को बुलावा देना हो। उसे लगा कोई उसे भी बुला रहा है आ जा शौकत, भाग आ, चला आ !' यह आवाज पाकिस्तान से आ रही है। उसने अपने दोनो कानो मे उॅगलियॉ दे ली। मगर आवाज आती ही जा रही है। हजारो मुसलमान, रावी के उस पार खडे उसे बुला रहे हैं – आ जा शौकत, भाग आ । सत्रह तारीख को यहॉ से चल पडेगे। ये झण्डे, ये दुकाने, यह सब कुछ यहॉ ही रह जायेगा।[71]

यह स्थिति केवल मुसलमानो के साथ ही नही थी बल्कि वतन छोडने का दर्द हिन्दुओ को भी उतना ही था। जैसा कि कहानी 'मॉ और माटी नही छोडेगे । मे मिलता है इसमे पूर्वी पाकिस्तान के हिन्दू परिवार के अन्तर्द्वन्द का चित्रण है जिसमे अन्तत परिवार का मुखिया अपना देश न छोडने का निर्णय करता है, यद्यपि परिवार के अन्य सदस्य कुछ समय के लिये कलकत्ता चले गये। 'आखिर उसने पूछा– तो अब आपकी क्या राय है ? धीरेन बाबू ने कहा – मैं अपनी राय दे चुका हूँ। अब तुम जैसा ठीक समझो करो । कायर की तरह भाग जाना आसान है, पर मनुष्य की तरह साहस और सयम के साथ डटे रहना जीवट वालो का ही काम है। तुममे साहस नही, जीवन नही तो भाग सकते हो। तुम्हारी रक्षा भगवान भी नही कर सकता । आपको मालूम है, रास्ते चलते गुण्डे ललकार–ललकार कर कहते हैं कि या तो उन्हे *(मॉ बहनो)* सीधी तौर से हमारे हवाले कर दो, वर्ना दो दिन बाद मुसलमान बनना ही पडेगा। अब तुम लोग जाना ही चाहते हो, तो जाओ। मातृभूमि को छोडकर कायर की तरह मै भागूँगा नही।[72]

विभाजन से उपजी हिसक गतिविधियो पर काफी लिखा गया। यहॉ साहित्यकारो की कलम से दर्ज किये गये इतिहास के उस वीभत्स पहलू पर दृष्टि डाली जायेगी। यह एक ऐसा मजर था जो लोगो को बुरी तरह प्रतिक्रियावादी बना रहा था। इनमे शामिल बलवाइयो एव दगाइयो पर साम्प्रदायिक जुनून इतना हावी था कि वे हैवानियत के साक्षात प्रतिरूप प्रतीत होते थे। ऐतिहासिक दस्तावेजो एव ऑकडो मे सरकारी भाषा मे घटना की आकिक जानकारी दी जाती है। किन्तु जब साहित्यिक प्रमाण से इनकी पुष्टि होती है तो पूरे परिदृश्य की मानसिकता एव भावना की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है।

कहानी 'पेशावर एक्सप्रेस मे इस पूरे परिदृश्य को पूरी सवेदना के साथ रूपायित किया गया है – जब मै पेशावर से चली तो मैने एकाएक इत्मीनान की सॉस ली। मेरे डिब्बो मे ज्यादातर हिन्दू लोग बैठे थे और पाकिस्तान मे अपनी जान और माल को सुरक्षित न पाकर हिन्दुस्तान का रुख कर रहे थे लम्बे चौडे बलोची सिपाही इन हिन्दू– पठानो और उनके बीबी बच्चो की तरफ मुस्करा–मुस्कराकर देखते थे, जो भय के कारण उस धरती से भागे जा रहे थे, जहॉ वह हजारो साल से रहते चले आये थे आज यह मातृभूमि सरासर बेगाना हो गयी थी और उसने अपने मेहरबान सीने के किवाड उन पर बन्द कर लिये थे। तक्षशिला के स्टेशन पर मुझे बहुत अरसे तक खडा रहना पडा शरणार्थियो का जत्था आ रहा था शायद। गॉव के

मुसलमान लोग उसे अपनी हिफाजत मे ला रहे थे। चुनॉचे हर एक मुसलमान ने एक काफिर की लाश अपने कन्धे पर उठा रखी थी।[73] इससे सहज अन्दाजा लगाया जा सकता है कि बर्बरता किस सीमा तक पहुँच गयी थी। इतना ही नही — मजमे के सरगने ने हिन्दू शरणार्थियो से कहा कि दो सौ आदमियो के चले जाने से उनके गॉव वीरान हो जायेगे। इसलिये वह गाडी मे दो सौ आदमी उतारकर अपने गॉव ले जायेगे।'' इन उतारे हुये यात्रियो का भी वही हश्र हुआ — दो सौ जिन्दा लाशे, चेहरे उतरे हुये सब मर गये। अल्लाहो अकबर ! फर्श खून से लाल था।[74]

यहॉ यह ध्यातव्य है कि इस स्थानान्तरण की प्रक्रिया मे सुरक्षा के लिये जो सिपाही तैनात होते थे उनका भी रुख साम्प्रदायिक था और वे शरणार्थियो की सुरक्षा के बदले दगाइयो के साथ हो जाते थे— लालमूसा के करीब लाशो से इतनी घृणित सडॉध निकलने लगी कि बलोची सिपाही उन्हे बाहर फेकने को मजबूर हो गये थोडी देर मे सब लाशे एक—एक हमराही के साथ बाहर फेक दी गयी।[75] इसी तरह की स्थिति भारत से पाकिस्तान जाने वाले शरणार्थियो की थी — ''मुस्लिम मुसाफिरो को चलती गाडी मे डिब्बो से फेक दिया जाता।''[76] यही नही सरकार का रुख भी इस ओर से नकारात्मक ही था — 'यू.पी मे उस वक्त प गोविन्द वल्लभ पन्त की हुकूमत थी वह इन वाकयात की रोकथाम की कोई फिक्र नही करते थे।[77]

इस हादसे का एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि महिलाओ पर किया गया अत्याचार नितान्त अमानुषिक था, जो बर्बर युग की याद दिलाता है। इसके पीछे सभवत महिलाओ को लेकर तमाम पूर्वाग्रह भी काम कर रहे थे कि इनकी अस्मिता एव सम्मान लूट लेने पर पूरी जाति के ऊपर धब्बा लगेगा ही साथ ही पीढियो तक इसकी छाया प्रभावित करेगी — 'बुर्कापोश औरतो ने शोर मचाना शुरू किया। हम हिन्दू है। हम सिख हैं। हमे जबरदस्ती लिये जा रहे है' मुसलमान नौजवान हिन्दू औरतो को घसीट कर जगल मे ले गये और मै मुँह छिपाकर वहॉ से भागी।' किन्तु आगे की स्थिति और भी क्रूरतम हैवानियत की ओर सकेत करती है — 'चन्द मिनटो मे हुजूम स्टेशन पर आ गया आगे—आगे देहाती नाचते और गाते आ रहे थे और उनके पीछे नगी औरतो का हुजूम था। मादरजाद नगी औरते। बूढी, नौजवान, बच्चियॉ, दादियॉ और पोतियॉ, मॉये और बहुये और बेटियॉ, क्वारियॉ और गर्भवती स्त्रियॉ नाचते और गाते हुये आदमियो के जत्थे मे थी। औरते हिन्दू और सिख थी और मर्द मुसलमान। यह चित्रण पाशविकता को तो दर्शाता ही है लेकिन जब गाडी मे एक बच्चा एक बूढी औरत से पूछता है — मॉ तुम नहा के आयी हो ? और

उत्तर मे दादी ने अपने ऑसुओ को रोकते हुये कहा, हॉ नन्हे, आज मुझे वतन के बेटो ने नहलाया है। [78] तो पूरे परिदृश्य को सवेदनशील बना देता है, इस साक्ष्य के साथ कि लोगो के अन्दर कितनी सवेदनशून्यता पैदा हो गयी थी।

यह दृश्य ऐसा नही था कि केवल मुस्लिम क्षेत्र मे ही देखने को मिल रहा था, कमोवेश वही स्थिति इधर भी थी। ध्यान देने की बात यह है कि इसमे वे लोग भी सम्मिलित थे जो ऐसी ही स्थितियो से गुजर कर आये थे– 'कुछ खास जोशीले शरणार्थी नौजवानो के एक गिरोह ने आज शिकार किया।

बन्नो ने देखा चार पॉच आदमियो ने एक नौजवान लडकी को जमीन पर दाब रखा है, लडकी चित लेटी है या लिटाई हुई है। उसके तन पर एक भी कपडा नही है। दो तीन जवान उसके हाथ पॉव कसे हुये है और वह मादरजाद नगी लडकी छटपटा रही है।' लेकिन यहॉ गौर करने की बात यह है कि इसी कहानी की मुख्य पात्र बन्नो जो स्वय पाकिस्तान मे इसी स्थिति से गुजर चुकी होती है, इस पूरे दृश्य को देखकर पहले तो 'बन्नो के भीतर बैठे हुये पशु की आत्मा को गभीर सतोष मिला, इसे ऐसे ही चीर डालना चाहिए इसी का खुदा उन जानवरो का भी खुदा है।' लेकिन अगले ही पल वह निर्णय ले लेती है – 'बन्नो ने बिजली की तेजी से दौडकर उस लडकी के पेट मे खजर भोक दिया था और वही खजर अपने सीने मे चुभा लिया था। उस मुसलमान लडकी को खजर बहुत गहरा लगा था और वह फौरन मर गयी। बन्नो को हल्का घाव लगा था वह खुद नही मरी तो उसके उदास चेहरे पर उदासी का एक और गहरा लेप चढ गया।''[79] इससे यह स्पष्ट होता है कि ऐसे पाशविक कुकृत्य दोनो ही ओर से हो रहे थे लेकिन जो स्वय इस यन्त्रणा के दौर से गुजरे हुये थे, वे इसे रोकना भी चाहते थे।

दोनो ही तरफ के इन्सान (शायद) जो इस प्रकार की असामाजिक गतिविधियो मे लगे थे, उनकी दृष्टि मे उनका यह कार्य कौम और अपने धर्म की सेवा थी– 'उनका खून भी खून है पानी नही, उन्हे बदला लेने आता है, वह अपनी जिल्लत का बदला लेगे अपने धर्म की किसी लडकी की लुटी हुई अस्मत का बदला वह दुश्मन की लडकी की अस्मत लूटकर चुकायेगे।
पास के एक गॉव से पॉच छ नौजवान एक लडकी को उठा लाये थे

उसकी अस्मत लूटकर न सिर्फ अपनी वहशत को खुराक पहुँचा रहे थे बल्कि उसके साथ ही अपने कौम की खिदमत के बोझ से भी दबे जा रहे थे। [80] धार्मिक भावना का रूप यह भी था – ''सत श्री अकाल ! और हिन्दू धर्म की जय ! के नारो की गूँज से जगल कॉप उठा और मुसलमान किसान घेर लिये गये' तो दूसरी ओर के दगाइयो के भीतर भी मजहब का जज्बा था– 'लाइन लगाओ काफिरो। [81]

इन दगो से आर्थिक पक्ष बुरी तरह प्रभावित हुआ इसका भी चित्रण तत्कालीन साहित्य मे मिलता है— शहर के बहुत से मुसलमान जो आजिमे पाकिस्तान (पाकिस्तान जाने को तैयार) थे, सडको पर लाकर अपना सारा सामान जमा कर देते और उसे ठठेरी औने पौने खरीद लेते खास तौर पर तॉबे पीतल के बरतन"[82] तो पाकिस्तान से आये शरणार्थियो की आर्थिक दशा कुछ ऐसी थी – "टीन के बडे बक्स, मॅझोले बक्स, छोटे बक्स, खाटो के पाये, पाटियॉ, सुतली या बाध सब अलग–अलग। इसी गिरस्ती से घिरे बॅधे वे इस नयी दुनिया मे अपने लिये जगह बना रहे थे बच्चे धूप मे सने कुछ सहमे–सहमे से खेल रहे थे। लोहता की खाक का मिलान हजारा की खाक से कर रहे थे।"[83]

इस साम्प्रदायिक हिसा का मर्मान्तक परिणाम महात्मा गाधी की हत्या के रूप मे आया जब एक हिन्दू सम्प्रदायवादी ने उनकी हत्या कर दी। साहित्यकारो ने इस पर लिखते हुये साम्प्रदायिकता पर कडा प्रहार किया। 'गोडसे के नाम खुली चिट्ठी' मे अमृत राय इस पर व्यगात्मक प्रहार करते है – "हिन्दुओ की रगो मे खून नही पानी बहता है, जो लाखो की तादात मे मौत के घाट उतारे जाकर, लाखो बहू बेटियो की इज्जत गवॉकर अपनी ऑखो के आगे मुसलमान गुण्डो के हाथो, उनका सतीत्व लुटता देखकर वे इस खूसट बुड्ढे की बात सुनते हैं— पजाब के हिन्दुओ और सिखो की बरबादी का बदला गॉधी जी से लेकर आपने दिखा दिया कि भारत अभी भी भौगोलिक और ऐतिहासिक और सास्कृतिक दृष्टि से एक है हिन्दुओ और मुसलमानो को मिलकर रहना चाहिए साठ पर ही अक्ल सठिया जाती है, बुड्ढा तो अब अस्सी का था हिन्दुस्तान हिन्दुओ का है। हम हिन्दुस्तान मे हिन्दू राज बनायेगे।"[84] गोडसे के बहाने किया गया यह व्यग्य उन साम्प्रदायिक शक्तियो की मानसिकता को उजागर करता है जिनका कि देश के विभाजन एव साम्प्रदायिकता के विकास मे महत्वपूर्ण हाथ रहा था।

इलाहाबाद के प्रख्यात शायर वामिक अहमद मुजतबा ने गाधी के प्रति लिखी अपनी कविता 'यह किसका खून बह गया मे' गाधी को इस तरह याद किया कि जिस सद्भावना एव सौहार्द की स्थापना के लिये उन्होने जीवन भर कार्य किया आखिर उसके कारण ही उनकी हत्या हो गयी— तमाम उम्र दर्से अमनो, आश्ती दिया किया/तमाम उम्र जो इसी उम्मीद पर जिया किया/कि एक दिन जरूर सारे तफरिके मिटायेगा/फसाद का यह खोखला तिलिस्म टूट जायेगा/वही बुजुर्ग खानदान/वही हमारा पासवॉ/हमी से आज छुट गया/सोहाग मादरेवतन का अपने हाथो लुट गया।[85] कमाल अहमद सिद्दीकी

ने इस तरह याद किया कि— एक हृदय क्रान्ति की जन्मभूमि/प्रेम का मन्दिर भी था/ मौत की अधियारियो मे सो गया/और खूनी इन्कलाब/ अपनी निर्दयता मे खुद ही खो गया।[86] इन दोनो ही कविताओ को तत्कालीन साम्प्रदायिक हिसक स्थितियो को गाधी जी की हत्या के लिये जिम्मेदार ठहराया गया है।

इस पूरे परिवेश मे हिसक घटनाओ का ही बोलबाला था किन्तु ऐसा नही था कि दोनो ओर की पूरी जनसख्या ही इस प्रक्रिया मे शामिल थी। यद्यपि कि एक बडा हिस्सा तटस्थ था किन्तु ऐसे भी लोग थे जो माहौल को शान्त करने की कोशिश मे लगे थे। कहानी मॉ और माटी नही छोडेगे' के नायक के प्रयास से इस स्थिति मे इस प्रकार बदलाव आता है— 'इस्लाम जोर जबरदस्ती और गुडेपन का नाम नही है। सच्चा मुसलमान कभी किसी कमजोर और बेकसूर पर हमला नही करेगा, उसे लूटे मारेगा नही इसी तरह सच्चा हिन्दू भी कभी ऐसा नही करेगा। पर आज तो दोनो मजहब के नाम पर हैवान से भी बदतर हो गये हैं।"[87] इसके बाद पूरा परिदृश्य ही बदल जाता है और जुलूस निकलता है— हिन्दू मुस्लिम नही लडेगे। मॉ और माटी नही छोडेगे। इसी तरह कहानी 'बदला' का शरणार्थी सिख कहता है— 'मेरा मकसद तो इतना है कि चाहे हिन्दू हो चाहे सिख हो, चाहे मुसलमान हो, जो मैने देखा है वह किसी को न देखना पडे और मरने से पहले मेरे घर के लोगो की जो गति हुई, वह परमात्मा न करे, किसी की बहू—बेटियो को देखनी पडे।' [88]

इसी प्रकार 1947 के हस के सम्पादकीय[89] मे व्यापक रूप से उन स्थितियो की चर्चा की गयी है जिससे साम्प्रदायिकता फली फूली और इसके साथ ही सयुक्त सस्कृति की बात करते हुये ऐसे तत्वो से सावधान रहने का सकेत भी किया गया है। सौहार्द स्थापित करने का प्रयास इलाहाबाद मे भी दिखायी पडता है — "1947 मे जब हर तरफ मारकाट हो रही थी, इलाहाबाद मे हर जगह एक तनाव की सूरत थी उसी वक्त मुहर्रम आ पडा। इलाहाबाद के मुसलमानो ने हालात को देखते हुये यह तय किया कि मुर्हरम नही उठायेगे आखिर जब सातवी मुहर्रम आयी तो कुछ लोगो ने जुलूस का दुलदुल निकाला लोकनाथ पर कुल छ सात शिया मुसलमान रह गये, दुलदुल था और एक अलम कि लोकनाथ के अन्दर से चन्द हिन्दू हजरात निकले और आकर इस छोटे से जुलूस मे शामिल हो गये और कोतवाली तक सब साथ—साथ रहे।' [90] इससे स्पष्ट होता है कि यदि कुछ लोग विद्वेष फैला रहे थे, साम्प्रदायिक हिसा की आग को ईंधन दे रहे थे तो ऐसे भी लोग थे और ऐसी भी भावनाये थी जो इस स्थिति से निपटने का सकारात्मक प्रयास कर

रही थी।

यहॉ कुछ साहित्यकारो द्वारा इस पूरे वाकयात पर की गयी टिप्पणियो को उद्धृत करना समीचीन है। प्रख्यात शायर साहिर लुधियानवी तब इलाहाबाद मे ही रहते थे लेकिन उन्होने लाहौर के एक मुशायरे मे यह शेर कहा था—

चलो वह कुफ्र के घर से सलामत आ गये लेकिन
खुदा की मुमलेकत मे सोखता जानो पर क्या गुजरी।[91]

-x--x--x--x-

मेरा इल्हाद तो खैर एक लानत था सो अब भी है,
मगर इस आलम ए वहशत मे ईमानो पे क्या गुजरी।[92]

इन पक्तियो मे बिना किसी भेदभाव के जो टिप्पणी की गयी है वह पूरे वातावरण पर है। इसी प्रकार अज्ञेय की कविता शरणार्थी की पक्तियॉ भी पूरे परिवेश के हालात को बयान करती है— वैर की परनालियो से हॅस—हॅसके/हमने सीची जो राजनीति की रेती/ आज उसमे बह रही खूॅ की नदियॉ है/कल ही जिसमे खाक मिट्टी कहके हमने थूका था/ घृणा की आज उसमे पक गयी खेती/फसल काटने को अगली सदियॉ है।[92]

इस कविता मे कारण एव परिणाम एव भविष्य तीनो के ही ऊपर टिप्पणी है। इसी तरह प्रख्यात शायर कैफी आजमी ने पूरे माहौल पर टिप्पणी की—

लूट ली जुल्मत ने रू ए हिन्द की ताबन्दगी
रात के कॉधे पे सिर रखकर सितारे सो गये,
वह भयानक ऑधियॉ वह अब तरी, वह खलफशर,
कारवॉ बे राह हो निकला मुसाफिर खो गये।[93]

यहॉ निष्कषर्त कहा जा सकता है कि जो साम्प्रदायिक राजनीति की शुरुआत की गयी थी उसकी आखिरी परिणति काफी विकृत रही। जहॉ बहुत से लोगो को आर्थिक एव जनहानि का सदमा झेलना पडा वही दो राष्ट्रो के निर्माण की नीव मे जो साम्प्रदायिक विद्वेष का पत्थर लगाया गया उसने उस समय के परिवेश को तो प्रभावित किया ही आगे के लिये भी माहौल को खौफनाक बना गया।
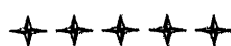
सन्दर्भ

1 यह सख्या अनुमानित है, क्योकि उस माहौल मे एकदम सही आकडो का एकत्रीकरण सभव नही था। लेकिन कतिपय आकडो के लिये जफर इमाम द्वारा सम्पादित मुस्लिम इन इडिया, नई दिल्ली, 1975 मे उनके द्वारा लिखित 'सम आस्पेक्ट्स आफ द सोशल स्ट्रक्चर आफ द मुस्लिम कम्युनिटी इन इडिया' पृ 76, को देखा जा सकता है।

2 वही, पृ 76

3 जनगणना (भारत) 1951, पृ 62.

4 इमाम जफर, वही, पुस्तक, पृ 80

5 ब्रास पाल आर, लैग्वेज, रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इडिया, कैम्ब्रिज, 1974, पृ 142—43

6 वही, पृ 150—53

7 इमाम जफर, वही पुस्तक, पृ 81

8 नेशनल हेराल्ड, 21 जनवरी 1948

9 असलम मोहम्मद, एलीट वर्सेस अर्टेजन लीडरशिप मुस्लिम्स एण्ड पालिटिक्स इन उत्तर प्रदेश 1947—92, डी फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध (अप्रकाशित) ला टोब्रे युनिवर्सिटी, बुन्डूरा, विक्टोरिया, आस्ट्रेलिया, 1993, पृ 33

10 फिलिप सी एच एण्ड वेनराइट मेरी डोरेन (सपा), पार्टीशन आफ इडिया पालिटिक्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स 1935—47, लन्दन 1970, मे राजा आफ महमूदाबाद, सम मेमोरीज मे उद्धृत, पृ 34

11 असलम मोहम्मद, एलीट वर्सेस मे उद्घृत, पृ 34

12 वही, पृ 35—36

13 रिजवी सैयद मो अकील, इलाहाबाद की सस्कृति और शायरी, इलाहाबाद सग्रहालय, 1996, पृ 60

14 नेशनल हेराल्ड, 8 जनवरी 1948

15 नेशनल हेराल्ड, 3 जनवरी 1948.

16 नेशनल हेराल्ड, 20 जनवरी 1948.

17 ए बच आफ ओल्ड लेटर्स मोसले टु जवाहर लाल, पृ 315, बी पी चट्टोपाध्याय, क्या देश का विभाजन अनिवार्य ही था ? सर्व सेवा सघ प्रकाशन, वाराणसी, 1997 पृ 174 पर उद्धृत।

18 नेशनल हेराल्ड, 9 फरवरी 1948

19 वही

20 नेशनल हेराल्ड, 15 फरवरी 1948

21 हसन मुशीरुल, एडजेस्टमेट एण्ड एकमोडेशन इडियन मुस्लिम्स आफ्टर पार्टीशन, सोशल साइसिस्ट भाग 18, अगस्त–सितम्बर अक 8–9 1990, पृ 52

22 गोपाल एस जवाहर लाल नेहरू ए बायोग्राफी, खण्ड 2 1947–1956, दिल्ली, 1989, पृ 92

23 ब्रास पाल आर, वही पुस्तक, पृ 152

24 वही, पृ 177

25 वही पृ 235 36

26 नेशनल हेराल्ड, 8 जनवरी 1948

27 नेशनल हेराल्ड, 4 जनवरी 1948

28 नेशनल हेराल्ड, 1 अगस्त 1949

29 नेशनल हेराल्ड, 23 अप्रैल 1948

30 नेशनल हेराल्ड, 29 अप्रैल 1948

31 नेशनल हेराल्ड, 17 नवम्बर 1948

32 गुप्ता एन एल (सपा), नेहरू आन कम्यूनलिज्म, नई दिल्ली, 1965, पृ 209.

33 हसन मुशीरुल, वही पुस्तक, पृ 54

34 इमाम जफर, वही पुस्तक, पृ 94

35 वही, पृ 95

36 असलम मोहम्मद, वही पुस्तक, पृ 80.

37 वही

38 वही, पृ 26

39 वही पृ 27

40 वही, पृ 28

41 पार्थसारथी जी, (सपा) नेहरू लेटर्स टू चीफ मिनिस्टर 1947–64 खण्ड–2, दिल्ली, 1987 पृ 379

42 गोपाल एस वही पुस्तक, उद्धृत पृ 92.

43 नेशनल हेराल्ड, 11 सितम्बर 1949

44 नेशनल हेराल्ड, 1 जनवरी 1948

45 नेशनल हेराल्ड, 15 अप्रैल 1948.

46 नेशनल हेराल्ड, 14 जून 1948.

47 वही

48 नेशनल हेराल्ड, 2 जनवरी 1948

49 हस, जनवरी 1948 के सम्पादकीय मे उद्धृत पृ 318

50 हस जनवरी 1948, सम्पादकीय,सपा अमृतराय, पृ 318.

51 वही, पृ 318

52 वही, उद्धृत, पृ 321

53 वही उद्धृत, पृ 322

54 शर्मा राम विलास, जनतन्त्र और हिन्दी, हस, जनवरी 1948, पृ 334

55 वही, पृ 336.

56 जनतन्त्र और हिन्दी, हस 1948 मे उद्धृत पृ 336

57 जनतन्त्र और हिन्दी, हस पृ 336.

58 वही पृ 337

59 राय अमृत सपादकीय हस, अगस्त 1947, पृ 827

60 वही

61 रिजवी, सैयद मो अकील, वही पुस्तक, पृ 68.

62 वही पृ 69

63 सम्पादकीय, हस जनवरी 1948, पृ 322

64 उद्धृत, सम्पादकीय हस जनवरी 1948,पृ 321

65 शर्मा राम विलास, जनतन्त्र और हिन्दी, पृ 336–38.

66 राय अमृत, हस जनवरी 1948, पृ 322

67 रिजवी अकील, वही पुस्तक पृ 59.

68 वही, पृ 61–62

69 मुजफ्फर शाहजहॉ पूरी, रिजवी अकील की इलाहाबाद की मे उद्धृत पृ 62

70 आजमी कैफी, कशमकश, हस दिसम्बर 1947 पृ 204—05

71 पॉच दिन पहले, हस, दिसम्बर 1847, पृ 206—09

72 मॉ और माटी नही छोडेगे ! हस, नवम्बर 1947 पृ 99—104

73 पेशावर एक्सप्रेस, हस नवम्बर 1847 पृ 129

74 वही

75 वही, पृ 130.

76 रिजवी अकील, वही पुस्तक पृ 62

77 वही, पृ 62.

78 हस, नवम्बर 1947, पृ 131

79 राय अमृत, व्यथा का सरगम, हस, मार्च 1948, पृ 364—65.

80 वही पृ 365

81 पेशावर सक्सप्रेस, हस, नवम्बर 1947, पृ 129—31

82 रिजवी अकील, वही पुस्तक, पृ 62

83 राय अमृत, व्यथा का सरगम, हस, मार्च 1948, पृ 364

84 राय अमृत, गोडसे के नाम खुली चिट्ठी, मार्च 1948, पृ 434

85 हस, मार्च 1948, पृ 396.

86 हस मार्च, 1948 पृ 398

87 हस, नवम्बर 1947, पृ 103—04

88 हस, मार्च 1948 पृ 342

89 रिजवी अकील, वही पुस्तक, पृ 83

90 लोधियानवी साहिर, अकील रिजवी की पुस्तक मे उद्धृत, पृ 71

91 वही, पृ 65

92 हस, दिसम्बर 1947, पृ 163—64.

93 हस, जुलाई 1948, पृ 665 पर उद्धृत

अध्याय—6

उपसंहार

राष्ट्रवाद एव सम्प्रदायवाद जैसी परस्पर विरोधी अवधारणाओ ने लगभग समानान्तर रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन मे दस्तक दी और दोनो का परिणाम भी एक साथ आया स्वतन्त्रता एव विभाजन के रूप मे। स्पष्टत साम्प्रदायिकता एक आधुनिक किन्तु प्रतिक्रियावादी पश्चगामी अवधारणा है। सामान्यत' साम्प्रदायिकता वह स्थिति है, जहॉ विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के सदस्यो के बीच पारस्परिक भय एव अविश्वास की उपस्थिति होती है। यह स्थिति पूरे परिवेश के लिये नकारात्मक प्रभाव वाली होती है। इसके मूल मे तथाकथित धर्म एव धार्मिक मनोवृत्ति की भूमिका होती है। साम्प्रदायिकता का विकास धर्म के दो पक्षो आन्तरिक अथवा नैतिक तथा वाह्य या कर्मकाण्ड एव रीति—रिवाज मे दूसरे पक्ष को प्रधान मान लेने के कारण हुआ। इन्ही दोनो किनारो के बीच साम्प्रदायिकता के अन्य अवयव जुडते गये तथा साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का विकास होता गया।

साम्प्रदायिकता अनेक कारको से उद्‌भूत परिस्थितियो का परिणाम थी। इसके मूल मे यह भाव निहित था कि समुदाय विशेष के आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक हित एक दूसरे के विरोधी है। ऐसी स्थिति मे विरोधी हितो एव प्रवृत्ति के लोगो का एक साथ न तो रहना ही सभव है और न हितो की पूर्ति ही सभव है। इस प्रवृत्ति ने राजनीतिक मुद्दो को धार्मिक चश्मे से देखने की शुरुआत की। जिसमे सामाजिक, आर्थिक विकास की उपेक्षा की गयी लेकिन बार—बार यही दोहराया गया कि पूरी लडाई इन्ही मुद्दो पर आधारित है। इससे स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिक विचारधारा समाज को एक विशेष नजरिये से देखने एव गतिशील करने की विधा है।

सम्पूर्ण साम्प्रदायिक परिदृश्य को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि इसे विकसित करने मे कुछ अन्य कारक भी सहायक थे। जैसे सामान्य जनता को धर्म के सच्चे स्वरूप का अज्ञान, विवेक की जगह भावना का प्रयोग एव धार्मिक कर्मकाण्डो एव परम्पराओ को ही धर्म मान लेने की प्रवृत्ति। ये कुछ ऐसे तत्व थे जिनको धर्म एव सम्प्रदाय के तथाकथित ठेकेदारो ने बहुप्रचारित एव प्रसारित किया और यह प्रचार इस तरह का था कि साम्प्रदायिक हितो की तुलना मे राष्ट्रीय हित बौने पडते गये। मानवीय हितो

की जगह व्यक्तिगत हित प्रभावी हो गये। इसे बढाने एव विकसित करने मे आर्थिक अभाव, शैक्षिक पिछडापन, बेरोजगारी आदि ने भी अपनी—अपनी भूमिका का निर्वहन किया।

औपनिवेशिक शासन की भूमिका इसे बढाने की अवश्य रही है लेकिन केवल इसे ही आरोपित करके उत्तरदायित्वो से मुक्त नही हुआ जा सकता है। औपनिवेशिक शासन द्वारा भारतीय इतिहास को हिन्दू काल, मुस्लिम काल जैसी शासकीय विचारधारा मे बॉटने का प्रयास तभी सभव हुआ जबकि दोनो सम्प्रदायो के लोगो ने ऐसा करने का अवसर दिया। ऐसी स्थिति मे औपनिवेशिक शासन की भूमिका को इसके मूल कारक के रूप मे नही बल्कि इसका उपयोग करने वाली मनोवृत्ति के रूप मे देखना चाहिए, क्योकि यहॉ सयुक्त सस्कृति की लम्बी परम्परा विकसित थी, लेकिन जब ब्रिटिश शासन ने इसे अपने हितो के अनुरूप प्रयुक्त करना शुरू किया तो स्थितियॉ इतनी उलझती गयी कि तनाव की परिणति हिसात्मक मनोवृत्ति के रूप मे होने लगी।

साम्प्रदायिक हिसा को अमूर्त विचारधारा के मूर्त स्वरूप के रूप मे देखा जाना चाहिए। महत्वपूर्ण यह है कि यह (हिसा), साम्प्रदायिक विचारधारा/मनोवृत्ति के विकास एव विस्तार मे सहायक के रूप मे अपना अस्तित्व रखती है। साम्प्रदायिक दगे धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियो को भी साम्प्रदायिक आधार पर आत्मरक्षा के लिये विवश करते हैं और वे अपने जीवन एव भौतिक ससाधनो की सुरक्षा के लिये साम्प्रदायिक तत्वो पर निर्भर हो जाते है। व्यक्ति सगठन या समूह मे अपने को सुरक्षित महसूस करने लगता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि साम्प्रदायिक हिसा मे प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति अधिक होती है क्योकि इसमे व्यक्ति/समूह विशेष को जिम्मेदार न मानकर पूरे सम्प्रदाय की जिम्मेदारी निश्चित कर दी जाती है। ऐसी स्थिति मे एक ऐसा दुष्चक्र कायम हो जाता है, जिसमे छोटी—बडी किसी भी घटना पर सम्प्रदाय को उद्वेलित/उत्तेजित किया जा सकता है। उल्लेखनीय यह है कि इसमे ऐसे लोग ज्यादा प्रभावित होते हैं, जिनका इस सकीर्ण विचारधारा के पोषण—पल्लवन मे कोई हाथ नही होता है, लेकिन प्रभावित होने के बाद ऐसे व्यक्तियो के अन्दर भी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति घर कर जाती है। ऐसी स्थिति मे दगे ही लोगो की अवधारणा विचारधारा एव इच्छा को निर्धारित करने एव परिवर्तित करने मे प्रभावकारी भूमिका निभाने लगते हैं।

ऐसी स्थिति मे भावनात्मक सवेग बडी तीव्र गति से योजना/उद्देश्यपूर्ण तरीको से बढाये जाते है। जिससे लोगो के अन्दर बढता सामीप्य ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करता है फलस्वरूप तनाव एव विद्वेष की प्रवृत्ति बढती जाती है। सवेगात्मक लहर पैदा करने के लिए तथ्यो को तोड–मरोडकर इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि मिथ्या सन्दर्भो मे भी ये सही प्रतीत होने लगते है। ऐसी स्थिति मे अपने उद्देश्यो के अनुरूप लोगो की मानसिकता को परिवर्तित करने मे स्वार्थी तत्व सफल हो जाते हैं। इसे भारत मे विकसित साम्प्रदायिकता के स्वरूप द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

प्रारम्भ मे भारत मे साम्प्रदायिकता की अवधारणा औपनिवेशिक शासन से कतिपय सुविधाओ की प्राप्ति तक सीमित थी लेकिन साम्प्रदायिक चेतना के क्रमश विस्तार ने इसके रुख को कठोर बना दिया। इसके पीछे मुस्लिम नेतृत्व की यह भावना काम कर रही थी कि औपनिवेशिक शासन से मिलकर ही अपने सामुदायिक हितो की सुरक्षा की जा सकती है। इसे सैयद अहमद द्वारा मुस्लिम हितो की सुरक्षा एव सरक्षा के लिए औपनिवेशिक शासन को दिये गये सहयोग के रूप मे देखा जा सकता है। लेकिन 1880 एव 1890 के दशक मे साम्प्रदायिकता विस्तृत आकार लेने लगती है क्योकि इसी समय हिन्दी–उर्दू विवाद एव गोरक्षा आन्दोलन काफी तीव्रता के साथ विकसित हुये। ऐसी स्थिति मे दोनो समुदायो के बीच वैमनस्य काफी तीव्रता से बढा और पहली बार व्यापक तौर पर सामूहिक हिसात्मक गतिविधियॉ प्रस्फुटित हुई।

इसी दौर मे जब काग्रेस की स्थापना हुई तो उसमे हिन्दू प्रभुत्व एव बाद मे उग्रवादी नेताओ के कारण मुस्लिम मानसिकता मे असुरक्षा की भावना घर करने लगी और यह भावना सागठनिक स्वरूप लेती हुई मुस्लिम लीग की स्थापना के रूप मे साकार हुई। ब्रिटिश सरकार को यह स्वर्णिम अवसर मिला कि काग्रेस के रूप मे बढते राष्ट्रवाद को प्रति सतुलित करने के लिये मुस्लिम लीग को सरक्षण दे, जिसकी पृष्ठभूमि 'अलीगढ स्कूल' ने ही तैयार कर दी थी। 1909 के सुधारो मे पृथक निर्वाचन की व्यवस्था से स्पष्ट होता है कि मुस्लिम हितो के सरक्षण के प्रति वह सचेत थी। यह और बात है कि इसके तुरन्त बाद ही दोनो के बीच बढती दूरी के सकेत भी मिलते हैं क्योकि 1911 मे बगाल विभाजन का रद्द किया जाना तथा अलीगढ कालेज को विश्वविद्यालय की मान्यता की अस्वीकृति इसके प्रमाण हैं।

इसके बाद काग्रेस एव मुस्लिम लीग के बीच हुआ लखनऊ समझौता साम्प्रदायिक उभार को रोकने मे कुछ समय तक सफल अवश्य रहा किन्तु लीग की साम्प्रदायिक मॉगो की स्वीकृति काग्रेस के अखिल भारतीय धर्मनिरपेक्ष चरित्र पर प्रश्नचिह्न भी है और सीमा भी इस रूप मे कि 1918 के बाद से ही लीग पर उलेमाओ का प्रभाव बढता जा रहा था। साम्प्रदायिक भावना इसलिये भी बढती जा रही थी कि हिन्दू महासभा (1915) के रूप मे हिन्दू सम्प्रदायवादियो को भी एक मच प्राप्त हो गया था।

खिलाफत आन्दोलन के अतिशय धार्मिक प्रकृति के बावजूद काग्रेस द्वारा उसका समर्थन साम्प्रदायिकता के इतिहास मे एक ऐसा मोड है, जिससे काग्रेस द्वारा समस्त भारतीयो की ओर से बोलने का अपना अधिकार सीमित कर लिया जाता है और खिलाफत आन्दोलन की असफलता का आरोप भी उसे झेलना पडता है। यहॉ से साम्प्रदायिक गतिविधियो का उभार तेजी से होता है, साथ ही राष्ट्रीय मुद्दो पर भी मुस्लिम लीग का समर्थन मिलना लगभग बन्द हो जाता है। जैसा कि साइमन कमीशन तथा नेहरू रिपोर्ट पर उसके रुख से स्पष्ट है।

जनसख्या के आकिक पक्ष की उपेक्षा करते हुये भी मुस्लिम लीग द्वारा अधिक प्रतिनिधित्व की मॉग उसके साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को ही पुष्ट करती है। साथ ही काग्रेस की द्विविधाग्रस्त स्थिति के प्रति हिन्दू महासभा जैसे— हिन्दू सगठन का प्रभाव दबाव के रूप मे कार्यरत था। इसके पीछे यह तथ्य निहित है कि मुस्लिम लीग और काग्रेस दोनो की ही सदस्यता का कोई निश्चित मानदण्ड नही था। ऐसी स्थिति मे धार्मिक एव साम्प्रदायिक सगठनो के सदस्य होते हुए भी लोग इन राजनीतिक दलो के लिये कार्य करते थे। इसलिये साम्प्रदायिकता पर कोई प्रभावी नियत्रण सम्भव नही हो सका।

इस स्थिति मे औपनिवेशिक शासन को यह अवसर मिलता गया कि वह अपनी सुविधानुसार अपनी नीतियो को सचालित करे। गोलमेज परिषद के परिणाम, सविनय अवज्ञा आन्दोलन की निराशाजनक परिणति एव 1935 के सुधार अधिनियमो मे उसकी प्रतिबद्धता अपने हितो की पूर्ति की दिखायी देती है। 1937 के चुनावो के बाद बने काग्रेस मत्रिमण्डलों के पास प्रभावी शक्ति न होने के कारण सुचारु रूप से कार्य न कर पाने को मुस्लिम लीग द्वार दुष्प्रचारित किया जाना साम्प्रदायिक दृष्टि से ही हो रहा था क्योकि मुस्लिम लीग बार—बार हिन्दी, वन्देमातरम् एव राष्ट्रीय झण्डे के प्रश्न पर काग्रेस के दृष्टिकोण को हिन्दू प्रभुत्व के रूप मे प्रचारित कर रही थी। क्रिप्स

प्रस्ताव एव वेवेल योजना पर किसी सहमति के न बन पाने के पीछे साम्प्रदायिक मन्तव्य ही निहित था क्योकि दो राष्ट्र सिद्धान्त अब स्पष्ट आकार ले चुका था। जिसकी अगली कडी के रूप मे कैबिनेट प्रस्तावो पर अस्वीकृति एव 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' के परिणामस्वरूप बडे पैमाने पर भडके दगे साम्प्रदायिक राजनीति को न केवल अन्तिम बिन्दु तक ले जाते है बल्कि भविष्य के लिये सकेत भी छोड जाते हैं।

इस पूरी राजनीतिक प्रक्रिया मे केवल धार्मिक दृष्टि को प्रभावी मानना तथ्यात्मक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण ही नही बल्कि निष्कर्ष का अति सरलीकरण होगा। यह सत्य है कि धार्मिक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण ने मामले को उलझाया जरूर था, किन्तु इसके पीछे अविकसित अर्थव्यवस्था एव अल्पविकास का महत्वपूर्ण हाथ था। मुसलमानो की यह सोच थी कि सरकारी नौकरियो एव व्यवसायो मे यदि उनका हिस्सा बढा दिया जाय तो उनकी स्थिति मजबूत होगी तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक सोच के हिन्दुओ एव हिन्दू सगठनो का मानना था कि यदि यह हिस्सा बढ जाता है तो उनके हित प्रभावित होगे। ऐसी स्थिति मे स्वार्थी तत्वो को अवसर मिलता गया तथा साम्प्रदायिक समस्या जटिलतर होती गयी।

पूर्वी—उत्तर प्रदेश मे हिन्दुओ एव मुसलमानो की सामाजिक—आर्थिक सरचना ने समस्या को और अधिक उलझाया। सरकारी नौकरियो मे मुसलमानो का अधिकाश प्रतिनिधित्व निचले स्तर की नौकरियो तक सीमित था तथा अधिकाश मुसलमान व्यवसायिक दृष्टि से बुनकरी के पेशे मे सलग्न थे। यह आधिक्य इसलिये था कि प्राय- इनमे धर्मान्तरित मुसलमानो की सख्या अधिक थी।अल्पविकास का कारण शिक्षा का अभाव भी था। हिन्दुओ की आर्थिक स्थिति तुलनात्मक रूप से ही अच्छी थी क्योकि उनके पास भूससाधन के रूप मे एक प्रमुख आर्थिक आधार था, किन्तु इसका सकेन्द्रण ब्राह्मण, राजपूत एव भूमिहार जैसी उच्च जातियो तक था। यद्यपि कि सैयद, शेख एव पठान जैसे उच्च मुस्लिम वर्ग के पास भी कुछ जमीदारियॉ थीं, किन्तु ब्रिटिश शासन के विस्तार से जमीदारियॉ सिकुडती गयी। ऐसी स्थिति मे आर्थिक नियत्रण एक प्रमुख कारण बना। निम्न जातियो की ओर से अपने स्तरोन्नयन के प्रयास की प्रवृत्ति दिखायी देती है। भिन्न—भिन्न मुद्दो के आधार पर हिन्दू एव मुस्लिम दोनो मे अलग—अलग जातियॉ अपने हितो के प्रति सगठित हो जाती थी। लेकिन साम्प्रदायिक तनाव की स्थिति मे ये लोग अपने—अपने वर्ग की जमीदार जातियो के पक्ष मे संगठित हो जाते थे तथा व्यापक रूप से घटित हिसात्मक गतिविधियो मे इनकी प्रभावी भागीदारी होती थी।

इस क्षेत्र मे तनाव बढाने मे हिन्दी—उर्दू विवाद एव गोरक्षा आन्दोलन की भूमिका महत्वपूर्ण थी। उर्दू—हिन्दी विवाद ने लोगो की मानसिक स्थिति को साम्प्रदायिक दृष्टि से पुष्ट किया और आर्थिक ससाधन एव धार्मिक मान्यता के प्रतीक रूप गाय से जुडे गोरक्षा आन्दोलन से हिसात्मक घटनाये प्रस्फुटित हुईं। इन दोनो ही आन्दोलनो की पृष्ठभूमि मे हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन की प्रवृत्तियॉ कार्य कर रही थी। हिन्दी—उर्दू विवाद मे प्राय यह देखने मे आया कि हिन्दू उच्चवर्ग हिन्दी का और मुस्लिम अभिजात वर्ग उर्दू का पक्षधर था। हिन्दी उस समय तक उच्च वर्ग के कुछ साक्षर लोगो तक सीमित थी जबकि उर्दू सरकारी काम—काज की भाषा होने के कारण हिन्दू एव मुसलमान दोनो के लिये समान रूप से न केवल शिक्षा का साधन थी, बल्कि जीविका से भी जुडी हुई थी।

पुनरुद्धार आन्दोलन के द्वारा उर्दू को विदेशी भाषा के रूप मे प्रचारित किया जाने लगा तथा यह मॉग की जाने लगी कि हिन्दी को सरकारी कामकाज की भाषा बनाया जाय क्योकि यह बहुसख्यक हिन्दुओ की भाषा है। ऐसी स्थिति मे मुसलमानो की ओर से यह मॉग की जाने लगी कि उर्दू को हटाया न जाय क्योकि उसकी एक लम्बी परम्परा है। दोनो पक्षो के पीछे यह दृष्टिकोण कार्य कर रहा था कि जहॉ साक्षर हिन्दू, हिन्दी को इसलिये प्रशासनिक भाषा बनाना चाहते थे कि वे व्यवसायिक एव सास्कृतिक प्रभुता स्थापित कर सके वही मुसलमान यह चाहते थे कि उनका हित बाधित न हो। इस प्रकार इस विवाद से सास्कृतिक तौर पर हिन्दी हिन्दुओ की और उर्दू मुसलमानो की भाषा बनी। दोनो समुदायो द्वारा भाषा को साम्प्रदायिक पहचान देने के कारण हिन्दुओ एव मुसलमानो की सामाजिक, राजनीतिक गतिशीलता दो विपरीत ध्रुवो पर बढती गयी।

इसी प्रकार हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन के व्यापक होते क्षितिज ने गोरक्षा आन्दोलन के द्वारा गायो की सुरक्षा के नाम पर हिन्दुओ को उद्वेलित किया। बकरीद पर की जाने वाली गोकुशी को रोकने के पीछे धार्मिक दृष्टि ही काम कर रही थी। इस दौरान अनेक हिसक वारदाते हुईं। इससे लोगो मे स्पष्टत हिन्दू एव मुसलमान होने का विचार अधिक दृढ हुआ तथा लोगो का रुख आक्रामक हो गया। जहॉ उच्च जातीय लोगों ने इसे वैचारिक रूप से प्रचारित—प्रसारित किया, वही निम्नजातीय कट्टर लोगो ने अपनी क्रियात्मक सहभागिता सुनिश्चित की। इसमे प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति ने स्थिति को अधिक जटिल बनाया क्योकि पूर्व मे कुछ मुसलमानो द्वारा राजपूत जमीदारो को

विस्थापित कर दिया गया था जो अब वे उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे प्रभावी स्थिति बनाने के लिए प्रयत्नशील थे।

इस प्रकार इस आन्दोलन से हिन्दुओ मे यह धार्मिक सक्रियता पैदा हुई कि धर्म के नाम पर गायो की रक्षा की जाय तो दूसरी ओर मुसलमान भी अपनी धार्मिक परम्परा को कायम रखने के लिए दृढ थे। इसमे बहुसख्यक जुलाहो की कट्टर प्रवृत्ति कार्य कर रही थी। लेकिन एक तथ्य यह उभरता है कि उच्च जातीय हिन्दुओ एव निम्न जातियो के बीच कोई सागठनिक एकता कायम नही हो सकी। कमोवेश यही स्थिति मुसलमानो की भी थी। इससे स्पष्ट होता है कि सारी स्थितियो का सचालन उच्चवर्गो द्वारा अपने हितो को बनाये रखने के लिये हो रहा था, लेकिन यह स्पष्ट है कि सम्प्रदायगत विभेद को बढाने मे यह आन्दोलन सफल रहा।

इस स्थिति मे ब्रिटिश सत्ता द्वारा अलगाववादी सगठनो को बढावा दिया जाने लगा जिससे सामुदायिक वैमनस्य की भावना आम हो गयी तथा आपसी घृणा एव भय की भावना तीव्रता से फैली। खिलाफत की असफलता के बाद हिन्दू प्रतिक्रिया स्वरूप चले शुद्धि एव सगठन आन्दोलनो मे हिन्दू महासभा की भी भूमिका थी तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिले भी इससे प्रभावित हुये। काग्रेस के क्रियाकलापो से भी बहुत हद तक इस तरह की प्रवृत्तियो को विकसित होने मे मदद मिली, क्योकि इस तरह के आन्दोलन से बहुत पहले से ही इसके कुछ नेता जुडे हुये थे। रामलीला समारोह, धार्मिक जुलूस तथा मस्जिदो के सामने सगीत जैसे मुद्दो पर दोनो सम्प्रदायो की तमाम असहमतियो ने साम्प्रदायिक जटिलता मे वृद्धि की।

सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर मे साहित्यकारो द्वारा प्राय उन सभी मुद्दो पर लेखनी चलायी गयी जो इस आन्दोलन मे अन्तर्निहित थी। ऐसी स्थिति मे साहित्यकारो को न केवल साम्प्रदायिकता की जटिलता की समझ थी अपितु उसके कारण एव परिणामो का भी उन्हे पूरा ज्ञान था। यही कारण है कि जहॉ उन्होने अपने साहित्य मे तत्कालीन साम्प्रदायिक स्थितियो का प्रतीकात्मक चित्रण किया है वही साम्प्रदायिकता के भयावह परिणामो से देश को सुरक्षित बचा लेने की कोशिश मे उस पर न केवल जमकर प्रहार किया है, अपितु समन्वय स्थापित करने की स्थितियो के सकेत भी दिये हैं। इस पूरे परिवेश मे कम से कम भाषा का प्रश्न ऐसा था जो सीधे इनसे जुडा था स्वाभाविक था वे इससे उद्वेलित भी हुये।

साहित्यकारो ने अपने पात्रो के माध्यम से समकालीन समाज मे व्याप्त साम्प्रदायिक सक्रियता को चित्रित किया है। भारतेन्दु अपने लेखन कर्म मे राजभक्ति एव देशभक्ति दोनो का साथ–साथ निर्वाह तो करते ही है, इसके साथ ही उन तमाम स्थितियो का चित्रण करते है जिनसे भारत मे साम्प्रदायिक स्थितियो का निर्माण हुआ। इसके लिए वे भारतीय इतिहास के गौरवशाली अतीत एव मध्यकालीन इतिहास की घटनाओ को भी उल्लिखित करते है। इसमे तमाम प्रतीको एव मिथको का उपयोग करते हैं, जिनसे साम्प्रदायिकता के विकास की स्थितियॉ स्पष्ट होती हैं। इसीलिए वे वर्तमान की तनावपूर्ण स्थितियो पर क्षोभ प्रकट करते है किन्तु अपने लेखन मे इस बात का ध्यान रखा है कि किसी की भावनाये आहत न हो। साथ ही समस्त पूर्वाग्रहो को छोडकर सौहार्द स्थापित करने की कोशिश भी उनके लेखन मे दिखायी देती है क्योकि राजभक्त होने के बावजूद साम्राज्यवादी खतरो की उन्हे अच्छी पहचान थी।

हरिऔध का साहित्य जातीय आग्रहो से भरा पडा है। उनके साहित्य मे यद्यपि कि अतीत एव हिन्दू धर्म के प्रति झुकाव स्पष्टत परिलक्षित होता है किन्तु उन शब्दो एव प्रतीको का स्पष्ट प्रयोग नही हुआ है जिनसे प्रत्यक्षत साम्प्रदायिक भावना फैले। लेकिन जातीयता एव हिन्दुत्व के प्रति आग्रह उनकी रचनाओ मे आद्योपान्त मिलता है। इसीलिये वे गोरक्षा आन्दोलन का समर्थन करते है तथा गोधन के विध्वस पर दुख भी प्रकट करते है। हरिऔध के आखिरी दिनो की कृति कल्पलता मे उनका स्वर काफी मुखर हो उठता है और साम्प्रदायिक दृष्टि से सवेदनशील मुद्दो देवमन्दिरो के ढहाने, मूर्तियो के तोडे जाने तथा धार्मिक उत्सवो मे बाधा पहुँचाने की स्थिति का चित्रण करते है। गौर करने की बात यह है कि यह लेखन उस समय हो रहा था, जबकि साम्प्रदायिक दृष्टि से स्थितियॉ काफी जटिल हो गयी थी। इस प्रकार हरिऔध के साहित्य मे स्पष्ट शब्दो प्रतीको का प्रयोग न होने के बावजूद जातीय आग्रह भरा पडा है।

प्रेमचन्द का साहित्य सच्चे अर्थों मे जन साहित्य था। यही कारण है कि उनका साम्प्रदायिक वातावरण का चित्रण भी काफी जीवन्त है। उन्होने हिन्दुओ एव मुसलमानो के मध्य प्रखर रूप से व्याप्त वैमनस्य की भावना को काफी बेबाकी से चित्रित किया है। यह इसलिये भी स्वाभाविक था कि प्रेमचन्द के लेखन काल तक साम्प्रदायिकता का विषवृक्ष काफी पुष्पित–पल्लवित हो गया था। प्रेमचन्द को दोनो सम्प्रदायो की मनोवृत्तियो की अच्छी समझ थी। इसीलिये वे उन तमाम प्रश्नो से सीधा साक्षात्कार करते हैं जो

दोनो ही समुदायो के बीच विभेद बढाने के लिए जिम्मेदार रहे है और वे समान रूप से हिन्दू एव मुसलमान दोनो पर प्रहार करते है। चाहे कुर्बानी का प्रश्न हो, धर्मान्तरण का मुद्दा हो, धार्मिक उत्सवो को लेकर तकरार हो और इन सबसे उद्भूत दगे हो प्रेमचन्द ने न केवल कलम चलायी है अपितु समन्वय स्थापित करने का सुझाव भी प्रस्तुत किया है। यह और बात है कि प्रेमचन्द का हिन्दू–मुस्लिम एकता का स्वप्न पूरा नही हुआ लेकिन यह स्पष्ट है कि उन्होने इस महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न के हल की तलाश धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एव मनोवैज्ञानिक सन्दर्भो मे की।

अपने समकालीन लेखको की तुलना मे जयशकर प्रसाद धर्म के प्रश्न पर काफी उलझते है। शासको की साम्प्रदायिक भेदनीति की आलोचना भी करते हैं लेकिन धार्मिक दृष्टि से सवेदनशील मध्यकालीन इतिहास पर लेखनी कम ही चलाते है, किन्तु जहॉ वे इसे अपने वर्णन का विषय बनाते है वहॉ उन स्थितियो की चर्चा अवश्य करते हैं, जिनसे साम्प्रदायिक सौहार्द टूटता है। साथ ही इसके लिये जिम्मेदार कारको की चर्चा भी करते है। ऐसे मुद्दो पर लेखन कर्म से बचने की कोशिश के बावजूद जहॉ उन्होने इस पर लेखनी चलायी है वहॉ धार्मिक विभेदो के चित्रण से बच नही सके है। लेकिन उन्होने भी सौहार्द स्थापना एव हल निकालने की कोशिश की है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के साहित्य मे साम्प्रदायिक जटिलता का चित्रण बडी साफगोई के साथ हुआ है उन्होने न केवल भारतीय अतीत को गौरवान्वित किया है, अपितु तुलनात्मक रूप से मध्यकाल की स्थितियो के लिए उनका स्वर काफी कठोर है। उनके लेखन कर्म मे मध्यकाल की तमाम घटनाओ एव प्रवृत्तियो पर काफी कठोरता से प्रहार किया गया है। इसीलिए पहली नजर मे उनका लेखन कर्म हिन्दुत्व एव पुनरुत्थानवाद का दस्तावेज लगता है लेकिन ऐसा नही है क्योकि सन्दर्भित रचनाओ के पीछे ठोस कारण एव साक्ष्य है। ऐसी स्थिति मे जब उनकी रचनाओ को सूक्ष्मता से विश्लेषित किया जाता है तो वे साम्प्रदायिक सौहार्द की वकालत करते नजर आते है।

इसी प्रकार श्याम नारायण पाण्डेय का रचना कर्म मध्यकालीन घटनाओ पर आधारित होने के कारण उन तमाम बिन्दुओ को प्रकाशित करता है जिसे साम्प्रदायिक दृष्टि से सकारात्मक नही कहा जा सकता है। उसके पीछे सम्भवत परिस्थितियॉ ही उत्तरदायी है क्योकि यह रचनाकार्य स्वतत्रता से कुछ ही समय पहले का है और उस समय तक साम्प्रदायिक समस्या काफी उलझ गयी थी। साथ ही पाण्डेय जी आजमगढ के उस क्षेत्र से सम्बन्धित थे जो साम्प्रदायिक दगो के लिए कुख्यात था।

स्पष्टत यह देखने मे आता है कि इन साहित्यकारो ने साम्प्रदायिक स्थिति का जो वर्णन किया है उसके पीछे कोई पूर्वाग्रह कार्य नही कर रहा था न ही किसी रचनाकार का उद्देश्य ऐसा होता है, क्योकि किसी भी रचना की रचनाधर्मिता का महत्वपूर्ण पक्ष उसकी सकारात्मक दृष्टि होती है ऐसी स्थिति मे कोई भी रचनाकार नकारात्मक दृष्टिकोण के साथ लेखन नही करता है। यहॉ समकालीन साहित्य मे साम्प्रदायिकता का जो चित्रण हुआ है, वह स्थितियो की सहज अभिव्यक्ति थी।

साम्प्रदायिक समस्या का दुष्परिणाम विभाजन के रूप मे सामने आया और इसमे आर्थिक हानि के साथ भारी सख्या मे जनहानि भी हुई। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि एक ऐसी परिस्थिति का निर्माण हो गया था, जिसे सुलझाने के जितने ही प्रयास किये जाते है समस्या उतनी ही उलझती जाती है। तत्कालीन परिवेश मे लगभग पूरी–पूरी जनसख्या ही धार्मिक आधार पर बॅट गयी थी। यहॉ तक कि चन्द नेताओ को छोडकर सबके स्वर बदल गये थे। ऐसी स्थिति मे विभाजन के कुछ वर्षो तक तात्कालिक परिणाम के रूप मे प्रतिक्रियावादी स्थिति देखने को मिलती है।

इस स्थिति का वर्णन उस समय के साहित्य मे भी मिलता है। जिनसे तत्कालीन हिसात्मक स्थिति, वहशीपन एव क्रूरता का ज्ञान तो होता ही है इसके साथ ही यह तथ्य भी उभरते है कि सबसे बडी बात यह कि विभाजन के लिए दोनो ही समुदायो का अधिसख्य हिस्सा पक्षधर नही था। जैसा कि उस समय की रचनाओ एव लोगो की स्मृतियो से पुष्ट होता है। यही कारण है कि साम्प्रदायिक मारकाट के बीच ही सौहार्द स्थापना की तमाम कोशिशे भी जारी थी जिससे कि स्थितियो पर नियत्रण पाया जा सका।

इस पूरी प्रक्रिया के परिणाम पर ध्यान दे तो स्पष्ट होता है कि स्थितियो मे महज इतना ही बदलाव हुआ था कि एक पराधीन देश की जगह दो स्वतत्र देशो का अस्तित्व कायम हो गया। जहॉ तक मूल समस्या साम्प्रदायिकता का प्रश्न है वह न केवल विभाजन के पश्चात आज भी कायम है, बल्कि तमाम नये सन्दर्भ ग्रहण कर चुकी है। इस प्रकार पूरे परिदृश्य से यह बात स्पष्ट है कि यह सामाजिक–राजनीतिक कुचक्रो का एक ऐसा दुष्परिणाम है जो आज भी पूरे परिवेश को प्रभावित कर रहा है।

सन्दर्भिका

प्राथमिक स्रोत — (अप्रकाशित)

गोरखपुर कमिश्नर्स रिकार्ड रूम विभाग (XVI) फाइल स 37 / 1898—1900

आजमगढ कलेक्ट्रेट रिकार्ड रूम विभाग (XIII) फाइल स 146 / 1894.

डुपरनेक्स रिपोर्ट (डुपरनेक्स, डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट आजमगढ द्वारा गोरखपुर के कमिश्नर को भेजी रिपोर्ट) एल / पी एण्ड जे / 6 / 357

होम डिपार्टमेट पब्लिक डिपाजिट फाइल स 285 / मई 1918, फाइल स 16 / नवम्बर 1919, जुलाई 1920, फाइल स 94, फाइल स 95, फाइल स 96

होम पोलिटिकल, फाइल स 360—63, फाइल स 109, फाइल स 251—9, फाइल स 1 / 1928, फाइल स 23 / 66 / 1932

फोर्टनाइटली रिपोर्ट, यूपी अक्टूबर 1919, यूपी जून 1920, प्रथम पक्ष, यू पी जनवरी 1928 द्वितीय पक्ष, यू पी नवम्बर 1928, प्रथम पक्ष

ए आई सी सी फाइल ई—1, 1936—37

यूपी जनरल एडमिनेस्ट्रेशन डिपार्टमेट, फाइल स 140 / 1917, 680 / 1925, 246 / 1926, 241 / 1930

पुलिस एब्स्ट्रैक्ट ऑफ इटेलीजेन्स रिपोर्ट — 1 मई 1926, फरवरी 1930, सितम्बर 1930, जनवरी 1931, फरवरी 1931

प्रकाशित —

यूनाइटेड प्राविन्सेज नेटिव न्यूजपेपर्स रिपोर्ट

आजमगढ गजेटियर 1911

गाजीपुर गजेटियर 1909

बलिया गजेटियर 1907

जनगणना रिपोर्ट (भारत) 1951.

रिपोर्ट ऑफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, रूट्स ऑफ कम्यूनल पॉलिटिक्स के रूप मे प्रकाशित, सपा बेरियर एन जेराल्ड, नयी दिल्ली 1976

पत्र एवं पत्रिकायें —

आज	बनारस
लीडर	इलाहाबाद
प्रताप	कानपुर
अभ्युदय	इलाहाबाद
नेशनल हेराल्ड	लखनऊ
हस	इलाहाबाद
सरस्वती	इलाहाबाद
सम्मेलन पत्रिका	इलाहाबाद
माधुरी	इलाहाबाद
विशाल भारत	कलकत्ता
आजकल	दिल्ली
चॉद	इलाहाबाद

पुस्तकें —

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *काव्योपवन*, बॉकीपरु, सगविलास प्रेस, 1909

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *प्रियप्रवास*, वाराणसी, हिन्दी साहित्य कुटीर, 1941 (पुनर्मुद्रित)

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *पद्य प्रमोद*, बॉकीपुर, प्रकाशक ग्रन्थ माला, 1917

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *पद्य प्रसून*, दरभगा, हिन्दी पुस्तक भडार, 1925

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *चुभते चौपदे*, पटना, सगविलास प्रेस, 1924

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *कल्पलता*, गगा ग्रन्थागार, 1937.

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *पवित्र पर्व*, इलाहाबाद, प्रका राम नारायण लाल, 1941

निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, *परिमल*, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1917 (पुनरावृत्ति)

नवल नन्द किशोर, *निराला रचनावली* भाग—1 4—6, दिल्ली राजकमल प्रकाशन, 1983

प्रेमचन्द *मानसरोवर* भाग—5, इलाहाबाद, हस प्रकाशन, 1985

प्रेमचन्द *कर्मभूमि,* इलाहाबाद, हस प्रकाशन, 1981

प्रेमचन्द, *गुप्तधन* भाग—1, 2, इलाहाबाद, हस प्रकाशन 1962

प्रेमचन्द, *सेवासदन,* इलाहाबाद, हस प्रकाशन, 1982

प्रसाद, जयशकर, *काव्य कला एव अन्य निबन्ध,* गोरखपुर, गीता प्रेस, 1939.

प्रसाद, जयशकर, *कामायनी,* नई दिल्ली, प्रकाशन सस्थान, 1993

प्रसाद, रत्नशकर, सपादक, प्रसाद वाङ्मय खण्ड—1 2, 3, 4 इलाहाबाद, लोकभारती, 1985

पाण्डेय, श्याम नारायण, हल्दीघाटी, इलाहाबाद, इडियन प्रेस, सस्करण, 1998

पाण्डेय, श्याम नारायण, जौहर, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन 1997 (तृतीय सस्करण)

राय, अमृत (सपा), *प्रेमचन्द विविध प्रसग* भाग—1, 2, 3 इलाहाबाद, हस प्रकाशन, 1962.

शर्मा, हेमन्त (सम्पा) , भारतेन्दु समग्र, वाराणसी, हिन्दी प्रचारक सस्थान, 1989 (तृतीय सस्करण)

द्वितीयक स्रोत : (प्रकाशित)

अगवानी, एम एस , *इस्लामिक फण्डामेटलिज्म इन इडिया,* चडीगढ, ट्रवेन्टी फर्स्ट सेन्चुरी, 1986

अहमद, अजीज, *इस्लामिक माडर्निज्म इन इडिया एण्ड पाकिस्तान,* 1857—1964, लन्दन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1967.

अहमद, इम्तियाज (सपा), *कास्ट एण्ड सोशल स्ट्रैटीफिकेशन एमग मुस्लिम इन इडिया,* नई दिल्ली साउथ एशिया बुक्स, 1978

अन्सारी, इकबाल, ए (सपा), *द मुस्लिम सिचुएशन एन इण्डिया,* नई दिल्ली, स्टरलिग, 1989.

अन्सारी गौस, *मुस्लिम कास्ट इन उत्तर प्रदेश,* लखनऊ, द एथनोग्राफिक एण्ड फॉक कल्चर सोसाइटी यू पी, 1960

अग्रवाल, रीतेश मोहन, *हिन्दू–मुस्लिम्स रायट्स दीयर काजेज एण्ड क्योर* लखनऊ, इण्टरनेशनल सोशल लिट्रेचर पब्लिशिग कम्पनी, 1943

बेली, सी ए, *द लोकल रूट्स ऑफ पालिटिक्स इलाहाबाद,* 1880–1920, लन्दन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1975

बेनी, प्रसाद, *हिन्दू–मुस्लिम क्वेश्चन्स,* इलाहाबाद, 1941

ब्रास, पाल आर, *लैग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया,* लन्दन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1974.

ब्रेनन, लान्स, *द इल्यूशन ऑफ सेक्यूरिटी द बैकग्राउण्ड टु मुस्लिम, सेप्रेटिज्म इन द यूनाइटेड प्राविन्सेज,* मुशीरुल हसन (सपा), *इडियाज पार्टीशन, प्रोसेस, स्ट्रेटजी एण्ड मोबिलाइजेशन* ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1994

चन्द्र, बिपन, *आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय,* दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996

चक्रवर्ती, विद्युत (सपा), *सेक्यूलरिज्म एण्ड इण्डियन पालिटी,* नई दिल्ली, सेगमेन्ट बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, 1990

चन्द्र, बिपन, आधुनिक भारत मे विचारधारा और राजनीति, नई दिल्ली, 1997

चॉद, एस एम, *नेशलन लीडर्स आन कम्यूनलिज्म,* जयपुर, 1985

कूपलैंड, आर, *कॉस्टीट्यूशनल प्राब्लम इन इण्डिया,* लदन, 1944

चतुर्वेदी, राम स्वरूप, *'प्रसाद, निराला, अज्ञेय'* इलाहाबाद, लोकभारती, 1997.

चेलिसेव, ये पे, *सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला,* दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1982

चन्दर, सुनील, *काग्रेस राज कान्फ्लिक्ट एण्ड राइज ऑफ द मुस्लिम लीग इन द मिनिस्ट्री पीरियड 1937–39 मार्डन एशियन स्टडीज,* 21 2, 1987

दास, वीना (सपा), *कम्युनिटीज, रायट्स एण्ड सर्वाइवर्स इन साउथ एशिया,* दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1990

दलवी, हामिद, *मुस्लिम पालिटिक्स इन इडिया,* बाम्बे 1968

दीक्षित, प्रभा, *कम्यूनलिज्म ए स्ट्रगल फार पावर,* दिल्ली, ओरियन्ट लागमैन, 1974

देसाई, ए आर , भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, 1976.

दास, सुरजन, *कम्यूनल चैलेन्ज इन बगाल पालिटिक्स,* 1940—42, नई दिल्ली, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लाइब्रेरी, 1993.

धुर्ये, जी एस , *सोशल टेन्शन इन इडिया,* बम्बई, पापुलर प्रकाशन, 1968.

दत्त, आर पी , *इडिया टुडे,* बम्बई, 1943

देवी शिवरानी, *प्रेमचन्द घर मे,* दिल्ली, आत्माराम एण्ड सन्स 1983

इजीनियर, असगर अली, *इण्डियन मुस्लिम्स ए स्टडी ऑफ द माइनारिटी प्राब्लम्स् इन इडिया,* दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1985

इजीनियर, असगर अली, *कम्यूनलिज्म एण्ड कम्यूनल वायलेन्स इन इडिया पोलिटिकल एप्रोच टु हिन्दू—मुस्लिम कन्फ्लिक्ट,* नई दिल्ली अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1989.

इजीनियर, असगर अली, *कम्यूनलिज्म इट्स फैक्ट्स एण्ड रायट्स, मेनस्ट्रीम* (XXIV), जून, 1986.

इजीनियर, असगर अली, *व्हाई एण्ड हाउ आफ कम्यूनल रायट्स, मेनस्ट्रीम* (XIX), अक्टूबर, 1980.

इजीनियर, असगर अली (सपा) *कम्यूनल रायट्स इन पोस्ट इडिपेन्डेस इण्डिया,* हैदराबाद, सगम बुक्स 1984

इजीनियर असगर अली एण्ड शाकिर मोइन (सपा), *कम्यूनलिज्म इन इण्डिया,* दिल्ली अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1985

एकराम, एस एस , *मार्डन मुस्लिम इडिया एण्ड द बर्थ ऑफ पाकिस्तान 1858—1951,* लाहौर 1965 (द्वितीय सस्करण)

फ्रिटॉग सान्ड्रिया, *कलेक्टिव एक्शन एण्ड कम्यूनिटी पब्लिक एरेन्स एण्ड द इमर्जेन्स ऑफ कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस 1990

घोष, एस के *कम्यूनल रायट्स इन इडिया* नई दिल्ली, आशीष पब्लिशिग हाउस, 1987

गोपाल, आर, *ए पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मुस्लिम्स* (1858—1947) न्यू क्रियेशन, 1988

गोपाल, एस , *जवाहर लाल नेहरू ए बॉयग्राफी,* दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1983

गोपाल, एस , *ब्रिटिश पालिसी इन इण्डिया (1858—1905),* नई दिल्ली, 1975.

गोपाल, एस (सपा), *एनाटमी ऑफ ए कन्फ्रन्टेशन द बाबरी मस्जिद—राम जन्मभूमि इश्यू,* नई दिल्ली, पेगुइन इडिया लिमिटेड, 1991

गार्डनर, एल एण्ड इलियट, ए , *द हैण्डबुक ऑफ सोशल साइकोलाजी,* खण्ड—IV, नई दिल्ली, एमेरिन्ड पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, 1969

गोलवरकर, एम एस , *वी आर आवर नेशनहुड डिफाइड,* नागपुर, 1947.

गोयल, डी आर , *राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ,* दिल्ली, 1979

गुप्ता, एन एल (सपा), *नेहरू आन कम्यनूलिज्म,* नई दिल्ली, 1965

गॉधी, एम के , *कलेक्टेड वर्क्स,* (विभिन्न खण्ड) अहमदाबाद

हक, मुशीर अल, *इस्लाम इन सेकुलर इडिया,* शिमला, इडियन इन्स्टटीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी 1972

हार्डी, पीटर, *मुस्लिम ऑफ ब्रिटिश इडिया, लन्दन,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1972

हसन, मुशीरुल, *नेशललिज्म एण्ड कम्यूनल पालिटिक्स इन इण्डिया,* 1916—1928, नई दिल्ली, मनोहर, 1979

हसन मुशीरुल, *एडजेस्टमेट एण्ड एकमोडेशन इडियन मुस्लिम्स आफ्टर पार्टीशन, सोशल साइसिस्ट,* भाग—18, अगस्त—सितम्बर, अक 8—9, 1990

हसन, मुशीरुल (सपा) *इण्डियाज पार्टीशन, प्रोसेस स्ट्रेट्जी एण्ड मोबिलाइजेशन,* दिल्ली आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1994

हुसेन, एस आबिद, *द डेस्टिनी ऑफ इण्डियन मुस्लिम,* बम्बई, एशिया पब्लिशिग हाउस 1965

इमाम, जफर (सपा) *मुस्लिम्स इन इडिया,* नई दिल्ली, ओरियन्ट लागमैन्स, 1975

ईश्वरी प्रसाद एव सूबेदार, एस के, *हिन्दू—मुस्लिम प्राब्लम्स,* इलाहाबाद, गुहा पब्लिकेशन्स, 1974

जैन, एम एस, *अलीगढ मूवमेन्ट्स वर्जिन एण्ड डेवलपमेट,* 1858—1906, आगरा, 1965

खलीकुज्जमॉ, चौधरी, *पाथवे टु पाकिस्तान,* लाहौर लागमैन्स, 1961

कुप्पूस्वामी, बी, *एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकोलाजी,* एशिया पब्लिशिग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, 1980

कबीर हुमायूँ, *माइनारिटीज इन ए डेमोक्रेसी,* कलकत्ता, 1985

कृष्ण, के बी, *द प्राब्लम ऑफ माइनारिटीज,* लदन, 1939

कीर्तिलता, *भारतीय स्वातत्र्य आन्दोलन और हिन्दी साहित्य,* इलाहाबाद, हिन्दुस्तानी एकेडमी, 1967

लॉडग्रीन हेनरी क्ले, *एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकोलाजी,* नई दिल्ली विली इस्टर्न लिमिटेड

लैरी कालिन्स एण्ड लेपियर डॉमनीक, *फ्रीडम एट मिडनाइट,* नई दिल्ली, तरग प्रकाशन, 1989

मदन, टी एन (सपा), *मुस्लिम कम्युनिटीज इन साउथ एशिया,* दिल्ली विकास, 1976

मासलॉस, जिम (सपा), *स्ट्रगलिग एण्ड रूलिग द इण्डियन नेशनल काग्रेस (1885—1985),* लन्दन, ओरियन्टल युनिवर्सिटी प्रेस, 1987

मोहन्ती एम, *ए डेमोक्रेटिक राइट्स पर्सपेक्टिव,* लोकायन बुलेटिन, 1987

मुकर्जी, आर के *फडामेटल युनिटी ऑफ इडिया,* लन्दन, 1914

मैन्शर्ट सी, *हिन्दू—मुस्लिम प्राब्लम इन इडिया,* लदन, 1936.

मैकलेन, जे आर, *इण्डियन नेशनलिज्म एण्ड अर्ली काग्रेस* प्रिस्टिन 1977

मदान, इन्द्रनाथ (सपा), *प्रसाद की प्रतिभा,* नेशनल पब्लिशिग हाउस, 1971

नगेन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* मयूर पेपर बैक्स, 1966

नेहरू, जवाहर लाल, *सेलेक्टेड वर्क्स* (विभिन्न खण्ड) सपा गोपाल, एस दिल्ली

नेहरू, जवाहर लाल, *द डिस्कवरी ऑफ इडिया*, लन्दन, 1951 (तृतीय सस्करण)

पार्थसारथी, जी (सपा), *जवाहर लाल नेहरू लेटर्स टु चीफ मिनिस्टर, 1947—64*, दिल्ली, 1987

पाण्डेय, बी एन , *लीडरशिप इन साउथ एशिया*, नई दिल्ली, विकास, 1977

पाण्डेय, ज्ञानेन्द, *एसेडेन्सी ऑफ, द काग्रेस इन उत्तर प्रदेश 1926—34 ए स्टडी इन इम्परफेक्ट मोबलाइजेशन*, दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस , 1978

पाण्डेय, ज्ञानेन्द, *द कन्स्ट्रक्शन ऑफ कम्यूनलिज्म इन कालोनियल नार्थ इण्डिया*, दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1990

पाण्डेय, ज्ञानेन्द्र, *रैलिग राउण्ड द काऊ सेक्टेरियन स्ट्राइब्स इन द भोजपुरी रीजन*, रजीत गुहा के सब आल्टर्न स्टडीज 2 मे दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1983

पाण्डेय, राजेन्द्र, *सोशियोलाजी ऑफ अण्डर डेवलपमेट थीसिस एण्ड क्रिटीक*, दिल्ली, मित्तल पब्लिकेशन

पीरजादा, एस एस (सपा), *फाउण्डेशन ऑफ पाकिस्तान आल इण्डिया मुस्लिम लीग डाक्यूमेट्स*, खण्ड—2, करॉची, 1970

प्यारेलाल, *महात्मा गॉधी, लास्ट फेज*, द्वितीय भाग, अहमदाबाद, 1958

प्रेमशकर, *प्रसाद का काव्य*, दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1998

पाण्डेय गगा प्रसाद, *महाप्राण निराला*, प्रयाग साहित्यकार ससद स 2006

फिलिप, सी एच एण्ड वेनराइट मेरी डोरेन (सपा), *पार्टीशन ऑफ इडिया पालिटिक्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स 1935—47*, लन्दन, एलन एण्ड अनविन 1970

राय आलोक, *हिन्दी नेशनलिज्म, दिल्ली, ओरियन्ट लागमैन लिमिटेड,* नई दिल्ली, 2001.

राबिन्सन, फ्रासिस, *सेप्रेटिज्म एमॅग इण्डियन मुस्लिम्स द पालिटिक्स ऑफ द यूनाइटेड प्राक्सिज, मुस्लिम्स,* 1860—1923 लन्दन, कैम्ब्रिज युनिविर्सिटी प्रेस, 1974

राजगोपाल, पी आर , *कम्यूनल वायलेन्स इन इण्डिया,* उप्पल पब्लिशिग हाउस, 1987

रिजवी, सैयद मो अकील, *इलाहाबाद की सस्कृति एव शायरी* इलाहाबाद सग्रहालय, 1996

रब्बानी, तबन गुलाम *न्यू डाइमेन्सन्स ऑफ कम्यूनलिज्म, मेनस्ट्रीम,* अगस्त, 1981

सरकार, सुमित, *आधुनिक भारत,* 1885—1947, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, हिन्दी, सस्करण, 1992

शाकिर, मोइन, *खिलाफत टु पार्टीशन ए सर्वे आफ मेजर ट्रेन्डस एमॅग इण्डियन मुस्लिम्स ड्यूरिंग 1919—1947,* नई दिल्ली, कलमकार प्रकाशन, 1972

शाकिर, मोइन, *पालिटिक्स ऑफ मॉइनारिटीज सम पर्सपेक्टिव्स,* दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1980

शाकिर, मोइन, *इस्लाम इन इण्डियन पालिटिक्स,* दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1983

शर्मा कमलेश, *रोल आफ मुस्लिम्स इन इडियन पालिटिक्स,* 1857—1947 नई दिल्ली, इण्टर इण्डिया, 1985

सिह, वी वी , *कम्यूनल वायलेन्स,* रावल पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1993

स्मिथ, डब्ल्यू, सी , *मार्डन इस्लाम इन इण्डिया . ए सोशल एनालिसिस,* नई दिल्ली, 1979

सावरकर, वी डी , *हिन्दुत्व* पुणे, 1949.

सावरकर वी डी , *हिन्दू राष्ट्रदर्शन ए कलेक्शन ऑफ प्रेसीडेन्सियल स्पीचेज,* बम्बई, 1949

सिह अनीता इन्दर, द *वर्जिन्स ऑफ द पार्टीशन ऑफ इण्डिया (1936—47),* आक्सफोर्ड, 1995

शर्मा, हेमन्त, *भारतेन्दु समग्र,* वाराणसी, हिन्दी प्रचारक सस्थान, 1989 (तृतीय सस्करण)

शभूनाथ (सपा), *भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, आनेवाला कल प्रकाशन,* 1986

शर्मा रामविलास *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,* दिल्ली, राजकमल प्रकाशन 1956

सीतारमैया, पी , *काग्रेस का इतिहास, अनु हरिभाऊ उपाध्याय,* दिल्ली, सस्ता साहित्य मडल, 1936

सिह, दूधनाथ, *निराला आत्महन्ता आस्था,* इलाहाबाद, लोकभारती, 1972

शर्मा, राम विलास, *निराला की साहित्य साधना,* भाग दो, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन

व्यास, विनोद शकर, *प्रसाद और उनके समकालीन,* वाराणसी, हिन्दी साहित्य कुटीर स 2017

युगेश्वर डॉ , *सबके प्रेमचन्द,* वाराणसी, भारतीय साहित्य आस्थान, काशी विद्यापीठ, 1983

जकारिया रफीक, *राइज ऑफ मुस्लिम्स इन इण्डियन पालिटिक्स एन एनालिसिस ऑफ डेवलपमेन्ट्स फ्राम 1885 टु 1906,* बम्बई, सोमैया पब्लिकेशन्स, 1970

अप्रकाशित –

असलम, मोहम्मद, *एलीट वर्सेस अर्टेजन लीडरशिप मुस्लिम्स एण्ड पालिटिक्स इन उत्तर प्रदेश 1947–92, डी फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध,* ला टोब्रे युनिवर्सिटी, वुन्डूरा विक्टोरिया, आस्ट्रेलिया, 1993

कात्यायनी, *निराला की राष्ट्रीय चेतना,* सेमिनार 16–19 सितम्बर 1997 इडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी शिमला

नवल, नन्द किशोर, *स्वाधीनता आन्दोलन और निराला की कविता, सेमिनार* 16–19 सितम्बर, 1997 इडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी शिमला

श्रीवास्तव, शिखा, *अयोध्या सिह उपाध्याय हरिऔध की भाषा का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन,* (अप्रकाशित) डी फिल, उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, इ वि वि 1982

वर्मा, अर्चना, *निराला का अद्वैत और स्वाधीनता सघर्ष,* सेमिनार 16–19 सितम्बर 1997, इडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी, शिमला